

पृष्ठभूमि

कविवर व्यास की तरह यदि जैनदर्शन का सार दो शब्दों¹ में कहना हो तो कहा जा सकता है कि -

‘रत्नत्रय ही मुक्ति का मार्ग है’

रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकरूपता ही मोक्षमार्ग है।²

मोक्षमार्ग अर्थात् दुःखों से मुक्ति का उपाय, विकारों से मुक्ति का उपाय।

प्रत्येक संसारी जीव दुःखी है और सुखी होना चाहता है, निराकुलतारूप सुख मोक्ष में है पर उसे सच्चा मोक्षमार्ग ज्ञात न होने से वह उसे प्राप्त नहीं कर पाता; अतः मोक्षमार्ग बतलाने का प्रयत्न ही समस्त जैनागम में किया गया है।

जीव व पुद्गल (कर्म और शरीर) अनादिकाल से एकमेक हो रहे हैं। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म के उदय में जीव के मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम (भावकर्म) होते हैं और मोह-राग-द्वेष होने पर आत्मा का द्रव्यकर्मों से संबंध होता है, उसके फलस्वरूप देहादि की स्थिति बनती रहती है और आत्मा मोहादिभावों से दुःखी हुआ करता है। जीव की इसी दुःखावस्था का नाम ही ‘संसार’ है और दुःखों से मुक्त पूर्ण सुखी हो जाने का नाम है ‘मोक्ष’। दुःखों से छूटने के उपाय को कहते हैं ‘मोक्षमार्ग’।

जैनग्रन्थों के उपदेशों का केन्द्र बिन्दु ‘आत्मा’ है; अतः आत्मतत्त्व के प्रतिपादन के लिए परद्रव्यों का जितना और जो कथन आवश्यक है, उतना

1. अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।

परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्॥

2. तत्त्वार्थसूत्र : आचार्य उमास्वामी; अध्याय - 1, सूत्र - 1

और वही कथन जैनशास्त्रों में मुख्यरूप से वर्णित है। उनमें जीव का प्रतिपादन तो जीव के समझने के लिए है ही, किन्तु अजीव द्रव्यों का प्रतिपादन भी जीव (आत्मा) को समझने के लिए ही है; क्योंकि आत्मा का हित तो आत्मा के जानने में है। अतः आत्मा को सुख-शांति प्राप्त कराने वाला जैन तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित धर्म मात्र 'धर्म' नहीं, 'आत्मधर्म' है; यही आत्मधर्म मोक्ष का मार्ग है, दुःखों से छूटने का उपाय है।

जैनमतानुसार वस्तु का स्वभाव तो सदा विद्यमान ही है, उसे क्या छोड़ना और क्या पाना? उसे तो जानना है, समझना है। अज्ञानी ने आज तक उसे समझा नहीं, उसकी श्रद्धा नहीं की, उसका अनुभव नहीं किया। अतः आत्मस्वभाव का साक्षात्कार करना ही एकमात्र कर्तव्य है। स्वभाव के साक्षात्कार से जो स्वभाव पर्याय प्रकट होती है; वही प्राप्तव्य धर्म है, उसे ही पाना है। आत्मसन्मुख होकर आत्मा को मानना, जानना और उसी में रम जाना धर्म है; जिसे क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहते हैं; रत्नत्रय धर्म कहते हैं। इन तीनों की एकता ही मुक्ति का मार्ग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - तीनों पृथक्-पृथक् मुक्ति के मार्ग नहीं हैं; अपितु तीनों की एकतारूप रत्नत्रय ही मुक्ति का मार्ग है; अतः जैनमतानुसार मुक्तिमार्ग तीन नहीं, एक है।

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र आत्मा के तीन गुण हैं। इनका स्वभाव परिणमन क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। स्वभाव के अनुकूल परिणमन होने से वे धर्म हैं, सुख के कारण हैं और सुखरूप हैं।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र क्रमशः उन्हीं गुणों के विभाव परिणमन हैं; अतः वे अधर्म हैं, दुःखरूप हैं और दुःख के कारण हैं।

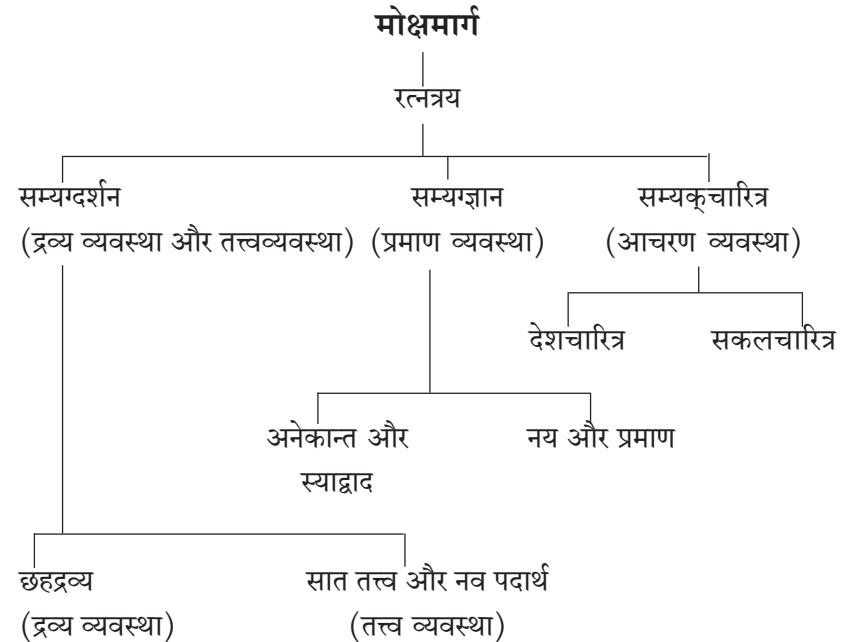
आत्मा अथवा सप्त तत्त्व संबंधी विपरीत मान्यता (श्रद्धान) को मिथ्यादर्शन, तत्त्वसंबंधी विपरीत ज्ञान अथवा मिथ्यादर्शन सहित ज्ञान को मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान से युक्त कषाय एवं पंचेन्द्रिय विषय रूप प्रवृत्ति को मिथ्याचारित्र कहते हैं। इसके विपरीत आत्मा अथवा सप्त तत्त्वों के स्वरूप का विपरीताभिनिवेश रहित सही श्रद्धान

करना सम्यग्दर्शन, विपरीताभिनिवेश रहित आत्मस्वरूप का ज्ञान सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित आत्मस्वरूप में लीनता सम्यक्चारित्र है।

रत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण है, मोक्षरूप ही है। यह कर्मबंध का कारण कभी भी नहीं हो सकता; क्योंकि बंध के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का रत्नत्रय में अभाव है; अतः 'रत्नत्रय मुक्ति का ही कारण है' तथा मुक्ति की प्राप्ति रत्नत्रय से ही होती है, अन्य किसी उपाय से नहीं; अतः 'रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है।'

समस्त जिनागम मोक्ष और मोक्षमार्ग के प्रतिपादन में ही समर्पित है; क्योंकि संसारी प्राणियों को मुक्ति का उपाय बताना ही जिनागम की रचना का मूल उद्देश्य रहा है।

जिनागम में प्रतिपादित विषयवस्तु एवं अनेक दार्शनिक विचारों को हम निम्नानुसार वर्गीकृत कर सकते हैं -



प्रथम अध्याय जैनधर्म की प्राचीनता

जैनदर्शन के अनुसार जैनधर्म अनादि-अनंत है। इसके अनुसार वर्तमान चौबीसी के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने तो जैनधर्म की स्थापना की ही नहीं, प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने भी जैनधर्म की स्थापना नहीं की। उन्होंने तो धर्म का उद्घाटन किया है, प्रचार किया है। उन्होंने धर्म में नहीं, धर्म में खोई आस्था को स्थापित किया है। उन्होंने जो कुछ कहा है; वह सदा से है, सनातन है।

जैनधर्म के अनुसार भगवान धर्म की स्थापना नहीं करते; क्योंकि धर्म तो वस्तु के स्वभाव को कहते हैं तथा वस्तु का स्वभाव बनाया नहीं जा सकता। जो बनाया जा सके वह स्वभाव कैसा? वह तो जाना जाता है। जैनदर्शन के अनुसार तीर्थंकर भगवान भी वस्तुस्वरूप को जानते हैं, बताते हैं, बनाते नहीं; क्योंकि तीर्थंकर भगवान जगत् के तटस्थ ज्ञाता-दृष्टा होते हैं, कर्ता-धर्ता नहीं।

तीर्थंकर भगवान महावीर ने भी कोई नया धर्म नहीं चलाया, न ही कुछ संशोधन किया; अपितु पूर्व परम्परा से चले आ रहे मुक्तिमार्ग पर वे स्वयं चले एवं उन्होंने समस्त जीवों को भी मुक्ति का उपाय बताया; अतः बौद्ध धर्म के संस्थापक बुद्ध के समान महावीर को जैनधर्म का संस्थापक मानना बहुत बड़ी भूल है। भगवान महावीर ने धर्म की स्थापना नहीं की, उसका प्रचार व प्रसार किया है।

इस संदर्भ में 'जैनिज्म इन बिहार' नामक पुस्तक के पृष्ठ एक पर अभिव्यक्त पी.सी. राय चौधरी का निम्न वक्तव्य दृष्टव्य है -

“कुछ आधुनिक लेखकों ने यह लिखकर साधारण भूल की है कि ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध असंतोष की भावनाएँ फैल जाने के कारण जैनधर्म की उत्पत्ति हुई। इस गलत धारणा का सूत्रपात इसलिए हुआ कि उन्होंने वर्द्धमान

महावीर को जैनधर्म का प्रवर्तक मान लिया। यह तथ्य ठीक नहीं है। ---
---- जैनधर्म की उत्पत्ति एवं प्रसार पहिले से ही हो चुका था और महावीर ने इसका अत्यधिक प्रचार किया था और यही कारण है कि इसप्रकार की गलत धारणा कई ख्याति प्राप्त विद्वानों से हो गई।”¹

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि जैनमतानुयायी अपने मत के संस्थापक या प्रवर्तक के रूप में किसी एक व्यक्ति विशेष को तो स्वीकार करते ही नहीं है; अपितु तीर्थंकरों को भी वे धर्मप्रवर्तक नहीं, धर्मप्रचारक के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

भरतक्षेत्र में इस युग के आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे तथा तीर्थंकर भगवान महावीर चौबीसवें एवं अंतिम तीर्थंकर थे।

सर्वक्षेत्रों व सर्वकाल की अपेक्षा तीर्थंकर भगवान भी अनन्त होते हैं। तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से भी पहिले अनन्त तीर्थंकर भगवान हो गए हैं एवं विदेहादि अन्य क्षेत्रों में होते रहते हैं। इस सबको समझने के लिए जैनधर्म में प्रतिपादित कालचक्र को समझना होगा।

कालचक्र

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक कालचक्र में अलग-अलग क्षेत्र में एक निश्चित संख्या में क्रमशः तीर्थंकर होते रहते हैं और उनके द्वारा धर्म का प्रचार-प्रसार होता है। जैन ग्रन्थों में कालचक्र का वर्णन निम्नप्रकार मिलता है।

“समय अपने को दुहराता है, यह एक प्राकृतिक नियम व वैज्ञानिक व्यवस्था है। जिसप्रकार दिन-रात, पक्ष-मास, ऋतुएँ और वर्ष अपने को दुहराते हैं, उसीप्रकार शताब्दियाँ, सहस्राब्दियाँ आदि तथा संख्यातीत काल भी किन्हीं प्राकृतिक नियमों के द्वारा अपने को दुहराते हैं।

कालचक्र के इस परिवर्तन में स्वाभाविक उतार-चढ़ाव आते हैं; जिन्हें जैन परिभाषा में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के नाम से जाना जाता है।

1. महावीर जयन्ती स्मारिका 1968, पृष्ठ - 128

जहाँ उत्सर्पिणी क्रमशः विकास की प्रक्रिया है, वहाँ अवसर्पिणी क्रमशः हास की प्रक्रिया है। उत्सर्पिणी में प्राणियों के बल, आयु और शरीरादि का प्रमाण क्रमशः बढ़ता जाता है और अवसर्पिणी में उसी क्रम से घटता जाता है। इसप्रकार यदि उत्सर्पिणी बढ़ने का नाम है तो अवसर्पिणी घटने का। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों में प्रत्येक का काल दस-दस कोड़ा-कोड़ी सागर है।

इसप्रकार कुल मिलाकर बीस कोड़ा-कोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। प्रत्येक कल्पकाल में तीर्थकरों की दो चौबीसी होती हैं।

अवसर्पिणी काल के छः भेद हैं - 1. सुखमा-सुखमा, 2. सुखमा, 3. सुखमा-दुखमा, 4. दुःखमा-सुखमा, 5. दुःखमा, 6. दुःखमा दुःखमा।

इसीप्रकार उत्सर्पिणी भी छह प्रकार का होता है - 6. दुःखमा-दुःखमा, 5. दुःखमा, 4. दुःखमा-सुखमा, 3. सुखमा-दुःखमा, 2. सुखमा, 1. सुखमा-सुखमा।

उक्त कालों में सुख-दुःख की स्थिति उनके नामानुसार ही होती है। यहाँ सुख शब्द लौकिक सुख (भोग) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तृतीय काल तक भोग की ही प्रधानता रहती है। यहाँ तक कि आध्यात्मिक उन्नति के तो अवसर ही प्राप्त नहीं होते।

तीर्थकरों की उत्पत्ति चतुर्थकाल में ही होती है और मुक्तिमार्ग भी चतुर्थकाल में ही चलता है। इस दृष्टि से चतुर्थकाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

तृतीय काल के अन्त में चौदह कुलकर होते हैं और चतुर्थ काल में त्रेसठ शलाका के महापुरुष। त्रेसठ शलाका के महापुरुष निम्नप्रकार हैं - 24 तीर्थकर, 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण, 9 बलभद्र।

वर्तमान अवसर्पिणी काल का पंचमकाल चल रहा है। इसमें न तो कुलकर ही होते हैं और न त्रेसठ शलाका महापुरुषों की उत्पत्ति ही होती है। किसी को मुक्ति की प्राप्ति भी नहीं होती। चतुर्थकाल में जो त्रेसठ शलाका के महापुरुष हुए हैं, विशेषकर उनके चरित्रों का वर्णन ही जैनपुराणों का कथ्य है।

इसप्रकार अनन्त कल्पकाल बीत चुके हैं और भविष्य में अनन्त होंगे। तदनुसार तीर्थकरों की अनन्त चौबीसियाँ इस भरतक्षेत्र में हो चुकी हैं और भविष्य में अनन्त और होंगी। ऐसी ही व्यवस्था ऐरावत क्षेत्र की है। विदेहक्षेत्र की व्यवस्था इससे कुछ भिन्न प्रकार की है। वहाँ सदा चतुर्थकाल जैसी स्थिति रहती है।¹

जैनमतानुसार महाविदेह क्षेत्र में सदैव तीर्थकरों की उपस्थिति रहती है; क्योंकि जिस समय वर्तमान तीर्थकर निर्वाण प्राप्त करते हैं, उसी समय उसी नाम से दूसरे तीर्थकर कैवल्य प्राप्त कर तीर्थकर पद प्राप्त कर लेते हैं। इसप्रकार तीर्थकरों का क्रम सदा चलता रहता है।

अढ़ाई द्वीप (मनुष्य लोक) में अधिकतम 170 और न्यूनतम 20 तीर्थकर सदैव विद्यमान रहते हैं। इस न्यूनतम और अधिकतम संख्या का अतिक्रमण नहीं होता। एक तीर्थकर का दूसरे तीर्थकर से कभी मिलाप नहीं होता।

जैन भूगोल के अनुसार मध्यलोक में विद्यमान असंख्यात द्वीप-समुद्रों में से ढाई-द्वीप में ही मानवों की उत्पत्ति होती है; अतः तीर्थकर भी ढाई-द्वीप में ही उत्पन्न होते हैं।

प्रथम, द्वितीय, तृतीय काल में क्रमशः उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था रहती है, उसमें भोगों की ही प्रधानता रहती है। सबको सभी प्रकार की भोगसामग्री कल्पवृक्षों के माध्यम से सहज उपलब्ध रहती है। जीवन लौकिक दृष्टि से आनन्दमय होने पर भी आध्यात्मिक दृष्टि से उनके विकास का मार्ग एक प्रकार से अवरुद्ध ही रहता है। चतुर्थकाल में कर्मभूमि का आरंभ होता है। भोगों की सहज उपलब्धि क्रमशः समाप्त होने लगती है और आजीविका प्रयत्नसाध्य एवं क्रमशः श्रमसाध्य होती जाती है, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति का द्वार खुल जाता है। तृतीय काल के अन्त में होने वाले चौदह कुलकर जनसाधारण को कर्मभूमि की व्यवस्था में

प्रशिक्षित करते हैं। इस अवसर्पिणी काल के चौदहवें कुलकर राजा नाभिराय थे। इन तक आते-आते तृतीय काल समाप्तप्रायः था और भोगभूमि क्रमशः कर्मभूमि के रूप में व्यवस्थित होने लगी थी।

चौदहवें कुलकर राजा नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म अयोध्या नगरी में हुआ था। राजा नाभिराय के बाद वे राजगद्दी पर बैठे। उन्होंने अपने राज्यकाल में अनेक जनोपयोगी कार्यों के साथ-साथ प्रजा को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ह्व इन षट्कर्मों से आजीविका करना सिखाया।¹ क्योंकि उस समय भोगभूमि समाप्त हो जाने से कल्पवृक्षों के अभाव के कारण आजीविका सहज नहीं रह गई थी। आजीविका श्रमसाध्य हो जाने से संघर्ष की स्थिति टालने के लिए व्यवस्था आवश्यक हो गई थी। कर्मभूमि के आरंभ होने में तत्संबंधी समस्त व्यवस्था आरंभ में राजा ऋषभदेव के द्वारा स्थापित हुई। यही कारण है कि उन्हें प्रजापति, ब्रह्मा, विधाता, आदिपुरुष आदि नामों से भी पुकारा गया है।

इसप्रकार कुशलतापूर्वक अनेक वर्षों तक राज्य करने के पश्चात् राजा ऋषभदेव दीक्षा धारण कर मुनिराज ऋषभदेव बन गए। मुनिराज ऋषभदेव एक हजार वर्ष तक बराबर मौन आत्म साधनारत अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते रहे। एक दिन आत्मलीनता की दशा में उन्हें केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) की प्राप्ति हुई और वे मुनिराज ऋषभदेव से भगवान ऋषभदेव बन गए। इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर होने से उन्हें आदिनाथ भी कहा जाता है।

इस अवसर्पिणी काल की दृष्टि से भरतक्षेत्र के तीर्थंकर भगवान आदिनाथ प्रथम व महावीर चौबीसवें व अन्तिम तीर्थंकर हैं।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैन मान्यतानुसार जन्म से कोई भगवान नहीं होता। भगवान जन्मते नहीं, बनते हैं। ऋषभदेव से वर्द्धमान पर्यंत

1. प्रणपतिर्या प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिसु कर्मसु प्रजा ॥ स्वयंभू स्तोत्र

सभी तीर्थंकर जन्म से तो हम-तुम जैसे ही थे; भगवान तो वे बाद में बने, जब उन्होंने अपने को जीता। मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है। भगवान तो उन्हें कहते हैं जो पूर्ण वीतरागी व सर्वज्ञ हों। सभी तीर्थंकर जन्म से न तो पूर्ण वीतरागी थे और न सर्वज्ञ ही। पूर्ण वीतरागता व सर्वज्ञता तो सभी ने बाद में तब प्राप्त की, जब वे राज्यादि परिग्रह एवं तत्संबंधी राग त्यागकर साधु बने एवं अन्तर्मग्न हो उन्होंने सम्पूर्ण राग-द्वेष और अल्पज्ञता का पूर्ण अभाव कर डाला।

अतः जैनों का कहना है कि सर्वज्ञता व पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति के पूर्व जहाँ भी तीर्थंकरों की पूर्व अवस्था के साथ 'भगवान' विशेषण का प्रयोग हो, उसे उपचरित कथन ही जानना चाहिए। 'भविष्य में भगवान बनेंगे' - इस आधार पर ही वैसा कहा जाता है। इस बात को समझने के लिए जैन-दर्शन की कथन पद्धति अनेकान्त और स्याद्वाद को समझना चाहिए। जिसका वर्णन आगे किया जाएगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनों के अनुसार भगवान आदिनाथ या महावीर किसी ने भी कोई नया धर्म नहीं चलाया, न ही वे इसके संस्थापक हैं। उन्होंने धर्म की स्थापना नहीं, उसका उद्घाटन किया है।

जैनमतानुसार प्रत्येक तीर्थंकर का धर्मोपदेश भी समान ही होता है। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ ने जो उपदेश दिया, वही आदिनाथ से लेकर पार्श्वनाथ से होकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर पर्यंत ज्यों-का-त्यों चला आ रहा है। तीर्थंकरों के उस भव के जीवनवृत्त में अंतर हो सकता है, होता ही है; किन्तु तीर्थंकरों के उपदेशों में रंचमात्र भी अंतर नहीं होता है; क्योंकि वीतरागता व सर्वज्ञता - ये दो लक्षण समस्त तीर्थंकर भगवन्तों के समान रूप से ही पाए जाते हैं; अतः समस्त तीर्थंकरों द्वारा मोक्ष एवं मोक्षमार्ग का स्वरूप समान ही बताया गया है। उन्होंने जो कुछ कहा है, वह सदा से है, सनातन है, अनादि है।

कालचक्र के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैनमान्यतानुसार तीर्थंकरों की परम्परा अनादि-अनन्त है। इस अवसर्पिणीकाल के प्रथम तीर्थंकर

ऋषभदेव के पूर्व भी अनन्त तीर्थकर हो चुके हैं और महावीर के बाद भी इसी भारत भूमि पर उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीर्थकर महापद्म होने वाले हैं व तीर्थकरों की यह परम्परा अनन्तकाल तक चलने वाली है।

इसप्रकार जैनमान्यतानुसार भगवान महावीर के पूर्व भी जैनदर्शन की एक पूर्ण विकसित परम्परा विद्यमान थी। तीर्थकर महावीर भरत क्षेत्र में अब तक हुए तीर्थकरों की अंतिम कड़ी हैं, प्रारंभिक नहीं।

जैनधर्म की उक्त मान्यता का समर्थन जैनेतर साहित्य एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर भी होता है।

जैनेतर साहित्य एवं पुरातात्विक साक्ष्य

जैनधर्म व तीर्थकरों की परम्परा की प्राचीनता को वैदिक संस्कृति के प्राचीनतम ग्रंथ वेदों व वैदिक पुराणों में प्राप्त कतिपय उल्लेखों ने सिद्ध कर दिया है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर ऋषभदेव को ज्ञान का आगार तथा क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक बताते हुए कहा गया है कि -

असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिभा, अस्य शुरुधः संतिपूर्वीः।

दिवो न पाता विद्वथस्थीभिः क्षत्रं राजाना प्रतिवोदधाथे ॥¹

जिसप्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है और पृथ्वी की प्यास बुझा देता है; उसीप्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक ऋषभ महान हैं, उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि परंपरा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और सिद्ध) आत्माएँ अपने ही आत्मगुणों से चमकती हैं। अतः वही राजा हैं, वे पूर्व ज्ञान के आगार हैं और आत्म पतन नहीं होने देते।

ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर ऋषभदेव को मन-वचन-काय से संयत कहा गया है ह

त्रिधावद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश²

1. ऋषभ सौरभ पृ. 14

2. ऋषभ सौरभ पृष्ठ ह 14

अर्थात् मन, वचन, काय से बद्ध (संयत) ऋषभदेव ने घोषणा की - महादेव मर्त्यों में निवास करता है।

ऋग्वेद में जो वातरसना मुनियों और श्रमणों की साधना का चित्रण मिलता है, उसका संबंध जैन मुनियों से ही है ह

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गाः वसते मला।

वातस्यानु घ्राजिं यंति यद्वासो अविक्षत ॥

उन्मदिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्।

शरीरादेस्माकं यूयं मर्तासो अभि पस्सथ ॥¹

अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरसना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई पड़ते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं अर्थात् वे रोक लेते हैं, तब वे अपने तप की महिमा से दीप्तिमान होकर देवता स्वरूप प्राप्त हो जाते हैं। सर्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर वे मौनेय की अनुभूति में कहते हैं “मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम वायु भाव में स्थित हो गए। मर्त्यो! तुम हमारा बाह्य शरीर मात्र देखते हो, हमारे अभ्यंतर शरीर को नहीं देख पाते।”

तैत्तिरीयाण्यक 7.1 में इन्हीं वातरशना मुनियों को ‘श्रमण’ और ‘ऊर्ध्वमंथी’ भी कहा है। साथ ही उसमें ऋषभदेव का भी उल्लेख है - ‘वातरशना हवा ऋषभः श्रमणा ऊर्ध्वमंथिनीं बभूतुः।

श्रीमद्भागवत में भी श्रमणों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो वातरशना ऊर्ध्वमंथी श्रमण मुनि हैं; वे शांत, निर्मल, संपूर्ण परिग्रह से सन्यस्त ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं। वातरशना मुनियों का संबंध दिगम्बर श्रमणों से ही है, इसलिए निघंटू की भूषण टीका में श्रमण शब्द की व्याख्या इस रूप में की है -

श्रमणा दिगम्बराः श्रमणा वातरसना।

भागवत 11/2 में उपर्युक्त व्याख्या का समर्थन इसीप्रकार करते हुए कहा गया है -

1. ऋग्वेद 10, 136, 2-3

श्रमणा वातरसना आत्मविद्या विशारदाः ।

श्रमण दिगम्बर मुनि का ही नामांतर है। आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण में वातरसना शब्द का अर्थ निर्ग्रथ, निरंबर, दिगंबर करते हुए कहा है –
दिग्वासां वातरसना निर्ग्रथेशो निरंबरः ।

इसीप्रकार ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर केशी, अर्हन्, यति और ब्राह्मणों का उल्लेख आया है। विद्वानों के अनुसार उनका संबंध भी जैनसंस्कृति से ही है। ऋग्वेद के गवेषणात्मक अध्ययन के आधार पर डॉ. सागरमल जैन ने ऋग्वेद में ‘अर्हत और ऋषभवाची ऋचाएँ’ नामक लेख में लिखा है –

“ऋग्वेद में न केवल सामान्य रूप से श्रमण परंपरा और विशेष रूप से जैन परंपरा से संबंधित अर्हत, अर्हत, ब्राह्मण, वातरसना मुनि, श्रमण आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है; अपितु अर्हत परंपरा के उपास्य वृषभ का भी उल्लेख शताधिक बार मिलता है। मुझे ऋग्वेद में वृषभवाची 112 ऋचाएँ प्राप्त हुई हैं। संभवतः कुछ और ऋचाएँ भी मिल सकती हैं।”

नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभ पुत्र भरत की चर्चा प्रायः सभी हिन्दू पुराणों में आती है। मार्कण्डेय पु. अ. 90, कर्म पु. अ. 41, आ. पु. अ. 10, वायु पुराण अ. 33, गरुण पुराण अ. 1, ब्रह्माण्ड पु. अ. 14, वाराह पु. अ. 74, लिंग पुराण अ. 47, विष्णु पु. र. अ. 1 और स्कन्ध पुराण वुभार खण्ड अ. 37 में ऋषभदेव का वर्णन आता है। इन सभी में ऋषभ को नाभि और मरुदेवी का पुत्र कहा है। ऋषभ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए, उनमें से बड़े पुत्र भरत को राज्य देकर ऋषभ ने प्रव्रज्या ग्रहण की। इसी भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। यथा –

**नाभि स्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः ।
ऋषभं पार्थिव श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशतोशुजः ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः ॥
हिमाह्नं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विंदुर्बुधाः ।**

उक्त श्लोक थोड़े से शब्दभेद के साथ प्रायः उक्त सभी पुराणों में पाये जाते हैं। श्रीमद्भागवत में तो ऋषभभावतार का पूरा वर्णन है, और उन्हीं के उपदेश से जैनधर्म की उत्पत्ति बतलाई है। यथा –

**बर्हिषि तस्मिन्ने विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नामेः
प्रियविकीर्षया तदवरोधावने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शायेतुकाभौ
वातरशनानां श्रमणानाम षोणामूर्ध्वमन्दिनां शुवक्लया ।¹**

उक्त कथन में वातरशन (नग्न) श्रमणों के धर्म से स्पष्ट ही जैनधर्म का अभिप्राय है; क्योंकि आगे ऋषभदेव के उपदेश से ही आर्हत धर्म (जैन धर्म) की उत्पत्ति बतलाई है।

भागवत पुराण में भी ऋषभदेव का उल्लेख बड़े ही सम्मान के साथ हुआ है – “ऋषभदेव ने पृथ्वी का पालन करने के लिए भरत को राजगद्दी पर बैठाया और स्वयं उपशमशील, निवृत्तिपरायण महामुनियों के भक्ति ज्ञान और वैराग्यरूप परमहंसोचित धर्म की शिक्षा देने के लिए बिल्कुल विरक्त हो गए। केवल शरीर मात्र का परिग्रह रखा।”²

इसीप्रकार इसके पाँचवें स्कन्ध के, अध्याय 2-6 में ऋषभदेव का सुन्दर वर्णन है, जो जैन साहित्य के वर्णन से कुछ अंश में मिलता-जुलता हुआ है। उसमें लिखा है कि ‘नाभि ने मरुदेवी से विवाह किया और उससे ऋषभदेव उत्पन्न हुए। ऋषभदेव ने इन्द्र के द्वारा दी गई जयन्ती नाम की भार्या से सौ पुत्र उत्पन्न किये, और बड़े पुत्र भरत का राज्यभिषेक करके संन्यास ले लिया। उस समय केवल शरीर मात्र उनके पास था और वे दिगम्बर वेष में नग्न विचरण करते थे। मौन से रहते थे, कोई डराये, मारे, ऊपर थूँके, पत्थर फेंके, मूत्रविष्टा फेंके तो इन सबकी ओर ध्यान नहीं देते थे। यह शरीर असत् पदार्थों का घर है – ऐसा समझकर अहंकार ममकार का त्याग करके अकेले भ्रमण करते थे। उनका कामदेव के समान सुन्दर शरीर मलिन हो गया था।’

1. तनुवावतार ‘20’ स्व. पू. अ. 31

2. श्रीमद्भागवत 95/5/28

श्रीमद्भागवत के उक्त कथनों से यह ध्वनित होता है कि ऋषभदेव ने ही जैनधर्म का उपदेश दिया था; क्योंकि जैन तीर्थङ्कर ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लेने पर 'जिन', 'अर्हत्' आदि नामों से पुकारे जाते हैं और उसी अवस्था में धर्मोपदेश करते हैं जो कि उनकी उस अवस्था के नाम पर **जैनधर्म** या **आर्हत धर्म** कहलाता है।

श्रीमद्भागवत के समान अन्य हिन्दू पुराणों में भी जैनधर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रायः इसी प्रकार का वर्णन पाया जाता है। ऐसा एक भी ग्रन्थ अभी तक देखने में नहीं आया, जिसमें वर्धमान या पार्श्वनाथ से जैनधर्म की उत्पत्ति बतलाई गई हो। यद्यपि उपलब्ध पुराण साहित्य प्रायः महावीर के बाद का ही है, फिर भी उसमें जैनधर्म की चर्चा होते हुए भी महावीर या पार्श्वनाथ का नाम तक नहीं पाया जाता। इससे भी इसी बात की पुष्टि होती है कि हिन्दू परम्परा भी इस विषय में एकमत है कि जैनधर्म के संस्थापक ये दोनों नहीं हैं।

उक्त संदर्भ में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान स्वर्गीय डॉ. हर्मन याकोबी का मत उल्लेखनीय है। डॉ. याकोबी लिखते हैं -

“इसमें कोई भी सबूत नहीं है कि पार्श्वनाथ जैनधर्म के संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव को जैनधर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की सम्भावना है।”¹

उत्तराध्ययन सूत्र के प्राक्कथन में डॉ. चार्लेन्टर लिखते हैं -

“हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैनधर्म भगवान महावीर से प्राचीन है और महावीर के आदरणीय पूर्वज पार्श्वनाथ निश्चित रूप से एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में वर्तमान थे। अतः जैनधर्म के मूल सिद्धान्त भगवान महावीर से बहुत पहले निर्धारित हो चुके थे।”

1. There is nothing to prove that Purshva was the founder of Jainism. Jain Tradition is unanimous making Rishabha the first Tirthankara (as its founder) there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara - Indian Antiquary Vol. IX P. 163.

मेजर जनरल जे.सी.आर. फर्लांग महोदय अपनी The Short Study in Science of Comparative Religion नाम की पुस्तक में लिखते हैं - “ईसा से अगणित वर्ष पहले से जैनधर्म भारत में फैला हुआ था। आर्य लोग जब मध्यभारत आये तब यहाँ जैन लोग मौजूद थे।”

महाभारत शांतिपर्व में भी ऋषभदेव का उल्लेख है। ऐसा कहा जाता है कि अड़सठ तीर्थों की यात्रा करने से जो फल प्राप्त होता है, उतना फल भगवान आदिनाथ के स्मरण मात्र से ही मिल जाता है -

अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।

श्री आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत् ॥

इसप्रकार हिन्दू पुराणों में मार्कण्डेय पुराण, कर्मपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, गरुडपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्धपुराण और श्रीमद्भागवत में जो ऋषभदेव का वर्णन उपलब्ध होता है, उससे इतना तो निश्चित ही सिद्ध हो जाता है कि ऋषभदेव निश्चित ही एक ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं।

डॉ. बुद्धप्रकाश, डी.लिट् ने अपने ग्रंथ 'भारतीय धर्म एवं संस्कृति' में लिखा है - “महाभारत में विष्णु के सहस्र नामों में श्रेयांस, अनन्त, धर्म, शान्ति और संभव नाम आते हैं और शिव के नामों में ऋषभ, अजित, अनन्त और धर्म मिलते हैं। विष्णु और शिव दोनों का एक नाम सुव्रत दिया गया है। ये सब नाम तीर्थंकरों के हैं। लगता है कि महाभारत के समन्वयपूर्ण वातावरण में तीर्थंकरों को विष्णु और शिव के रूप में सिद्ध कर धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इससे तीर्थंकरों की परम्परा प्राचीन सिद्ध होती है।”¹

भारत के राष्ट्रपति प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वानडॉ. राधाकृष्णन कुछ विशेष जोर देकर लिखते हैं कि -

“जैन परम्परा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति होने का कथन करती है, जो बहुत-सी शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि

1. तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ - 15

ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थङ्करों के नामों का निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे।¹

जैनेतर साहित्य में प्राप्त जैनधर्म संबंधी अनेक उद्धरणों से जैनधर्म की समीचीनता व प्राचीनता सिद्ध करने के लिए जैन विद्वान् 'आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी' ने अपने ग्रन्थ मोक्षमार्ग प्रकाशक में बड़ा योगवासिष्ठ, दक्षिणामूर्ति-सहस्रनाम, वैशम्पायन सहस्र नाम, महिम्नस्तोत्र, हनुमन्नाटक, रुद्रयामलतंत्र, गणेशपुराण, व्यासकृत सूत्र, भगवत्, दशावतार, काशी खंड, प्रभासपुराण, नगरपुराण, मनुस्मृति, ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि अनेक ग्रन्थों के उद्धरण देकर अंत में कहा है कि 'इसप्रकार अन्यमत के ग्रन्थों की साक्षी से भी जिनमत की उत्तमता और प्राचीनता दृढ़ हुई।'²

इसीप्रकार अन्यमतों के ग्रन्थोद्धरणों की समीक्षा कर डॉ. भागचन्द्र भास्कर अपनी पुस्तक 'जैनदर्शन व संस्कृति के इतिहास' में लिखते हैं कि "इसप्रकार ऋषभदेव का प्राचीन इतिहास जैन, वैदिक और बौद्ध तीनों साहित्यों में मिलता है। ---- यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैनों के चौबीस तीर्थङ्करों का अनुकरण कर वैदिक परम्परा ने चौबीस अवतारों की कल्पना की और बुद्ध परम्परा ने चौबीस बुद्ध बना लिए। अवतारों व बुद्धों की संख्या में यथासमय वृद्धि भी होती रही; पर जैनों के तीर्थङ्कर चौबीस से पच्चीस नहीं हुए और न चौबीस से तेबीस। इससे जैनपरम्परा की वास्तविकता और मौलिकता का आभास होता है।

1. "There is evidence to show what so far back as the first century B.C. There were people were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankra. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhamana or Parsavanath. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankara & Rishabha. Ajitanath and Aristanemi. The Bhagavata Puran endorses the view that Rishabha was the founder of Jainism'-Indian Philosophy, Vol. I.P. 287.

2. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ - 143

बौद्धपरम्परा में ऋषभदेव के साथ ही अन्य तीर्थङ्करों का भी उल्लेख हुआ है। उसने उन तीर्थङ्करों के नामों का उपयोग अपने बुद्धों, प्रत्येकबुद्धों और बोधिसत्त्वों के नामों की अवधारणा में किया है"¹

आगे उन्होंने पुनः लिखा है कि "प्राचीन जैनेतर साहित्य में जैनधर्म संबंधी उद्धरण काफी मिला करते थे। पर धीरे-धीरे सम्प्रदायाभिनिवेश से उनका लोप कर दिया गया। पंडित टोडरमलजी ने 'मनुस्मृति' और 'यजुर्वेद' से निम्नलिखित उद्धरणों को उद्धृत किया है -

कुलादि बीजं सर्वेषां प्रथमो विमल वाहनः ।

चक्षुष्मान् यशस्वी नाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित् ॥

मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुल सत्तमाः ।

अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेजाति उरुक्रमः ॥

दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः ।

नीतित्रितयकर्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः ॥मनुस्मृति ॥

ॐ नमो अर्हतो ऋषभाय । ॐ ऋषभपवित्रं पुरुहूतमध्वजं यज्ञेषु नग्नं परमं माहसंस्तुतं वरं शत्रुं जयंतं पशुरिद्र-माहतिरिति स्वाहा । ओऽम् त्रातारमिद्रं ऋषभं वदन्ति । अमृतारमिद्रं हवे सुगतं सुपार्श्वमिद्रं हवे शक्रमर्जितं तद्वर्द्धमानपुरुहूतमिद्रमाहरिति स्वाहा । ओऽम् नग्नं सुधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनं उपैमि वीरं पुरुषमर्हतमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् स्वाहा । ओऽम् स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धस्रवा स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः स्वस्तिनस्ताक्षर्यो अरिष्टनेमि स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु । दीर्घायुसत्वायुलायुर्वा शुभजातायु । ओऽम् रक्ष रक्ष अरिष्टनेमिः स्वाहा । वामदेव शान्त्यर्थ - मनुविधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमिः स्वाहा । (यजुर्वेद) ।

इन उद्धरणों में उल्लिखित तीर्थङ्करों के नाम और उनके प्रति अभिव्यक्त सन्मान दृष्टव्य है। पर आश्चर्य की बात है कि आज ये उद्धरण मनुस्मृति और यजुर्वेद के संस्करणों में क्यों व कैसे लुप्त हो गए, यह विचारणीय है।

1 जैनदर्शन व संस्कृति का इतिहास, पृष्ठ - 15

मूल वैशम्पायन सहस्रनाममें 'कालनेमिर्महावीरः शूरः शौरिजिनेश्वरः'¹ कहा गया है; पर आधुनिक संस्करणों में 'जिनेश्वर' के स्थान पर 'जनेश्वर' रख दिया गया है - 'कालनेमि महावीरः शौरिशूरः जनेश्वरः'²

टोडरमलजी ने भतृहरि के 'वैराग्य शतक' से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है -

एको रागिषु राजते प्रियतमा देहाद्धधारी हरो,
नीरागेषु जिनो विमुक्तललना सङ्गो न यस्मात्परः ।
दुर्वारस्मरवागपन्नगविषव्यासक्तमुग्धां जनः,
शेषः कामविडंबितो हि विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः ॥

रागियों में महादेव और वीतरागियों में जिनदेव की बात कहनेवाले इस श्लोक को आज संस्करणों में या तो रखा ही नहीं या कुछ संस्करणों में रखा भी गया तो वह कुछ परिवर्तन के साथ रखा गया ।

एको रागिषु राजते प्रियतमा देहाद्धधारी हरो,
नीरागेष्वपि यो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः ॥
दुर्वारस्मरवाणपन्नगविषज्वालावलीठो जनः,
शेषः काम विडंबितोतोहि विषयान् भोक्तुं च मोक्तुं क्षमः ॥³

इसीप्रकार 'अमरकोष' में बुद्ध के बाद जिनके भी नाम दिये गए हैं, वर्तमान संस्करणों में वह भाग लुप्त हो गया । पण्डित मिलापचन्द कटारियाजी ने उस लुप्त भाग को इसप्रकार खोज निकाला -

“सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन् केवली तीर्थकृज्जिनः ।
स्याद्वादवादी निलोक निर्ग्रन्थाधिप इत्यपि ॥”⁴

इसप्रकार के अनेक जैनेतर उद्धरण प्राचीन जैन साहित्य में मिलते हैं; जिनसे जैनधर्म की प्राचीनता और लोकप्रियता का पता चलता है; पर

1. महाभारत अनुशासन पर्व, 148, 82

2. महाभारत (गोरखपुर), 1958 पृष्ठ - 6043

3. श्रृंगार शतक, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, 1818, चुतर्थ संस्करण (सं. कृष्ण शास्त्री)

4. अजैन साहित्य में जैन उल्लेख और सांप्रदायिता की संकीर्णता से उनका लोप ह्व महावीर जयन्ती स्मारिका, 1970 पृ. 57-65

धीरे-धीरे वैदिक विद्वानों ने अपनी संकीर्णतावश उनको अलग कर दिया अथवा तोड़-मरोड़कर उपस्थित किया । टोडरमलजी ने 'भवानी सहस्रनाम', 'गणेशपुराण', 'प्रभासपुराण', 'नगरपुराण' आदि ग्रन्थों से भी अनेक उद्धरण दिए हैं, पर वे प्रायः अब मिलते नहीं । शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में यह व्यामोह उचित नहीं कहा जा सकता ।¹

वेदों में प्राप्त उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर निःसंकोच कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति के विकास के पूर्व से ही जैनदर्शन के प्रचारक तीर्थंकरों की परंपरा विद्यमान थी; अतः यह कहना हास्यास्पद ही होगा कि वैदिक संस्कृति के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप बौद्धों के समान ही जैनदर्शन की भी उत्पत्ति हुई ।

बौद्ध साहित्य में भी ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है । धम्म पद में उन्हें 'प्रवर वीर' कहा है (उस पवरं वीरं-422) । मंजुश्री मूल कल्प में उनको निर्ग्रन्थ तीर्थंकर और आप्त देव के रूप में उल्लिखित किया गया है । 'न्याय विंदु' अध्याय तीन में ऋषभ (वृषभ) और वर्द्धमान को सर्वज्ञ अर्थात् केवलज्ञानी तीर्थंकर लिखा है । 'धर्मोत्तर प्रदीप' पृष्ठ 286 में भी उनका स्मरण किया गया है ।

इसप्रकार ऋषभदेव का उल्लेख प्राचीन इतिहास जैन, वैदिक, बौद्ध तीनों साहित्यों में मिलता है ।

स्व. डॉ. हर्मान जैकोबी ने अपनी जैन सूत्रों की प्रस्तावना में इस पर विस्तृत विचार किया है । वे लिखते हैं - “इस बात से अब हम सहमत हैं कि नातपुत्र, जो महावीर अथवा वर्द्धमान के नाम से प्रसिद्ध हैं, बुद्ध के समकालीन थे । बौद्ध-ग्रन्थों में मिलने वाले उल्लेख हमारे इस विचार को दृढ़ करते हैं कि नातपुत्र से पहले भी निर्ग्रन्थों का जो आज जैन अथवा अर्हत के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था । जब बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ तो निर्ग्रन्थों का सम्प्रदाय एक बड़े सम्प्रदाय के रूप में गिना जाता

1. जैनदर्शन व संस्कृति का इतिहास : डॉ. भागचन्द्र भास्कर, पृ. 23 व 24

होगा। बौद्ध पिटकों में कुछ निर्ग्रन्थों का बुद्ध और उसके शिष्यों के विरोधी के रूप में और कुछ का बुद्ध के अनुयायी बन जाने के रूप में वर्णन आता है। उसके ऊपर से हम उक्त बात का अनुमान कर सकते हैं। इसके विपरीत इन ग्रन्थों में किसी भी स्थान पर ऐसा कोई उल्लेख या सूचक वाक्य देखने में नहीं आता कि निर्ग्रन्थों का सम्प्रदाय एक नवीन सम्प्रदाय है और नातपुत्र उसके संस्थापक हैं। इसके ऊपर से हम अनुमान कर सकते हैं कि बुद्ध के जन्म से पहले अतिप्राचीन काल से निर्ग्रन्थों का अस्तित्व चला आता है।”

डॉ. जैकोबी ने बौद्ध साहित्य के उल्लेखों के आधार पर निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रमाणित करते हुए लिखा है कि – “बौद्ध निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय को एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे, किन्तु निर्ग्रन्थ अपने प्रतिद्वन्दी अर्थात् बौद्धों की उपेक्षा करते थे। इससे हम निर्णय पर पहुँचते हैं कि बुद्ध के समय निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित सम्प्रदाय नहीं था। यही मत पिटकों का भी जान पड़ता है।”¹

डॉ. विंसेण्ट ए. स्मिथ का कहना है कि “मथुरा से प्राप्त सामग्री लिखित जैन परम्परा के समर्थन में विस्तृत प्रकाश डालती है और जैनधर्म की प्राचीनता के विषय में अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है तथा यह बतलाती है कि प्राचीन समय में भी वह अपने इसी रूप में मौजूद था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ में भी अपने विशेष चिह्नों के साथ चौबीस तीर्थङ्करों की मान्यताओं में दृढ़ विश्वास था।”²

इन शिलालेखों से भी प्राचीन और महत्वपूर्ण शिलालेख खण्डगिरि उदयगिरि (उड़ीसा) की हाथी गुफा से प्राप्त हुआ है, जो जैन सम्राट खारवेल ने लिखाया था। इस 2100 वर्ष प्राचीन जैन शिलालेख से स्पष्ट

1. Indian Antiquary, Vol. 9th, Page, 160

2. The discoveries have to a very large extent supplied corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible incontrovertible proof of the antiquity of the Jain religion and of its early existence very much in its present form, the series twentyfour proutiffs (Tirthankaras), each with his distinctive emblem, was evidently firmly believed in at the beginning of the Christian era-The Jain Stupa...Mathura Intro, p.6

पता चलता है कि मगधाधिपति पुष्यमित्र का पूर्वाधिकारी राजा नन्द कलिंग जीतकर भगवान् श्री ऋषभदेव की मूर्ति, जो कलिंग राजाओं की कुलक्रमागत बहुमूल्य सम्पत्ति थी, जयचिह्न स्वरूप ले गया था। वह प्रतिमा खारवेल ने नन्द राजा के तीन सौ वर्ष बाद पुष्यमित्र से प्राप्त की। जब खारवेल ने मगध पर चढ़ाई की और उसे जीत लिया तो मगधाधिपति पुष्यमित्र ने खारवेल को वह प्रतिमा लौटाकर राजी कर लिया। यदि जैनधर्म का आरम्भ भगवान् पार्श्वनाथ के द्वारा हुआ होता तो उनसे कुछ ही समय बाद की या उनके समय की प्रतिमा उन्हीं की होती। परन्तु जब ऐसे प्राचीन शिलालेख में आदि तीर्थंकर की प्रतिमा का स्पष्ट और प्रामाणिक उल्लेख इतिहास के साथ मिलता है तो मानना पड़ता है कि ऋषभदेव के प्रथम जैन तीर्थङ्कर होने की मान्यता में तथ्य अवश्य है।

इसप्रकार हड़प्पा की खुदाई से एक नग्न मानव धड़ मिला है। नग्न मुद्रा कायोत्सर्ग मुद्रा है। केन्द्रीय पुरातत्व विभाग के तत्कालीन महानिदेशक टी.एन. रामचंद्रन ने उस पर गहन अध्ययन किया है। उन्होंने अपने हड़प्पा एंड जैनजन्म नामक शोधपूर्ण पुस्तक में उस मूर्ति को ऋषभदेव की प्रामाणित करते हुए लिखा है – हड़प्पा की कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्ण मूर्ति पूर्ण रूप से जैनमूर्ति है, उनके मुख पर जैनधर्म का साम्यभाव दूर से झलकता है।¹

हड़प्पा की संस्कृति को विद्वानों ने ईसा पूर्व 2000 से 3000 का माना है। इससे स्पष्ट होता है कि आज से चार-पाँच हजार वर्ष पूर्व भी तीर्थंकरों का अस्तित्व था और उनकी पूजा अर्चना होती थी। इन सब आधारों से अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि सिंधु घाटी की सभ्यता जैन संस्कृति से संबद्ध थी।

श्री पी.आर. देशमुख ने अपनी पुस्तक इंडस सिविलाइजेशन ऋग्वेद एंड हिन्दू कल्चर में लिखा है –

1. The Harappan Statuette being exactly in the above specified Prose. We may not be wrong in identifying, that The God represented as a Tirthankara or a Jaina ascetic of accredited fame and penance. P.4

जैनों के पहले तीर्थंकर सिन्धु सभ्यता से ही थे। सिंधु जनों के देव नग्न होते थे। जैन लोगों ने उस सभ्यता/संस्कृति को बनाए रखा और नग्न तीर्थंकरों की पूजा की।

इतिहासकारों और पुरातात्ववेत्ताओं की यह मान्यता है कि वैदिक आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में जो सभ्यता थी, वह अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत थी। विद्वानों ने उसे श्रमण संस्कृति से संबद्ध किया है। सन् 1922 से 1927 के बीच भारतीय पुरातत्व विभाग द्वारा सिंधु घाटी के हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई से कई नए तथ्य प्रकाश में आए हैं, जिनसे जैन धर्म की प्राचीनता के साथ-साथ उनकी प्राग्वैदिकता भी सिद्ध होती है। इन दोनों स्थानों में जिस संस्कृति की खोज हुई, वह सिंधु घाटी की सभ्यता कही जाती है। विद्वानों के अनुसार वह लगभग 5000 वर्ष पुरानी संस्कृति है।

मोहनजोदड़ो से कुछ नग्न कायोत्सर्ग योगी मुद्राएँ मिली हैं, उनका संबंध जैनसंस्कृति से है। इसे प्रमाणित करते हुए स्व. रायबहादुर, प्रो. रामप्रसाद चंद्रा ने अपने शोधपूर्ण लेख में लिखा है -

“सिंधु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देवमूर्तियाँ न केवल योग मुद्रा में अवस्थित हैं, वरन् उस प्राचीन युग में सिंधु घाटी में प्रचलित योग पर प्रकाश डालती हैं। उन मुहरों में खड़े हुए देवता योग की खड़ी मुद्रा भी प्रकट करते हैं और यह भी कि कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनक रूप से जैनों से संबंधित है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खड़े होकर ध्यान करने की है। आदि पुराण सर्ग अठारह में ऋषभ अथवा वृषभ की तपस्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्व संग्रहालय में एक शिला फलक पर जैन वृषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई चार प्रतिमाएँ मिलती हैं, जो ईसा की द्वितीय शताब्दी की निश्चित की गई हैं। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति संख्या 12 में प्रतिबिंबित है। प्राचीन राजवंशों के काल की मिश्री स्थापत्य में कुछ ऐसी प्रतिमाएँ मिलती हैं, जिनकी भुजाएँ दोनों ओर लटकी हुई हैं। यद्यपि ये मिश्री मूर्तियाँ प्रायः उसी मुद्रा में मिलती

हैं, किन्तु उनमें वैराग्य की वह झलक नहीं है जो सिन्धुघाटी की इन खड़ी मूर्तियों या जैनों की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में मिलती है। ऋषभ का अर्थ होता है वृषभ (बैल) और वृषभ जिन वृषभ का चिह्न है।¹

इसी बात की पुष्टि करते हुए प्रसिद्ध विद्वान राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं -

“मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। जिनके साथ योग और वैराग्य की परंपरा उसी प्रकार लिपटी हुई हैं जैसे कालांतर में वह शिव के साथ समन्वित हो गयीं। इस दृष्टि से जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं दिखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद पूर्व हैं।²

जैनधर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक धर्म है। इस बात की पुष्टि करते हुए डॉ. विशुद्धानंद पाठक और पं. जयशंकर मिश्र लिखते हैं -

“विद्वानों का अभिमत है कि यह धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिंधु घाटी की सभ्यता से मिली योग मूर्ति तथा ऋग्वेद के कतिपय मंत्रों में ऋषभ तथा अरिष्ट नेमि जैसे तीर्थंकरों के नाम इस विचार के मुख्य आधार हैं। भागवत् और विष्णु पुराण में मिलने वाली जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा भी जैनधर्म की प्राचीनता व्यक्त करती है।”³

श्री नीलकंठ शास्त्री ने ‘उड़ीसा में जैनधर्म’ नामक पुस्तक में जैनधर्म को संसार का मूलधर्म बताते हुए द्रविड़ों को जैनों से संबद्ध किया है। वे लिखते हैं -

“जैनधर्म संसार का मूल अध्यात्म धर्म है। इस देश में वैदिक धर्म के आने से बहुत पहले से ही यहाँ जैनधर्म प्रचलित था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में जैनों के तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर की परम्परा प्रचलित थी।

1. मार्डन रिव्यू अगस्त 1932 पृ. 156-60

2. संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 62

3. भारतीय इतिहास और संस्कृति पृ. 199-200

जैनमत में कहे गए 21वें तीर्थंकर भगवान नमिनाथ, 22वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ और 23वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ और 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर को तो एक ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार कर ही लिया गया है।

इसप्रकार ऐतिहासिक खोजों, शिलालेखीय अन्वेषणों, पुरातात्विक साक्ष्यों एवं प्राचीन साक्ष्यों एवं प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के साथ-साथ जैनधर्म की प्राचीनता दर्पणवत् स्पष्ट हो जाती है।

उक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देखने पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि जैनधर्म भारत का प्राचीनतम धर्म रहा है।



शास्त्र स्वयं तो बोलते नहीं। उनका मर्म बड़ी सावधानी से समझना चाहिए। स्वयं समझ में न आवे तो ज्ञानियों से उनका मर्म समझने का प्रयत्न करना चाहिए। समस्त शास्त्रों का तात्पर्य एक मात्र वीतरागता है, क्योंकि वीतराग की वाणी के आधार पर ही तो शास्त्रों का निर्माण हुआ है। वीतराग की वाणी वीतरागता की ही पोषक होती है। जो राग को धर्म बताये, राग-द्वेष का पोषण करें, वह वीतराग की वाणी नहीं हो सकती।

जिन शास्त्रों में मांसादि-भक्षण और राग-द्वेषादि भावों का पोषण हो वे शास्त्र नहीं, शस्त्र हैं।

– सत्य की खोज, पृष्ठ-78

द्वितीय अध्याय

परमात्मा का स्वरूप

धर्मप्रचार करनेवाले सर्वोच्च पद के लिए जैनपरम्परा में सामान्यतया अरहंत, जिन, परमात्मा, परमेष्ठी, केवली, भगवान व तीर्थंकर – इन शब्दों का प्रयोग होता रहा है। इनमें से तीर्थंकरों को छोड़कर शेष सब पर्यायवाची ही हैं।

परमात्मदशा को प्राप्त करना ही सम्पूर्ण जैनागम का उद्देश्य है। जैनधर्म तो आत्मा को परमात्मा के रूप में विकसित करने की एक कला है, परमात्मदशा की प्राप्ति ही जैनसाधना का एकमात्र साध्य है।

जैनमतानुसार जो वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं, उन्हें परमात्मा कहते हैं।

जो राग¹-द्वेष² रहित होते हैं, उन्हें वीतरागी कहते हैं। तथा जो तीन लोक व तीन काल की समस्त बातों को एक साथ जानते हैं, उन्हें सर्वज्ञ कहते हैं।

जैनधर्म में इस परमात्म दशा को मुख्यतया दो भागों में बाँटा गया है – 1. निकल परमात्मा 2. सकल परमात्मा।

1. निकल परमात्मा (सिद्ध) – कल का अर्थ होता है शरीर और निः का अर्थ होता है रहित; अतः शरीर रहित होने के कारण सिद्ध भगवान को निकल परमात्मा कहते हैं।

जो गृहस्थावस्था का त्यागकर, मुनिधर्म साधन द्वारा चार घातिकर्मों का नाश होने पर अनंत चतुष्टय³ प्राप्त करके कुछ समय बाद अघाति कर्मों के नाश होने पर समस्त अन्य द्रव्यों का संबंध छूट जाने पर पूर्ण मुक्त हो गए हैं; लोक के अग्रभाग में किंचित् न्यून पुरुषाकार विराजमान हो गए हैं; जिनके

1. किसी को भला जानकर चाहना राग है।

2. किसी को बुरा जानकर दूर करना चाहना द्वेष है।

3. अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य को अनंतचतुष्टय कहते हैं।

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने से समस्त आत्मिक गुण प्रकट हो गए हैं, वे सिद्ध हैं। उनके आठ गुण कहे गए हैं -

समकित दर्शन ज्ञान, अगुरुलघु अवगाहना।

सूक्ष्म वीरज वान, निराबाध गुण सिद्ध के ॥

1. क्षायिक सम्यक्त्व, 2. अनंतदर्शन, 3. अनंतज्ञान, 4. अगुरुलघुत्व, 5. अवगाहनत्व, 6. सूक्ष्मत्व, 7. अनंतवीर्य, 8. अव्याबाध (अनंत सुख)।

सिद्ध भगवान गुणस्थानातीत होते हैं। उनके परमशुद्ध, कार्यपरमात्मा, लोकाग्रवासी, संसारातीत, निरंजन, निष्काम, साध्य परमात्मा, परमसुखी, ज्ञानाकारी, ज्ञानशरीरी, अशरीरी आदि अनेक नाम हैं। इन्हें देहमुक्त भी कहते हैं।

एक बार पूर्ण मुक्त हो जाने के पश्चात् जीव पुनः शरीर धारण नहीं करता है अर्थात् जैनमतानुसार आत्मा तो परमात्मा बनता है; संसारी तो मुक्त होता है; किन्तु मुक्त जीव पुनः बंधन को प्राप्त नहीं होते, सिद्ध जीव पुनः संसार में नहीं लौटते। सिद्ध अवस्था का प्रारंभ होता है, नाश कभी नहीं; अतः सर्वसिद्ध भगवान नियम से सादि-अनंत ही हैं।

जैनदर्शन में जीव जन्म-मरण का नाश कर भगवान बनते हैं; अतः भगवान के पुनर्जन्म या अवतार का प्रश्न ही नहीं उठता। सिद्ध अवस्था के अतिरिक्त अन्य कोई उत्कृष्ट अवस्था नहीं है।

2. सकल परमात्मा (अरहन्त) - अरहन्त अवस्था जीवनमुक्त अवस्था है। यद्यपि सिद्धावस्था की प्राप्ति ही जैनधर्म का लक्ष्य है, फिर भी इसके पूर्व प्रत्येक साधक को अरहन्त अवस्था प्राप्त होती है। शरीर सहित होने के कारण अरहन्त भगवान को सकल परमात्मा कहते हैं।

जो गृहस्थपना त्यागकर, मुनिधर्म अंगीकार कर, निजस्वभाव साधन द्वारा चार घातिकर्मों का क्षय करके, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हैं, केवलज्ञान प्राप्त कर वीतरागी व सर्वज्ञ होते हैं - वे समस्त भगवान अरहन्त कहलाते हैं।

इन्द्रियों को जीतने की अपेक्षा उन्हें 'जिन' भी कहते हैं। योग-सहित होने के कारण इन्हें ही 'सयोगी जिन' कहते हैं। केवलज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा उन्हें ही 'केवली' कहते हैं। वीतरागी व सर्वज्ञ होने के कारण वे 'भगवान' कहलाते हैं तथा मोह-राग-द्वेषरूपी शत्रुओं को नष्ट करने की अपेक्षा उन्हें ही 'अरिहन्त' कहा गया है।

इसप्रकार जैनमान्यतानुसार सकल परमात्मा के अरहन्त, अरिहन्त, अरुहन्त, केवली, सयोगकेवली, जिन, सयोगी जिन, परमज्योति, आप्त, सर्वज्ञ और जिनेन्द्रदेव आदि एक हजार आठ नाम कहे गए हैं।

जैनशास्त्रों में अरहन्त के 46 गुणों (विशेषणों) का वर्णन है, उनमें से कुछ विशेषण तो आत्मा से संबंध रखते हैं और कुछ शरीर से।

अनन्तचतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख व अनन्त वीर्य) आत्मा से संबंध रखने वाले गुण हैं; अतः वे प्रत्येक अरहन्त के होते हैं। निश्चय से ये ही अरहन्त के गुण हैं। शेष 42 गुण तीर्थंकर अरहन्तों के ही होते हैं, सब अरहन्तों के नहीं। इन्हीं तीर्थंकर अरहन्त परमात्मा की प्रतिमाएँ जिनमंदिरों में विराजमान की जाती हैं।

यद्यपि अरहन्त तो एक ही प्रकार के होते हैं; किन्तु बाह्य संयोगों की अपेक्षा पुण्य-पाप के संयोगों के अनुसार उनके अनेक प्रकार हो जाते हैं - तीर्थंकर अरहन्त, सामान्य अरहन्त आदि। इन्हें तीर्थंकर केवली व सामान्य केवली भी कहते हैं।

तीर्थंकर अरहंत (केवली)

जो धर्मतीर्थ का उपदेश देते हैं, समवशरण आदि विभूति से युक्त होते हैं, जिनके तीर्थंकर नामक विशेष पुण्य का उदय होता है¹, जिनके कल्याणक महोत्सव मनाए जाते हैं, वे अरहंत तीर्थंकर कहलाते हैं।

तीर्थंकर अरहंतों के 46 गुण होते हैं। जिनमें अनन्त चतुष्टय को छोड़कर शेष 42 गुणों में 10 तो जन्म के अतिशय हैं, जो शरीर से संबंध रखते हैं।

1. सम्यग्दृष्टि जीव को जब ऐसी भावना होती है कि जो तत्त्व मैंने समझा है, वह सभी जीवों को समझा सकूँ; तब उसको ऐसे तीर्थंकर पुण्य कर्म का बंध होता है कि वह जो बोलता है, वह सभी जीव अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं।

10 केवलज्ञान के अतिशय हैं, वे बाह्य पुण्य सामग्री से संबंधित हैं, तथा 14 देवकृत अतिशय देवों द्वारा किए हुए होते हैं। 8 प्रतिहार्य भी बाह्य विभूति हैं।

भरत क्षेत्र में दश कोड़ाकोड़ी सागर में तीर्थकर 24 ही होते हैं।

जैनों की स्पष्ट मान्यता है कि तीर्थकर भगवान दूसरों को संसार समुद्र से पार नहीं करते साधना में सहयोग नहीं करते; अपितु संसार समुद्र से पार होने का रास्ता बताते हैं, मार्गदर्शन करते हैं। जैन तीर्थकर भगवान अपने भक्तों के कष्टों को दूर करने के लिए दुष्टों का दमन तो करते ही नहीं हैं, अपितु वे अपने ऊपर आए हुए उपसर्ग (कष्टों) को भी दूर करने का प्रयास नहीं करते। वे मित्रों पर प्रसन्न व शत्रुओं पर नाराज नहीं होते, क्रोध नहीं करते, शाप नहीं देते; अपितु दोनों अवस्थाओं में साम्यभाव रखते हैं।

तीर्थकर अरहन्तों का उपदेश इच्छारहित होता है; अतः उन्हें किसी को प्रेरणा देने का विकल्प नहीं होता। उनके उपदेश को सुनकर भव्यजीव स्वयं प्रेरित होकर तदनुसार आचरण कर स्वयं ही भगवान बनते हैं।

सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर विक्रिया के द्वारा सभी तीर्थकरों की धर्मसभा अर्थात् समवशरण को विशेष प्रकार से रचता है।

इसकी रचना कुबेर इसप्रकार करता है कि तीव्र रुचि वाले व्यक्ति ही इसमें प्रवेश कर पाते हैं; क्योंकि प्रारंभ की सात भूमियों में पुष्प वाटिकार्यें, वापियाँ, चैत्यवृक्ष, नाट्यशालाएँ आदि होती हैं; जिनमें देवांगनाएँ नृत्य करती रहती हैं; मिथ्यादृष्टि अभव्यजन अधिकतर इसी के देखने में उलझ जाते हैं।

समवशरण की सामान्य भूमि गोल होती है। उसकी प्रत्येक दिशा में आकाश में स्थित 20-20 हजार सीढ़ियाँ होती हैं।

समवशरण में चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीच में आठ भूमियाँ और सर्वत्र अन्तर भाग में तीन-तीन पीठ होते हैं। अन्तिम भूमि में 16 दीवारें व उनके बीच 12 कोठे होते हैं। जिनमें क्रमशः गणधर, मुनिराज, कल्पवासी देवियाँ, आर्यिकाएँ, श्राविकाएँ, ज्योतिषी देवियाँ, व्यन्तर देवियाँ,

भवनवासी देवियाँ, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष देव, कल्पवासी देव, मनुष्य व तिर्यच बैठते हैं।

पंचमवेदी के द्वितीय पीठ के ऊपर गंधकुटी¹ होती है। गंधकुटी के मध्यभाग में पादपीठ सहित सिंहासन होता है; जिस पर भगवान चार अंगुल के अंतराल से आकाश में स्थित रहते हैं।

तीर्थकरों द्वारा समवशरण में जो उपदेश दिया जाता है, उसे दिव्यध्वनि कहते हैं। जैनमतानुसार अरहंत भगवान के सर्वांग से एक विचित्र गर्जनारूप उँकारध्वनि खिरती है, जिसे दिव्यध्वनि कहते हैं। यह धर्मोपदेश स्वाभाविक प्रयत्न बिना ही होता है। जिस समय दिव्यध्वनि खिरती है, उस समय भगवान का मुख बंद रहता है। उनकी दिव्यध्वनि तालु, दन्त ओष्ठ तथा कण्ठ के हलन-चलन रूप व्यापार से रहित होती है।

दिव्यध्वनि में छः द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वों का नाना हेतुओं द्वारा निरूपण होता है। जिसप्रकार आकाश से बरसा पानी एकरूप होता है, परन्तु पृथ्वी पर पड़ते ही वह नानारूप दिखाई देने लगता है; उसीप्रकार भगवान की वाणी यद्यपि एकरूप होती है, तथापि सभा में सब जीव अपनी-अपनी भाषा में उसका भाव पूर्णतः समझते हैं। दिव्यध्वनि खिरने के लिए गणधर की उपस्थिति आवश्यक है।

गणधर तीर्थकर के प्रमुख श्रोता होते हैं। एक तीर्थकर के अनेक गणधर हो सकते हैं, जो तीर्थकर द्वारा दी गई समस्त देशना को यथावत ग्रहण करते हैं। अतः उनकी अनुपस्थिति में दिव्यध्वनि नहीं खिरती है। जैसे कि गौतम गणधर की अनुपस्थिति के कारण तीर्थकर भगवान महावीर की 66 दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी। जैनमान्यतानुसार तीर्थकर भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात उसी दिन सायंकाल गौतम गणधर को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

कल्याणक महोत्सव

सभी तीर्थकरों के कल्याणक महोत्सव मनाए जाते हैं।

1. समवशरण के मध्य भगवान के बैठने के स्थान को गंधकुटी कहते हैं।

जैनागम में भरतक्षेत्र के प्रत्येक तीर्थकरों के जीवनकाल की पाँच प्रमुख घटनाओं का तिथि व स्थान सहित उल्लेख मिलता है, जिन्हें पंचकल्याणक के नाम से कहा जाता है; क्योंकि वे अवसर जगत के लिए अत्यन्त कल्याणकारी व मंगलकारी होते हैं।

तीर्थकरप्रकृति के अभाव में साधारण साधकों को ये नहीं होते।

तीर्थकर हुए बिना भी अरहन्त भगवान बना जा सकता है। सभी अरहन्त (भगवान) तीर्थकर अरहन्तों जैसे ही पूज्य हैं, उनकी पूज्यता में कोई अन्तर नहीं है। जैसे बाहुबली तीर्थकर नहीं थे, फिर भी सर्वज्ञ व वीतरागी होने से पूर्णतः पूज्य हैं, उनकी पाषाण प्रतिमाएँ आदिनाथ और महावीर जैसी ही पूजी जाती हैं; क्योंकि वीतरागता व सर्वज्ञता – ये दो लक्षण तीर्थकर भगवान व शेष अरहन्त भगवानों में समान रूप से पाए जाते हैं।

इन्हीं पंचकल्याणकों के आधार पर नवनिर्मित जिनबिम्ब की शुद्धि करने के लिए जैनमतानुयायी पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव करते हैं, जोकि मूल पंचकल्याणक की ही कल्पना है। जैन विद्वान इसे असली पंचकल्याणक की असल नकल (सत्य प्रतिलिपि) कहते हैं, जिसमें आरोप द्वारा प्रतिमा में तीर्थकर भगवानों की स्थापना होती है। जैनमान्यतानुसार पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति (जिनबिम्ब) ही पूजनीय हैं।

इनमें जो जीव जन्म से ही तीर्थकर प्रकृति लेकर उत्पन्न होते हैं, उनके ही पाँच कल्याणक होते हैं; परन्तु जिसने अन्तिम भव में ही तीर्थकर प्रकृति का बंध किया हो, उसको यथासंभव तीन व दो कल्याणक ही होते हैं। कल्याणक महोत्सव की अपेक्षा तीर्थकर तीन प्रकार के होते हैं –

पाँच कल्याणक वाले, तीन कल्याणक वाले और दो कल्याणक वाले–

(i) **पाँच कल्याणक वाले तीर्थकर** :- जिन सयोगकेवली तीर्थकर परमात्माओं ने पूर्वभव में तीर्थकर नामकर्म प्रकृति का बंध किया हो, उनके ही गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, तपकल्याणक, केवलज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक – इस प्रकार पाँच कल्याणक होते हैं।

(ii) **तीन कल्याणक वाले तीर्थकर** :- जिन जीवों ने अपने वर्तमान मनुष्य भव के चौथे (अविरत सम्यक्त्व) या पाँचवें (देशविरत) गुणस्थान में तीर्थकर प्रकृति का बंध प्रारंभ किया है; उनके तप, केवलज्ञान और निर्वाण हूँ ऐसे तीन ही कल्याणक होते हैं।

(iii) **दो कल्याणक वाले तीर्थकर** :- जिन चरमशरीरी भव्य आत्माओं ने वर्तमान मनुष्य भव में ही छठवें या सातवें गुणस्थान में तीर्थकर प्रकृति का बंध किया है, उनके मात्र केवलज्ञान और निर्वाण कल्याणक – ऐसे दो ही कल्याणक होते हैं।

तीन कल्याणक और दो कल्याणक वाले तीर्थकर महाविदेह क्षेत्र में ही होते हैं तथा वे महाविदेह के जिस क्षेत्र में दूसरे तीर्थकर न हों वहाँ ही होते हैं। महाविदेह क्षेत्र के अलावा भरत-ऐरावत क्षेत्रों में जो तीर्थकर होते हैं; उन सभी को नियम से पाँच कल्याणक होते हैं।

जिसप्रकार सभी मॉनीटर कक्षा के छात्र होते हैं, पर कक्षा के सभी छात्र मॉनीटर नहीं होते; उसीप्रकार सभी तीर्थकर अरहन्त भगवान तो नियम से होते हैं; किन्तु सभी अरहन्त भगवान तीर्थकर नहीं होते।

सामान्य अरहन्त (केवली)

तीर्थकरों के अलावा शेष सब सामान्य अरहन्त या सामान्य केवली कहलाते हैं। केवली अनन्त हो सकते हैं। बाह्य कारणों की अपेक्षा केवली भी अनेक प्रकार के होते हैं –

(i) **सातिशय केवली** :- गंधुकटी से युक्त होते हैं, कदाचित् उपदेश भी देते हैं।

(ii) **मूक केवली** :- इनका उपदेश नहीं होता।

(iii) **उपसर्ग केवली** :- मुनि अवस्था में उपसर्ग हो, उसी उपसर्ग अवस्था में जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त होता है; उन्हें उपसर्ग केवली कहते हैं।

(iv) **अन्तःकृत केवली** :- ध्यानारूढ़ अवस्था में विराजमान जिन मुनिराजों को पूर्व भव या इस भव का वैरी देव अथवा विद्याधरादि उठाकर आकाश में ले जाते हैं और ऊपर से समुद्र या अग्नि में अथवा पहाड़ पर फेंक देते हैं। ऐसे अत्यन्त प्रतिकूल अवसरों पर आकाश से नीचे समुद्र या अग्नि में गिरने से पहिले अथवा पहाड़ से टकराने के पहिले ही सयोगकेवली होकर अंतर्मुहूर्त में सिद्धपद प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें अंतःकृत

केवली कहते हैं, अर्थात् जिन्होंने अंतर्मुहूर्त में ही संसार का अंत कर दिया है, आठों कर्मों का अंत कर दिया है; वे अंतःकृत केवली कहलाते हैं।

अंतर्मुहूर्त में ही सयोगकेवली, अयोगकेवली दशा पार कर सिद्धकेवली बनने के कारण इनके भी उपदेशादि का प्रसंग बन ही नहीं सकता।

(v) **समुद्घातकेवली** :- जिन सयोगी जिनेन्द्र परमात्मा के आयुकर्म की स्थिति कम हो और वेदनीयादि तीन अघाति कर्मों की स्थिति अधिक हो तो उन्हें आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने को केवली समुद्घात कहते हैं। ऐसे समुद्घात को करनेवाले तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनेन्द्र को समुद्घातगत केवली कहते हैं।

गुणस्थान अपेक्षा भेद ह्य

सभी सकल परमात्माओं की दो अवस्थाएँ होती हैं - अर्थात् गुणस्थान अपेक्षा इनके दो भेद हैं -

(i) सयोग केवली और (ii) अयोग केवली

(i) **सयोग केवली** :- योग सहित होने के कारण 13वें गुणस्थानवर्ती समस्त अरहन्त (तीर्थंकर, अरहंत व केवली) सयोग केवली कहलाते हैं। सयोग केवली अरहंतों का इच्छा रहित उपदेश होता है। समस्त अरहंत भगवानों के विहार, उपदेशादि क्रियाएँ इसी गुणस्थान में होती हैं। सयोग केवली सिद्ध होने से पूर्व नियम से अयोग केवली होते हैं। इस गुणस्थान से ही मुनिराज को परमात्मा कहा जाता है।

(ii) **अयोग केवली** :- सयोग केवली परमात्मा ही शरीर में रहते हुए भी योग-निरोध के कारण अयोग केवली कहलाने लगते हैं। योग-निरोध होने से मन-वचन-काय के निमित्त से होनेवाला आत्मप्रदेशों का कंपन रुक जाता है; अतः आत्मा और शरीर का एकक्षेत्रावगाह संबंध पूर्ववत् होने पर भी निमित्त-नैमित्तिक संबंध का अभाव हो जाता है।

पूर्ण संवर व पूर्ण निर्जरा अयोग केवली को ही होती है। अयोग केवली गुणस्थान सकल परमात्मा का ही है। यह अंतिम गुणस्थान है। अयोग केवली गुणस्थान से सिद्धदशा में ही गमन होता है।

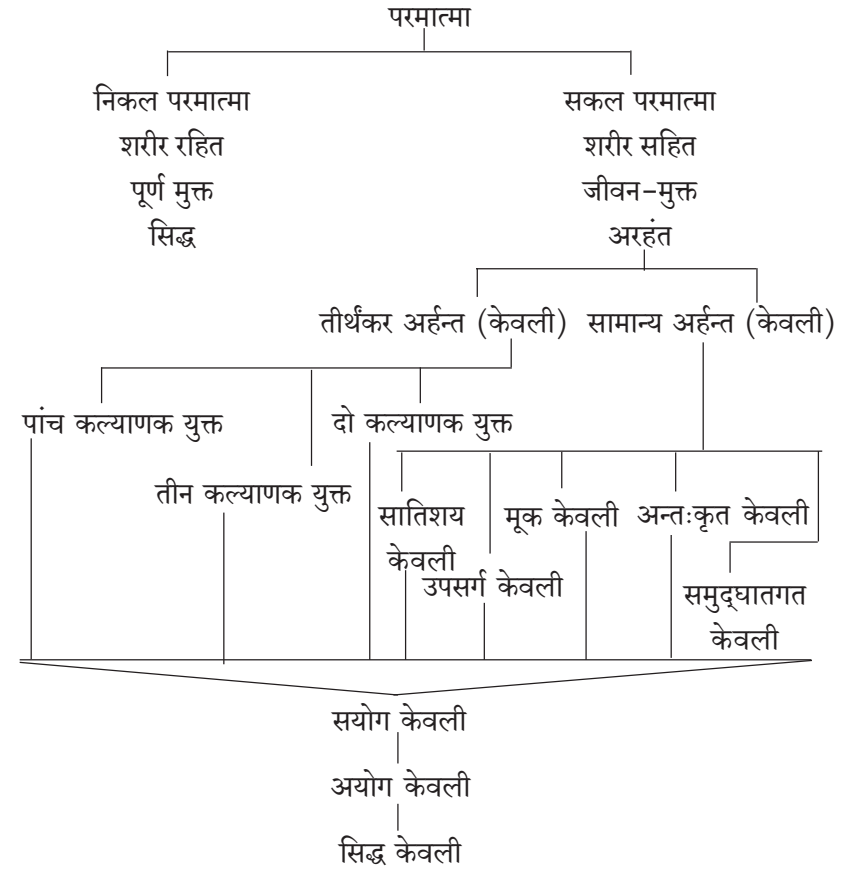
इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में 13वें व 14वें गुणस्थानवर्ती

भगवान को ही परमात्मा, जिन, केवली, अरहंत, तीर्थंकर आदि अलग-अलग नामों से अलग-अलग अपेक्षाओं से कहा गया है।

वस्तुतः तो परमात्मा की दो ही अवस्थाएँ हैं - चारघातिकर्मों रहित, शरीर सहित अरहंत व अष्टकर्म रहित शरीर रहित सिद्ध।

सभी अरहंत चाहे वे सामान्य केवली हों या तीर्थंकर केवली हों; अंत में सिद्धपद को ही प्राप्त होते हैं।

परमात्मा के भेद-प्रभेदों को निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है।



उक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैन मान्यतानुसार अरहंत भगवान तो अनन्त हो सकते हैं, पर भरतक्षेत्र में एक युग में तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं।

तृतीय अध्याय सम्यग्दर्शन

मुक्ति के मार्ग में सम्यग्दर्शन का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इसके बिना ज्ञान, चारित्र, व्रत, तप आदि सब वृथा हैं।

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान व चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है। अतः सम्यग्दर्शन के बिना नियम से सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र नहीं होते। जिनागम में स्पष्ट कहा है कि - जिसप्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम संभव नहीं है; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम (मोक्ष) होना संभव नहीं है। सम्यग्दर्शन तो धर्म का मूल है।

यदि जीव एक बार भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ले तो उसका संसार सीमित हो जाता है, उसके अनन्त भव नहीं रहते।

सम्यग्दर्शन चारों ही गतियों में संज्ञी (मनसहित) पर्याप्तक¹ भव्यजीवों को ही होता है, असंज्ञी व अपर्याप्तक व अभव्यों को नहीं। मनुष्य गति में 8 वर्ष की उम्र के पश्चात् ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की योग्यता होती है।

1. सभी जीव शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने पर पर्याप्तक कहलाते हैं। पर्याप्ति छह होती है - आहार, शरीर, श्वास, इन्द्रिय, भाषा और मन। जिन जीवों को शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती वे जीव अपर्याप्तक कहलाते हैं। अपर्याप्तक जीव दो प्रकार के होते हैं -
(अ) निवृत्ति अपर्याप्तक (ब) लब्धि अपर्याप्तक
(अ) जिन जीवों को शरीर पर्याप्ति वर्तमान में पूर्ण नहीं हुई है; पर भविष्य में पूर्ण हो जावेगी, वे जीव निवृत्ति अपर्याप्तक कहलाते हैं।
(ब) जिन जीवों को शरीर पर्याप्ति कभी पूर्ण नहीं होती अर्थात् जो शरीर पर्याप्ति पूर्ण किए बिना ही मर जाते हैं, वे जीव लब्धि अपर्याप्तक कहलाते हैं।
छहों पर्याप्तियों का प्रारंभ युगपत् होता है; क्योंकि जन्मसमय से ही इनका अस्तित्व पाया जाता है। परन्तु पूर्णता क्रम से ही होती है। छहों पर्याप्तियों की शक्ति की पूर्णता एक अंतर्मुहुर्त में हो जाती है।

सम्यग्दर्शन में 'दर्शन' शब्द श्रद्धान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और सम्यक् पद विपरीताभिनिवेश (उल्टा अभिप्राय) के निषेध के लिए दिया गया है। अतः विपरीत अभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। जीव-अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - ये सात तत्त्व कहे गए हैं।¹ इनका स्वरूप - 'ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है' - ऐसा प्रतीति भाव ही तत्त्वार्थ श्रद्धान है, सम्यग्दर्शन है।

'तत्त्वार्थ' शब्द में 'तत्त्व' शब्द भाववाची है और 'अर्थ' वस्तुवाची। वस्तु और भाव दोनों का श्रद्धान अपेक्षित होने से 'तत्त्वार्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

विपरीताभिनिवेश रहित आत्मश्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है और विपरीताभिनिवेश रहित तत्त्वार्थश्रद्धान व देव-गुरु-धर्मादिक का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। ये दोनों सम्यक्त्व एक ही काल में पाए जाते हैं।

जैनमतानुसार सम्यग्दर्शन होने से पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं।

लब्धियाँ

ज्ञान आदि शक्ति विशेष को लब्धि कहते हैं। ये पाँच होती हैं ह (i) क्षयोपशम लब्धि (ii) विशुद्धिलब्धि (iii) देशनालब्धि (iv) प्रायोग्यलब्धि और (v) करणलब्धि।

उक्त पाँचों लब्धियों में प्रथम चार लब्धि भव्य व अभव्य दोनों को होती हैं। इनके होने पर सम्यग्दर्शन होने का कोई नियम नहीं है, किसी जीव को हो भी सकता है व किसी को नहीं भी हो; किन्तु पाँचवीं करणलब्धि उस भव्यजीव को ही होती है; जिसे अंतर्मुहुर्त में सम्यग्दर्शन होना होता है।

(i) क्षयोपशमलब्धि :- जिसके होने पर तत्त्वविचार करने की शक्ति हो ह ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम होना ही क्षयोपशमलब्धि है। क्षयोपशमलब्धि के बिना जीव को तत्त्व समझ में नहीं आता है।

(ii) विशुद्धिलब्धि :- मोह के मन्द उदय होने से तत्त्व विचार करने में उद्यम होना ही विशुद्धिलब्धि है। विशुद्धिलब्धि के बिना जीव तत्त्व को

समझने का प्रयास ही नहीं करता। मन्दकषायरूप भाव होने पर यह लब्धि होती है।

(iii) **देशनालब्धि** :- जिनोपदिष्ट तत्त्व को सुनकर, पढ़कर, चिंतन करके सही निर्णय पर पहुँचना ही देशनालब्धि है। देशनालब्धि में बाह्य निमित्त वीतरागी सर्वज्ञ देव, उनकी वाणी और उसके अनुसार लिखे शास्त्र व आत्मानुभवी तत्त्वज्ञ ज्ञानीजन होते हैं। जिनसे सच्चे उपदेश की प्राप्ति होती है। जहाँ नरकादि में उपदेश का निमित्त न हो, वहाँ वह पूर्व संस्कार से होती है।

(iv) **प्रायोग्यलब्धि** :- देशनालब्धि द्वारा निर्णीत आत्मतत्त्व में वृद्धिगत रुचि का परिपाक ही प्रायोग्यलब्धि है। इससे परिणामों में विशुद्धता की वृद्धि होती जाती है।

परिणामों में विशुद्धता होने पर पूर्वकर्मों की सत्ता कम होती जाती है, नवीन बंध भी क्रमशः घटते जाते हैं तथा अनेक पाप प्रकृतियों का बंध मिटता जाता है।

(v) **करणलब्धि** :- करणलब्धि वाले जीव को बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि तत्त्वविचार में ही उपयोग तद्रूप होकर लगे, जिससे समय-समय पर परिणाम निर्मल होते जाते हैं। इस करणलब्धि के तीन भेद हैं (क) अधःकरण (ख) अपूर्वकरण और (ग) अनिवृत्तिकरण।

(क) **अधःकरण** :- करण परिणाम को कहते हैं। जहाँ पहिले व पिछले समय वाले जीवों के परिणाम समान भी हो सकते हैं व अधिक हीन विशुद्धता सहित भी हो सकते हैं, वह अधःकरण है। जैसेहकिसी जीव के परिणाम पहले समय में अल्पविशुद्धता सहित हुए तथा बाद में समय-समय अनन्तगुनी विशुद्धता बढ़ती गई। अनन्तगुणा विशुद्धता बढ़ते हुए उसके द्वितीय-तृतीय आदि समयों में जैसे परिणाम होते हैं वैसे परिणाम किसी अन्य जीव के प्रथम समय में ही हो जाते हैं तथा इनके परिणाम भी द्वितीय-तृतीय आदि समय में प्रथम समय से अनन्तगुनी विशुद्धता सहित ही होते हैं।

इस करण में प्रत्येक जीव के परिणाम प्रथम समय से द्वितीयादि समय में

अनन्तगुणी विशुद्धता सहित ही होते हैं। विशेष इतना कि किसी जीव के द्वितीय-तृतीय समय में जैसे परिणाम होते हैं वैसे परिणाम किसी अन्य जीव के प्रथम समय में भी हो सकते हैं।

(ख) **अपूर्वकरण** :- जिसमें पहिले व पिछले समय वालों के परिणाम समान न हों, अपूर्व ही हों, वह अपूर्वकरण है। इस करण में एक समय वालों के परिणाम तो परस्पर समान या असमान होते हैं; परन्तु भिन्न-भिन्न समय वालों के परिणाम समान नहीं होते, अपूर्व ही होते हैं। प्रथम समय वालों के उत्कृष्ट परिणामों से द्वितीयादि समय वालों में जघन्य परिणाम भी अनन्तगुनी विशुद्धता सहित ही होते हैं।

(ग) **अनिवृत्तिकरण** :- जिसमें समान समय वाले जीवों के परिणाम भेद से रहित समान ही होते हैं तथा प्रथमादि समय वालों से द्वितीयादि समय वालों के परिणाम अनन्तगुनी विशुद्धता सहित होते हैं; वह अनिवृत्तिकरण है।

सम्यग्दर्शन के भेद

सम्यग्दर्शन स्वतः या किसी के उपदेश से या जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन आदि के निमित्त से काल पकने पर भव्यजीवों को ही उत्पन्न होता है; अतः अलग-अलग अपेक्षाओं से सम्यग्दर्शन के अनेक भेद जैनदर्शन में बताए गए हैं -

(i) **उत्पत्ति की अपेक्षा भेद** :- उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं - निसर्गज और अधिगमज¹। जो दूसरे के उपदेशादि के बिना स्वयमेव (पूर्व में तत्त्व के श्रवण, ग्रहण, धारण से) उत्पन्न होता है, उसे **निसर्गज-सम्यग्दर्शन** कहते हैं। जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेशादि से उत्पन्न होता है, उसे **अधिगमज सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में अनादि मिथ्यादृष्टि को देशनालब्धि (उपदेश श्रवण) आवश्यक है। यहाँ विशेष इतना है कि अधिगमज सम्यग्दर्शन को तो साक्षात् सत्समागम प्राप्त होता है, किन्तु निसर्गज सम्यग्दर्शन को पूर्व में सुने गए उपदेश के संस्कारवश सम्यग्दर्शन होता है।

(ii) निमित्त की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के भेद : ह्य अन्य निमित्तादि की अपेक्षा सम्यक्त्व के दस भेद हैं - आज्ञा सम्यक्त्व, मार्ग सम्यक्त्व, उपदेश सम्यक्त्व, सूत्र सम्यक्त्व, बीज सम्यक्त्व, संक्षेप सम्यक्त्व, विस्तार सम्यक्त्व, अर्थ सम्यक्त्व, अवगाढ सम्यक्त्व और परमावगाढ सम्यक्त्व ।

दर्शनमोह के उपशान्त होने पर जिन आज्ञा मानने से जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है, वह 'आज्ञा सम्यक्त्व' है ।

दर्शनमोह का उपशम होने से निर्ग्रन्थमार्ग के अवलोकन से जो मोक्षमार्ग का श्रद्धान होता है; उसे 'मार्ग सम्यक्त्व' कहते हैं ।

तिरेसठ श्लाका पुरुषों के पुराण के उपदेश से जो तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है, उसे 'उपदेश सम्यक्त्व' कहते हैं ।

मुनि के चारित्रानुष्ठान को सूचित करने वाले आचारसूत्र को सुनकर जो तत्त्वश्रद्धान होता है, उसे 'सूत्र सम्यक्त्व' कहते हैं ।

जिन जीवादि पदार्थों के समूह का अथवा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है; उनका किन्हीं बीजपदों द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवाले भव्यजीव के दर्शनमोहनीय के असाधारण उपशम होने पर जो तत्त्वश्रद्धान होता है; उसे 'बीज सम्यक्त्व' कहते हैं ।

जो भव्य जीव पदार्थों के स्वरूप को संक्षेप में ही जानकर तत्त्वश्रद्धान करते हैं, उसे 'संक्षेप सम्यक्त्व' कहते हैं ।

जो भव्य जीव 12 अंगों को सुनकर तत्त्वश्रद्धानी होते हैं; उसे 'विस्तार सम्यक्त्व' कहते हैं ।

जैनागमों के वचन के बिना ही किसी अर्थ के निमित्त से हुई अर्थदृष्टि 'अर्थ सम्यक्त्व' है ।

श्रुतकेवली के तत्त्वश्रद्धान को 'अवगाढ सम्यक्त्व' कहते हैं ।

केवलज्ञानी के तत्त्वश्रद्धान को 'परमावगाढ सम्यक्त्व' कहते हैं ।

सम्यग्दर्शन के उक्त भेदों में प्रथम आठ भेद तो कारण अपेक्षा से कहे गए हैं तथा अन्तिम दो भेद ज्ञान के सहकारीपने की अपेक्षा किए गए हैं ।

(iii) दर्शनमोह कर्म अपेक्षा सम्यग्दर्शन के भेद :- दर्शनमोह की प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम और क्षयरूप होने से सम्यग्दर्शन क्रमशः तीन प्रकार का है - (क) औपशमिक (ख) क्षायोपशमिक (ग) क्षायिक ।

(क) औपशमिक सम्यग्दर्शन :- आत्मश्रद्धान के बल से दर्शनमोह और चारित्रमोह के अनन्तानुबंधी कषाय चौकड़ी के उदय के उपशान्त होने पर उपशम सम्यग्दर्शन होता है । जहाँ सत्ता पाई जाए और उदय न पाया जाए उसे उपशम कहते हैं । अतः इस सम्यग्दर्शन के काल में दर्शनमोह की सत्ता तो बनी ही रहती है; इसलिए यह अंतर्मुहूर्त कालपर्यंत ही रहता है । बाद में कोई जीव दर्शनमोह की मिथ्यात्वप्रकृति का उदय आने पर मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है अथवा कोई जीव अनंतानुबंधी चार में से किसी एक कषाय का उदय आने पर सासादन सम्यग्दृष्टि होता है अथवा कोई जीव दर्शनमोहनीय की मिश्र प्रकृति का उदय होने पर सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है । अथवा कोई जीव दर्शनमोहनीय की सम्यक्प्रकृति का उदय होने पर औपशमिक सम्यक्त्व से क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है ।

आत्मश्रद्धान की अपेक्षा यह सम्यग्दर्शन क्षायिक सम्यग्दर्शन जैसा ही निर्मल व संदेह रहित होता है । यह चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है । इसके दो भेद हैं - प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन ।

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन :- जब जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में करण द्वारा दर्शनमोह का उपशम करके जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । अतः प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने वाला जीव नियम से मिथ्यादृष्टि ही होता है ।

अनादिकालीन मिथ्यादृष्टि जीव को सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन ही होता है ।

इस सम्यग्दर्शन को प्राप्त होने वाले जीव को अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण के भेद से क्रमशः तीन प्रकार की विशुद्धियाँ होती हैं । अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय मिथ्यात्व का व्यय व सम्यक्त्व का उत्पाद

होने से प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। अनादि मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्व मोहनीय व मिश्रमोहनीय प्रकृतियों की सत्ता न होने से एक मिथ्यात्व कर्म का ही उपशम होता है।

सादि मिथ्यादृष्टि को भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में पूर्वोक्त पाँचों लब्धियाँ होती हैं – विशेष इतना कि यहाँ किसी जीव के एक प्रकृति की व किसी जीव के तीन प्रकृतियों की भी सत्ता होती है। अतः जिसको जैसी सत्ता होती है, वह उनका उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्वी होता है।

सादि मिथ्यादृष्टि को यदि थोड़े समय मिथ्यात्व का उदय रहे तो उसका बाह्य जैनीपना नष्ट नहीं होता और तत्त्वों का अश्रद्धान व्यक्त नहीं होता तथा विचार किए बिना ही अथवा थोड़े विचार से ही उसे पुनः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है; लेकिन यदि बहुत काल तक मिथ्यात्व का उदय रहे तो जैसी अनादि मिथ्यादृष्टि की दशा होती है, वैसी ही इनकी भी दशा हो जाती है; गृहीत मिथ्यात्व को भी ग्रहण कर लेता है और निगोदादि में भी चला जाता है।

सादि मिथ्यादृष्टि जीव को हुआ सम्यग्दर्शन भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन कहलाता है; क्योंकि यहाँ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन से तात्पर्य प्रथम बार हुआ सम्यग्दर्शन न होकर 'प्रथम गुणस्थान से प्राप्त' सम्यग्दर्शन है।

यह सम्यग्दर्शन चतुर्थगुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक पाया जाता है।

द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन :- सप्तम गुणस्थान में क्षयोपशम सम्यग्दर्शन से जो उपशम सम्यग्दर्शन होता है, उसे द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसमें करणों द्वारा तीन प्रकृतियाँ उपशम होती है; क्योंकि इसमें तीन की सत्ता पाई जाती है। यह सप्तम से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक रहती है। गिरते हुए किसी के छठवें, पाँचवें व चौथे गुणस्थान में भी रहता है।

(ख) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन :- प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन का काल पूर्ण होने पर यह सम्यग्दर्शन होता है व सादि मिथ्यादृष्टि जीव को मिथ्यात्व गुणस्थान व मिश्र गुणस्थान से भी इसकी प्राप्ति होती है। जब जीव को दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों में से सम्यक्त्व मोहनीय का उदय हो, अन्य दो

का उदय न हो तब क्षयोपशम¹ सम्यग्दर्शन होता है। इसको गुणश्रेणी आदि क्रिया नहीं होती तथा अनिवृत्तिकरण भी नहीं होता।

इस क्षयोपशम सम्यग्दर्शन को ही 'वेदक सम्यग्दर्शन' कहते हैं। जहाँ पर मिथ्यात्व मिश्र मोहनीय की मुख्यता से कथन किया जाता है, वहाँ क्षयोपशम कहा जाता है तथा जहाँ सम्यक्त्व मोहनीय की मुख्यता से कथन किया जाता है, वहाँ वेदक सम्यग्दर्शन कहा जाता है। यह चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक होता है।

(ग) क्षायिक सम्यग्दर्शन :- वेदक सम्यग्दर्शन ही इस सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। दर्शनमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है, उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसमें प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता नहीं पाई जाती है क्योंकि यह सात प्रकृतियों के क्षय से होता है; अतः क्षायिक सम्यग्दर्शन का कभी नाश नहीं होता, जबसे उत्पन्न होता है; तबसे सिद्ध दशा पर्यन्त इसका सद्भाव रहता है।

यह नरकगति में केवल प्रथम पृथ्वी में होता है, अन्य में नहीं। कर्मभूमिज मनुष्यों में यह केवली, श्रुतकेवली या तीर्थंकर के पादमूल में ही होता है। देवगति में भवनत्रिक व सर्वदेवियों के भी नहीं होता तथा तिर्यचगति में तिर्यचनियों के नहीं होता है।

सम्यग्दर्शन के अंग

सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं :- (i) निःशंकित (ii) निःकांक्षित (iii) निर्विचिकित्सा (iv) अमूढदृष्टि (v) उपबृंहण या उपगूहन (vi) स्थितिकरण (vii) वात्सल्य और (viii) प्रभावना।

(i) भय का अभाव अथवा तत्त्वों में शंका का अभाव **निःशंकित** अंग है।

(ii) पर द्रव्यादि में राग रूप वाँछा का अभाव **निःकांक्षित** अंग है।

1. मिथ्यात्व व मिश्र मिथ्यात्व के वर्तमानकाल में उदय आने वाले योग्य निषेकों का उदय आए बिना ही जो निर्जरा होती है, उसे 'क्षय' कहते हैं और उन्हीं के आगामी काल में उदय में आने योग्य निषेकों की सत्ता पाई जाए, उसे 'उपशम' कहते हैं। जहाँ इन दोनों के साथ-साथ सम्यक्त्व मोहनीय का उदय पाया जाता है, उसे क्षयोपशम कहते हैं।

- (iii) पर द्रव्यादि में द्वेषरूप ग्लानि का अभाव निर्विचिकित्सा अंग है।
 (iv) तत्त्वों में व देवादिक में अन्यथा प्रतीति रूप मोह का अभाव अमूढदृष्टि अंग है।
 (v) आत्मधर्म की वृद्धि व परदोषों का गूहन (छुपाना) ही उपबृंहण या उपगूहन अंग है।
 (vi) विकारी भावों द्वारा स्वात्मा से विचलित स्व-पर को स्वात्मा में स्थिर करना स्थितिकरण अंग है।
 (vii) स्वरूप में, जिनधर्म में व धर्मात्मा जीवों में अति प्रीतिभाव वात्सल्य अंग है।
 (viii) अपने स्वरूप की व जिनधर्म की महिमा प्रगट करना प्रभावना अंग है।

ये आठ अंग सम्यग्दर्शन प्रगट होते ही ज्ञानी आत्मा के सहज ही प्रगट हो जाते हैं। परिणामस्वरूप उनके जीवन में सामान्यजन की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ प्रगट हो जाती हैं।

जैनमतानुसार आत्मानुभूति सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए अनिवार्य शर्त है। इसके बिना समस्त प्रयत्न निरर्थक हैं। आत्मानुभूति को स्वानुभूति भी कहते हैं; क्योंकि अनुभूति अपने आत्मा की ही होती है, अन्य आत्मा की नहीं। अपनी आत्मा का भी स्वरूप से अनुभव करना कि 'ये ही मैं हूँ, शरीरादि परपदार्थ मैं नहीं' - इसप्रकार विचारकर जब जीव अपने आप में एकाकार होकर आत्मा में एकत्व करता है, आत्मा में ही तन्मय होता है; तब आत्मानुभूति होती है।

संक्षेप में कहें तो जैनमतानुसार निश्चय से 'आत्मश्रद्धान' व्यवहार से 'जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान' सम्यग्दर्शन है।

सामान्यरूप से जीव और अजीव दो ही तत्त्व हैं। आस्रवादिक तो जीव-अजीव के ही विशेष हैं।

जैनग्रन्थों में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल का वर्णन द्रव्यव्यवस्था के अन्तर्गत किया गया है तथा जीव, अजीव और इनके विशेष आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष का वर्णन तत्त्वव्यवस्था के अन्तर्गत किया गया है। जिनका वर्णन क्रमशः आगे किया जाएगा।

द्रव्यव्यवस्था

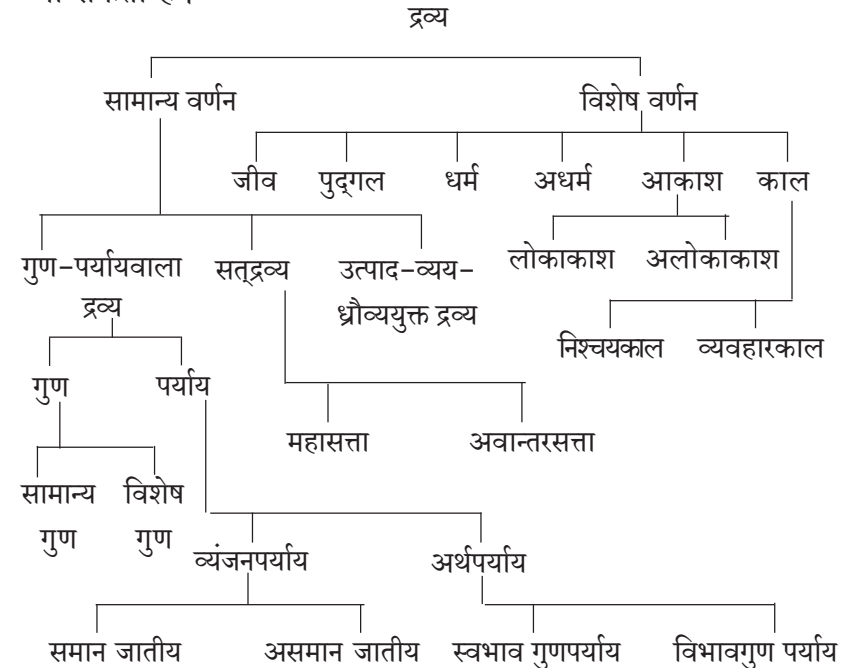
जैनग्रन्थों में द्रव्य का वर्णन दो प्रकार से मिलता है - सामान्य द्रव्य वर्णन और विशेष द्रव्य वर्णन।

सामान्य द्रव्य वर्णन में पदार्थों के उस सामान्य स्वरूप का वर्णन किया गया है, जिस कारण समस्त पदार्थ 'द्रव्य' कहलाते हैं। समस्त द्रव्यों की समानता दर्शाना ही सामान्य द्रव्य वर्णन का प्रयोजन है।

विशेष द्रव्य वर्णन में प्रत्येक द्रव्य के जो अलग-अलग लक्षण हैं, उनका वर्णन करते हुए द्रव्य के भेद-प्रभेदों पर भी प्रकाश डाला गया है। समस्त द्रव्यों की परस्पर भिन्नता दर्शाना ही विशेष द्रव्य वर्णन का प्रयोजन है।

प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम विभिन्न जैनग्रन्थों में उपलब्ध द्रव्य सामान्य की तीन प्रमुख परिभाषाएँ देकर उन पर पृथक्-पृथक् विस्तार से विवेचन किया गया है।

इसमें वर्णित की गई विषयवस्तु को निम्न चार्ट द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है।



सामान्य द्रव्य वर्णन

‘सत् द्रव्य लक्षणम्’¹ द्रव्य का लक्षण सत् है।

‘उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्’² सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्य से संयुक्त होता है।

‘गुण समुदायो द्रव्यमेति’ गुणों का समुदाय द्रव्य होता है।

‘गुण पर्यायवद् द्रव्यम्’³ गुण और पर्यायों वाला द्रव्य है।

‘द्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।

गुणपज्जयालयं वा जं तं भण्णंति सव्वणहु’⁴।’

जो ‘सत्’ लक्षणवाला है, उत्पाद-व्यय-द्रव्य-ध्रौव्य संयुक्त है और गुण-पर्यायों का आश्रय है, उसे द्रव्य कहते हैं।

‘अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययधुवत्वसंबद्धम्।

गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति’⁵।’

अपने स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त होता है, गुण युक्त और पर्याय सहित है उसे द्रव्य कहते हैं। अर्थात् अपने स्वरूप अस्तित्व को छोड़े बिना जो सादृश्य अस्तित्व में शामिल हैं, उसे द्रव्य कहते हैं।

उक्त परिभाषाएँ विभिन्न ग्रन्थों में भिन्न परिप्रेक्ष्य में कही गई हैं। यद्यपि ऊपर से देखने पर वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं; किन्तु गहराई से विचार करने पर सभी का एक ही अभिप्राय है। उक्त परिभाषाओं में द्रव्य का लक्षण निम्नप्रकार से कहा गया है।

1. द्रव्य का लक्षण सत् है।
2. सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त होता है; अतः द्रव्य भी उत्पाद-व्यय ध्रौव्यमय है।
3. द्रव्य गुण और पर्याय वाला है।

1. तत्त्वार्थसूत्र; सूत्र - 5/29 2. वही; 5/30 3. तत्त्वार्थसूत्र, 5/38
4. पंचास्तिकायसंग्रह; गाथा-10 5. प्रवचनसार; गाथा-95

उक्त तीनों लक्षण परस्पर अविनाभावी हैं। जहाँ एक हो वहाँ शेष दोनों नियम से होते ही हैं।

तीनों लक्षणों में अविनाभावपना को स्पष्ट करते हुए जैनशास्त्रों में कहा गया है कि -

‘वास्तविक सत् नित्यानित्यस्वरूप होता है। उसमें उत्पाद-व्यय-अनित्यता को और ध्रौव्य नित्यता को बतलाता है; इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नित्यानित्य स्वरूप वास्तविक सत् को बतलाते हैं। इसप्रकार ‘उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाला’ कहने में ‘वह सत् है’ - ऐसा भी बिना कहे ही आ जाता है।

यदि गुण हों तो ही ध्रौव्य होता है, यदि पर्याय हों तो ही उत्पाद-व्यय होता है; इसलिए यदि गुण-पर्याय न हों तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अपने स्वरूप को प्राप्त हो ही नहीं सकते। इसप्रकार ‘द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाला’ है कहने में वह ‘गुणपर्याय वाला’ भी सिद्ध हो जाता है।

गुण अन्वय द्वारा ध्रौव्य को सूचित करते हैं और पर्याय व्यतिरेक द्वारा उत्पाद-व्यय को सूचित करती हैं। तथा गुण अन्वय द्वारा नित्यता को बतलाते हैं और पर्याय व्यतिरेक द्वारा अनित्यता को बतलाती हैं - इसप्रकार वे नित्यानित्यस्वरूप सत् को बतलाते हैं। अतः द्रव्य को ‘गुणपर्यायवाला’ कहने में ‘वह सत्’ है - यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य और सत् - ये तीनों द्रव्य के अविनाभावी लक्षण हैं; जिनके बारे में विस्तार से पृथक्-पृथक् विवेचन आगे किया जाएगा।

द्रव्य नित्य है या अनित्य - जैनमतानुसार द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी। उनके अनुसार गुणदृष्टि से पदार्थ नित्य होने पर भी पर्यायदृष्टि से अनित्य हैं; क्योंकि जिस पदार्थ में जितने गुण हैं, वे उसमें सदाकाल उतने ही बने रहते हैं, उनमें हानि या वृद्धि कभी भी नहीं होती। जिसप्रकार नाक, आँख, कान आदि पाँचों इन्द्रियाँ मनुष्य की बाल, युवा व वृद्धहृतीनों

अवस्थाओं में विद्यमान रहने की अपेक्षा नित्य कही जा सकती हैं; किन्तु उनमें निरंतर परिवर्तन भी होता रहता है। अतः परिवर्तन की अपेक्षा उन्हें अनित्य भी कहा जा सकता है। अथवा जीव द्रव्य के जो ज्ञान-दर्शनादि अनंतगुण हैं, वे जीव की प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक समय में विद्यमान रहते हैं; अतः गुणों की विद्यमानता की दृष्टि से जीवद्रव्य नित्य है; तथापि जीव की अलग-अलग अवस्थाओं में ज्ञानदर्शनादि की भिन्नता देखी जा सकती है; इसलिए पर्यायदृष्टि से जीवद्रव्य अनित्य भी है। इसीप्रकार सभी द्रव्य गुणों की दृष्टि से नित्य होने पर भी पर्यायदृष्टि से अनित्य भी हैं।

प्रत्येक वस्तु व उसमें रहनेवाले गुणों में उत्पाद-व्यय होता ही रहता है। अतः वस्तु नित्य होने पर भी अनित्य होती है।

गुण और पर्याय

‘गुणपर्यायवद् द्रव्यम्’ द्रव्य गुण और पर्यायवाला है।

द्रव्य, गुण और पर्यायों के समूह को पदार्थ कहते हैं। इस जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब द्रव्यमय हैं। द्रव्य गुणों के पिण्ड हैं, द्रव्य व गुणों से पर्यायें होती हैं अर्थात् द्रव्य अनन्त गुणों का और क्रम से होने वाली उनकी पर्यायों का पिण्ड है; इसलिए द्रव्य को गुण पर्याय वाला कहा गया है।

जिनसे धारा में एकरूपता बनी रहती है, वे गुण हैं और जिनसे उनमें भेद प्रतीत होता है, वे पर्यायें हैं। जैसे - जीव में ज्ञान की धारा का विच्छेद कभी नहीं होता; इसलिए ज्ञान गुण हैं, किन्तु कभी वह मतिज्ञान आदि रूप होता है और कभी केवलज्ञान रूप, इसलिए मतिज्ञान आदि उसकी पर्यायें हैं। द्रव्य सदा इन गुण-पर्यायों रूप रहता है, इसलिए द्रव्य को गुण-पर्यायवाला कहा गया है।

गुण :- द्रव्य के प्रत्येक प्रदेश में रहने वाले शक्त्यंश को गुण कहते हैं। अथवा जो द्रव्यों में अनादि से अनंत काल तक सर्वांग प्रदेशों में रहते हैं, उन्हें गुण कहते हैं अर्थात् जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में और उनकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं, उन्हें गुण कहते हैं।

गुण सदा द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और स्वयं निर्गुण होते हैं।¹ जैसे द्रव्य में गुण पाए जाते हैं, वैसे गुण में अन्य गुण नहीं पाए जाते हैं; अतएव गुण स्वयं विशेष (गुण) रहित होते हैं। इसप्रकार जैनमतानुसार द्रव्य आधार है व गुण आधेय हैं।

अनेकान्तात्मक वस्तु के अन्वयी विशेष गुण हैं। अन्वय अर्थात् एकरूपता, सदृशता। ‘यह वही है’ - ऐसे ज्ञान के कारणभूत एकरूपता ही अन्वय है। गुणों में सदैव सदृशता रहती है, इसलिए उनमें सदैव अन्वय है। अतः गुण द्रव्य के अन्वयी विशेष हैं।

प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण होते हैं, पर वे वस्तुस्वरूप होने के कारण स्वतः सिद्ध हैं। गुण युगपत् होते हैं। प्रत्येक द्रव्य में जितने भी गुण हैं, वे सदा एक साथ रहते हैं, उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती अर्थात् द्रव्य में अतीत काल में जितने और जो गुण थे, वर्तमान में भी उतने और वे ही गुण हैं। इसीप्रकार भविष्य में भी उतने और वे ही गुण रहेंगे; इसीलिए गुण ‘सहभावी’ भी कहलाते हैं।

यद्यपि द्रव्य में अनन्त गुण साथ-साथ रहते हैं, पर वे सदा ही एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न ही रहते हैं, जैसे - आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण अथवा आम में पीला रंग, मृदु स्पर्श, मीठा रस और उत्तम गंध - ये सब एक ही समय में होकर भी एक-दूसरे रूप कभी नहीं होते, जैसे - ज्ञानगुण दर्शनगुण रूप नहीं हो सकता, दर्शनगुण ज्ञानगुण रूप नहीं हो सकता अथवा आम में स्पर्शन इन्द्रिय का विषय मृदुस्पर्श, रसना इन्द्रिय के विषय रूप मीठा नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि आत्मा या अन्य द्रव्य में जितने भी गुण पाये जाते हैं; वे द्रव्य में एक साथ रहते हुए भी भिन्न-भिन्न हैं।

द्रव्य में पाए जाने वाले गुणों में तो न्यूनाधिकता नहीं होती है, किन्तु

द्रव्य के प्रत्येक गुण में तरतमभाव होने के कारण हीनाधिकता पाई जाती है। गुणों में तरतमभाव के कारण गुणांश¹ है, जिनकी न्यूनाधिकता के कारण गुण भी वैसा ही प्रतीत होने लगता है।

गुणों की द्रव्य से पृथक् कोई सत्ता नहीं होती। द्रव्य गुणों का भण्डार नहीं है, न ही गुण द्रव्य में रहते हैं; अपितु द्रव्य गुणों से तन्मय होता है, जैसे - शुक्लादि गुण और तन्तु - ये सर्वथा दो वस्तुएँ नहीं हैं; अपितु शुक्लादि गुणों से तन्तु तन्मय हो रहा है। गुण द्रव्य के सभी अवयवों में समान रूप से व्याप्त होकर रहता है।

गुण नित्य हैं या अनित्य - गुण नित्य भी हैं और अनित्य भी। गुणों की नित्यानित्यात्मकता को बताते हुए जैनशास्त्रों में कहा गया है कि सामान्य की अपेक्षा गुण नित्य होते हैं और गुणांशों की अपेक्षा अनित्य होते हैं।

गुण द्रव्य में एक साथ ही रहते हैं। द्रव्य के बिना गुण नहीं होते और गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता; इसलिए द्रव्य व गुणों में अभिन्नपना है। चूँकि द्रव्य नित्यानित्यात्मक है, इसलिए गुण भी द्रव्य से अभिन्न होने के कारण नित्यानित्यात्मक हैं। अथवा गुण, द्रव्य से पृथक् नहीं होते हैं; इसलिए द्रव्य का जो स्वभाव है; वही गुण का भी स्वभाव रहेगा। चूँकि, द्रव्य कथंचित् नित्य व कथंचित् अनित्य होता है, इसलिए गुण भी कथंचित् नित्य व कथंचित् अनित्य होते हैं। ऐसा नहीं होता कि कोई गुण वर्तमान में हो और कुछ काल बाद न रहे। जितने भी गुण हैं वे द्रव्य में सदा पाए जाते हैं, जैसे जीव में ज्ञानादि गुण व पुद्गल में रूपादि गुण सदा पाए जाते हैं। ऐसा समय न तो कभी हुआ है और न कभी हो सकता है कि जब जीव में ज्ञानादि गुण व पुद्गल में रूपादि गुण न रहें। अतः सिद्ध है कि गुण नित्य हैं। संक्षेप में कहें

1. गुण के सबसे जघन्य भेद को अंश कहते हैं। गुणों के अंशों को गुणांश कहते हैं; एक गुण में अनंत गुणांश होते हैं। इन्हीं गुणांशों को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं।

तो गुण विविध अवस्थाओं में रहकर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है; इसलिए वह नित्य है, जैसे - हरा आम पकने पर पीला हो जाता है; तथापि उससे रंग जुदा नहीं होता।

जैनमतानुसार किसी भी द्रव्य या गुण में विजातीय परिणमन नहीं होता। जीव बदलकर पुद्गल या अन्य द्रव्यरूप नहीं होता और पुद्गल या अन्य द्रव्य बदलकर जीवरूप नहीं होते। जीव सदा जीव ही बना रहता है और पुद्गल सदा पुद्गल ही रहता है, अर्थात् जो द्रव्य जिसरूप होता है, वैसा ही बना रहता है। जीव मनुष्य से देव हो सकता है, पर वह जीवत्व को कभी भी नहीं छोड़ता। अतः गुण नित्य हैं।

नित्यता का तात्पर्य यह नहीं है कि गुण सदा एक से ही बने रहें, उनमें किसीप्रकार का भी परिणमन न हो। गुणों में विजातीय परिणमन नहीं होता; उनमें सजातीय परिणमन तो होता ही है, जैसे जो आम वर्तमान में हरा होता है, वही कालान्तर में पीला हो जाता है, बुद्धि भी विषय के अनुसार बदलती रहती है - इसीप्रकार के अन्य परिणमन भी गुणों में होते रहते हैं; अतः गुण कथंचित् अनित्य भी हैं।

किसी वस्तु का अपने गुणों को छोड़कर दूसरा कोई अस्तित्व नहीं है, वस्तु नित्यानित्य है, इसलिए भी गुण कथंचित् नित्यानित्य सिद्ध होते हैं।

जैनपरम्परा में गुण और पर्यायों से द्रव्य को सर्वथा पृथक् नहीं माना है; किन्तु समुदाय रूप से गुण और पर्यायों को ही द्रव्य कहा है। अतः द्रव्य नाम की कोई वस्तु गुण और पर्यायों से पृथक् नहीं पाई जाती। इसलिए द्रव्य के नित्यानित्य सिद्ध होने पर उससे अभिन्न गुण भी कथंचित् नित्यानित्य सिद्ध होते हैं अथवा अपने स्वभाव का नाश न होने के कारण गुण नित्य हैं। वे बिना प्रयत्न के स्वभाव से ही प्रतिसमय परिणमन करते रहते हैं। वह परिणमन उनकी ही अवस्था है, उनसे जुदी नहीं है - अतः गुण अनित्य हैं, इस दृष्टि से भी गुण की नित्यानित्यता सिद्ध है।

द्रव्य व गुणों में अभेद होने पर भी उनमें कथंचित् भेद भी है; क्योंकि गुण स्वभाव हैं व द्रव्य स्वभाववान है; गुण लक्षण हैं और द्रव्य लक्ष्य है;

अतः द्रव्य व गुणों में लक्ष्य-लक्षण भेद होने पर भी स्वरूप भेद नहीं है; इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक द्रव्य के नित्यानित्य स्वरूप होने से गुण भी नित्यानित्यात्मक सहज ही सिद्ध होते हैं।

गुण के भेद ह

यद्यपि गुणत्व सामान्य की अपेक्षा सभी गुण समान हैं; तथापि उनमें उनके स्वभाव की अपेक्षा परस्पर भेद है। द्रव्य में दो प्रकार के गुण होते हैं -

1. साधारण (सामान्य), 2. असाधारण (विशेष)

1. जो गुण सामान्यरूप से सब द्रव्यों में पाए जाते हैं; वे साधारण गुण हैं। साधारण गुण सामान्य गुण कहलाते हैं, क्योंकि साधारण गुणों से द्रव्य सामान्य सिद्ध किया जाता है। जैसे 'सत्' - इस गुण से केवल द्रव्य सामान्य की सिद्धि की जाती है। इसीप्रकार नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, अगुरुलघुत्व आदि अनेक सामान्य गुण हैं। किन्तु उनमें छः मुख्य हैं :-

(i) अस्तित्व गुण (ii) वस्तुत्व गुण (iii) द्रव्यत्व गुण (iv) प्रमेयत्व गुण (v) अगुरुलघुत्व गुण और (vi) प्रदेशत्व गुण।

(i) अस्तित्व गुण - जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कभी भी नाश न हो, उसे अस्तित्व गुण कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य में अस्तित्व गुण है; अतः प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वयं से है। उसे किसी ने बनाया नहीं है और न कोई उसे मिटा ही सकता है; क्योंकि वह अनादि-अनंत है।

इसी गुण की अपेक्षा से द्रव्य का लक्षण 'सत्' कहा जाता है। 'सत्' का कभी विनाश नहीं होता तथा 'असत्' का कभी उत्पाद नहीं होता।

अस्तित्व गुण मात्र 'है' बतलाता है। मुझमें भी अस्तित्वगुण है; अतः मेरा कोई नाश नहीं कर सकता, ऐसा ज्ञान होने पर जीव में अनंत निर्भयता आ जाती है।

(ii) वस्तुत्व गुण ह जिस शक्ति के कारण द्रव्य में प्रयोजनभूत क्रिया हो, उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं। इस गुण की मुख्यता से ही द्रव्य को वस्तु

कहा जाता है। यह गुण बताता है कि लोक में कोई भी वस्तु पर के प्रयोजन की नहीं है, पर प्रत्येक वस्तु अपने-अपने प्रयोजन से युक्त है, निरर्थक नहीं है।

(iii) द्रव्यत्व गुण - जिस शक्ति के कारण द्रव्य की अवस्था निरंतर बदलती रहे, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं। इस गुण की मुख्यता से वस्तु को द्रव्य कहा जाता है। एक द्रव्य में परिवर्तन का कारण कोई दूसरा द्रव्य नहीं है, क्योंकि उसमें द्रव्यत्व गुण हैं; अतः उसके परिणमन में पर की अपेक्षा नहीं है। इसप्रकार द्रव्यत्व गुण द्रव्य की 'निरंतर परिणमनशीलता' बतलाता है।

(iv) प्रमेयत्व गुण ह जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी-न-किसी के ज्ञान का विषय हो, उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं।

(v) अगुरुलघुत्वगुण - जिस शक्ति के कारण द्रव्य में द्रव्यपन कायम रहता है अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं हो जाता, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता और द्रव्य में रहनेवाले अनंतगुण बिखर कर अलग-अलग नहीं हो जाते, उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं।

(vi) प्रदेशत्व गुण ह जिस शक्ति के कारण द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य रहता है, उसको प्रदेशत्व गुण कहते हैं।

जब जीव को यह ज्ञान होता है कि द्रव्य गुणों का पिण्ड है तथा हम जीवद्रव्य हैं; अतः हम भी गुणों के पिण्ड हैं, तब जीव में से 'हम दीन गुणहीन हैं' - ऐसी भावना निकल जाती है।

2. जो सब द्रव्यों में न रहकर अपने-अपने विशेष द्रव्य में रहते हैं; वे असाधारण गुण हैं। असाधारण गुण विशेष गुण कहलाते हैं। असाधारण गुणों से द्रव्य विशेष सिद्ध किया जाता है। जैसे - जीव के ज्ञानादि गुण व पुद्गल के रूप आदि गुण।

पर्याय - गुणों में होनेवाले प्रतिसमय के परिवर्तन (परिणमन) को पर्याय कहते हैं। द्रव्य में अंश कल्पना करना पर्यायों का स्वभाव है। अथवा अखण्ड एक वस्तु या गुण में विभाग किया जाना ही पर्याय है। अथवा स्वभाव व विभावरूप परिणमन पर्याय है।

अनेकात्मक वस्तु के व्यतिरेकी विशेष पर्यायें हैं।

व्यतिरेक अर्थात् भेद; एक का दूसरे रूप नहीं होना। 'यह वह नहीं है' – ऐसे ज्ञान के निमित्तभूत भिन्नरूपता ही व्यतिरेक हैं। एक पर्याय दूसरी पर्याय रूप न होने से पर्यायों में परस्पर व्यतिरेक है, इसलिए पर्यायों व्यतिरेकी विशेष हैं। यह व्यतिरेक स्थूल व्यंजनपर्यायों में स्पष्ट भासित होता है।

पर्यायों द्रव्य में क्रमशः होती हैं; अतः वे क्रमवर्ती हैं। अर्थात् द्रव्य में पर्यायों एक के बाद एक इस क्रम से आती हैं। प्रतिसमय एक पर्याय का स्थान दूसरी पर्याय लेती रहती है। यह नहीं हो सकता कि एक पर्याय के रहते हुए दूसरी पर्याय आ जाय; अतः स्वभावतः पर्यायों में क्रम घटित हो जाता है। अथवा प्रत्येक द्रव्य की जो त्रिकाल भावी अनन्तपर्याय हैं; वे द्रव्य में सदा सब नहीं पाई जाती, किन्तु प्रत्येक समय से जुड़ी-जुड़ी होने से क्रमवर्ती हैं।

द्रव्य के बिना पर्यायों नहीं होतीं तथा पर्यायों के बिना द्रव्य भी नहीं होता – इसलिए द्रव्य व पर्यायों में अनन्यपना है।

पर्यायों द्रव्य से अनन्य होने पर भी कथंचित् भिन्न भी हैं; क्योंकि पर्याय स्वभाव है, द्रव्य स्वभाववान है, पर्याय लक्षण है, द्रव्य लक्ष्य है; अतः द्रव्य व पर्यायों में लक्ष्य-लक्षण भेद होने पर भी स्वरूप भेद नहीं है।

इसप्रकार जैनमतानुसार जो व्यतिरेकी है, द्रव्य के साथ तन्मय रहती है तथा अनित्य है – ऐसी प्रतिसमय परिणामनशील द्रव्य की अवस्था विशेष पर्याय है।

जैनों की स्पष्ट मान्यता है कि ध्रुवता (गुणों) के समान परिणामन (पर्याय) भी द्रव्य का स्वभाव है। परिणाम (पर्याय) परिणामी (द्रव्य) से अभिन्न ही हैं। परिणाम अधर में नहीं होते, वे परिणामी के आधार से ही होते हैं। परिणाम व द्रव्य साथ ही हैं। द्रव्य कभी परिणाम से रहित नहीं होता, परिणाम भी कभी भी द्रव्य से रहित नहीं होते। परिणाम वर्तमान में हो, द्रव्य भूतकाल में रह जाए – ऐसा नहीं होता, अपितु परिणाम व द्रव्य दोनों वर्तमान में साथ ही होते हैं। द्रव्य में अपने स्वकाल में सदैव वर्तमान परिणाम होते हैं तथा द्रव्य भी जब देखो तब अपने वर्तमान परिणाम में ही वर्त रहा होता

है। ये परिणाम त्रिकाली द्रव्य के ही हैं; अतः द्रव्य सदैव परिणामस्वभाव में ही स्थित रहता है।

'द्रव्य परिणाम स्वभाव में स्थित है' – इसे स्पष्ट करते हुए जैनागम में द्रव्य के असंख्यप्रदेशी क्षेत्र का उदाहरण देकर परिणामों के स्वरूप को समझाते हुए कहा गया है कि – जिसप्रकार प्रत्येक द्रव्य का क्षेत्र असंख्यप्रदेशी, अखण्ड एक है और उस क्षेत्र का छोटे से छोटा अंश प्रदेश है, उसीप्रकार सम्पूर्ण द्रव्य की प्रवाहधारा एक है और उस प्रवाहधारा का छोटे-से-छोटा अंश परिणाम है।

क्षेत्र अपेक्षा से द्रव्य का सूक्ष्म अंश प्रदेश है और काल अपेक्षा से द्रव्य का सूक्ष्म अंश परिणाम है।

छहों द्रव्यों में से परमाणु और काल का क्षेत्र एक प्रदेशी ही है तथा आत्मा का क्षेत्र असंख्यात प्रदेशी है; अतः आत्मा का क्षेत्र समग्र रूप से एक होने पर भी उसका अंतिम अंश प्रदेश है।

जिसप्रकार असंख्यप्रदेशी विस्तार को एक साथ लेने से द्रव्य का क्षेत्र एक है; उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य की अनादि-अनंत परिणामन धारा समग्र रूप से एक है। तथा उस सम्पूर्ण प्रवाह का छोटे-से-छोटा एक अंश परिणाम है। प्रत्येक परिणाम को पृथक् किए बिना समग्ररूप से द्रव्य के अनादि-अनंत प्रवाह को देखने पर वह एक है। जैसे अनादि निगोद से लेकर अनंत सिद्धदशा तक जीव द्रव्य का परिणामन-प्रवाह एक ही है।

यहाँ प्रदेशों का विस्तारक्रम क्षेत्र अपेक्षा से हैं और परिणामों का प्रवाहक्रम परिणामन अपेक्षा से है।

जैसे द्रव्य का सम्पूर्ण क्षेत्र एक साथ फैला है, उसे प्रदेशभेद से न देखा जाए तो उसका क्षेत्र एक ही है; वैसे ही त्रिकाली द्रव्य के प्रवाह में परिणाम का भेद न किया जाए तो संपूर्ण प्रवाह एक ही है और उस त्रैकालिक प्रवाहक्रम का प्रत्येक अंश परिणाम है। इस प्रवाहक्रम के समस्त परिणामों का क्रम व्यवस्थित ही है। द्रव्य इस परिणामस्वभाव में सदा स्थित रहता है।

परिणामों का प्रवाह कभी खण्डित नहीं होता, न ही परिणाम आगे पीछे ही होते हैं। इसे सिद्ध करते हुए जैनागमों में कहा गया है कि

जिसप्रकार आकाश आदि द्रव्यों के असंख्य प्रदेश ऐसे के ऐसे फैले हुए हैं, उनमें कभी एक भी प्रदेश का क्रम आगे-पीछे नहीं होता; उसीप्रकार द्रव्य का अनादि-अनंत प्रवाहक्रम भी कभी खण्डित नहीं होता। उनका कोई भी परिणाम कोई भी पर्याय आगे-पीछे नहीं होती। जिसप्रकार क्षेत्र से देखने पर पूरी सीढ़ी (जीना) ऐसी की ऐसी स्थित है; उसका छोटा अंश प्रदेश है, और सीढ़ी की लम्बाई से देखने पर एक के बाद एक सीढ़ियों का प्रवाह है, पूरी सीढ़ियों का प्रवाह एक है, उसकी एक-एक सीढ़ी उसके प्रवाह का अंश है, उन सीढ़ियों का प्रवाह का क्रम टूटता नहीं, दो सीढ़ियों के बीच में भी छोटे-छोटे भाग किए जाएँ तो अनेक भाग होते हैं, उस चढ़ते हुए प्रत्येक भाग को परिणाम समझना चाहिए। उसीप्रकार आत्मा असंख्य प्रदेशों में फैला हुआ एक है और उसके क्षेत्र का प्रत्येक अंश प्रदेश है तथा सम्पूर्ण द्रव्य का अस्तित्व अनादि-अनंत प्रवाहरूप से एक है और उस प्रवाह का प्रत्येक समय का अंश परिणाम है। उन परिणामों का प्रवाहक्रम जीने की सीढ़ियों की भाँति क्रमबद्ध है। परिणामों का वह प्रवाह क्रम आगे-पीछे नहीं होता; खण्डित भी नहीं होता।

परिणामों का एक-दूसरे में अभाव बतलाते हुए परिणामों में परस्पर व्यतिरेकपूर्वक अनादिअनंत प्रवाह को सिद्ध करते हुए जैनागम में कहा गया है कि -

द्रव्य में क्षेत्र अपेक्षा से विस्तार का कारण प्रदेशों का परस्पर भिन्नत्व है। पहले प्रदेश का दूसरे में अभावहइसप्रकार प्रदेशों के भिन्न-भिन्नपने के कारण विस्तार क्रम रचा हुआ है। यदि एक-दूसरे में अभाव न हो और एक प्रदेश दूसरे में भी भावरूप से वर्तता हो, सब मिलकर एक ही प्रदेश हों, तो द्रव्य का विस्तार ही न हो, द्रव्य एक प्रदेशी ही हो जाये। इसलिए विस्तार क्रम कहने से ही प्रदेश एक-दूसरे के रूप से नहीं हैह ऐसा आ जाता है।

‘विस्तार क्रम’ अनेकता का सूचक है; क्योंकि एक में क्रम नहीं होता। सबमें एकता न हो, किन्तु भिन्नता हो, तभी अनेकता निश्चित होती है और अनेकता हो, तभी विस्तार क्रम होता है; इसलिए विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक है।

इसीप्रकार ‘प्रवाहक्रम’ कहते ही परिणामों की अनेकता सिद्ध होती है और ‘परिणामों की अनेकता’ कहते ही एक का दूसरे में अभाव सिद्ध होता है; क्योंकि एक का दूसरे में अभाव हो तभी अनेकता हो। यदि ऐसा न हो तो सभी एक ही हो जाएँ। विस्तार क्रम में जिसप्रकार एक प्रदेश का दूसरे में अभाव है; उसीप्रकार प्रवाहक्रम में एक परिणाम का दूसरे में अभाव है।¹ इसप्रकार परिणामों में परस्पर एक का दूसरे में अभाव होने से अनादि-अनंत प्रवाहक्रम रचा हुआ है।

संक्षेप में कहा जाए तो प्रदेशों के विस्तार क्रम की भाँति द्रव्य का अनादि-अनंत लम्बा प्रवाह-क्रम होता है और यह प्रवाह-क्रम तभी संभव है; जबकि एक परिणाम का दूसरे परिणाम में अभाव हो। पहला परिणाम दूसरे परिणाम में नहीं है, दूसरा तीसरे में नहीं है - इसप्रकार परिणामों में व्यतिरेक होने से द्रव्य में प्रवाहक्रम है। द्रव्य के अनादि-अनंत प्रवाह में एक के बाद एक परिणाम क्रमशः होते रहते हैं। क्रमशः होनेवाले ये परिणाम ही पर्याय कहलाते हैं।

पर्याय के भेद - पर्याय द्रव्यात्मक भी है और गुणात्मक भी। अतः पर्याय दो प्रकार की होती है। (i) द्रव्य पर्याय और (ii) गुण पर्याय। द्रव्य पर्याय को व्यंजनपर्याय, अनेकद्रव्यपर्याय तथा गुणपर्याय को अर्थपर्याय व एकद्रव्य पर्याय भी कहते हैं। जो एकद्रव्यपर्याय है, वह केवल नाम मात्र है, मूलतः वह गुणपर्याय ही है।

(i) **द्रव्यपर्याय ह्व** द्रव्य में जितने प्रदेश रूप अंश हैं, वे सब द्रव्यपर्याय हैं। जैसे ‘अमुक द्रव्य में इतने प्रदेश हैं’, - इस कल्पना को द्रव्यपर्याय कहते हैं।

अखण्ड एक वस्तु में खण्ड कल्पना की गई, इसलिए ये पर्याय कहलाते हैं और यह विभाग गुणांशों की अपेक्षा न किया जाकर प्रदेशों की अपेक्षा

1. यहाँ विस्तार क्रम तो दृष्टान्तरूप है और प्रवाहक्रम सिद्धान्तरूप है। दृष्टान्त सर्वप्रकार से लागू नहीं होता। पुद्गल और काल द्रव्य का विस्तार तो एकप्रदेशी ही है, इसलिए उसमें प्रदेशों के परस्पर व्यतिरेक का दृष्टान्त लागू नहीं होता, किन्तु प्रवाहक्रम का जो सिद्धान्त है, वह सब द्रव्यों में समान रूप से लागू होता है।

किया गया है, इसलिए ये द्रव्य पर्याय कहलाते हैं। अर्थात् द्रव्य में प्रदेश विभाग ही द्रव्यपर्याय है।

यद्यपि गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं; किन्तु गुणों की पर्याय द्रव्यपर्याय नहीं है। दो द्रव्यों की मिली हुई पर्याय द्रव्य पर्याय है। द्रव्यपर्याय द्रव्य के बाहर की बात है, दो द्रव्यों के मिलावट की बात है, द्रव्यपर्याय अनेक द्रव्यों की एकता की प्रतिपत्ति (ज्ञान) की कारणभूत है। इसलिए द्रव्यपर्याय को अनेक द्रव्यपर्याय भी कहते हैं।

यह दो प्रकार की होती है - (क) समानजातीयद्रव्यपर्याय (ख) असमानजातीयद्रव्यपर्याय।

(क) समानजातीयद्रव्यपर्याय हू एक ही जाति के दो द्रव्यों की मिली हुई पर्याय समानजातीयद्रव्यपर्याय है। जैसे - दो पुद्गलों की मिली हुई पर्याय द्विअणुक, त्रिअणुक आदि स्कन्ध।

समानजातीय द्रव्य पर्याय में जीव की 'यह मेरा है' ऐसी ममत्व बुद्धिरूप मूढता होती है।

(ख) असमानजातीयद्रव्यपर्याय - जो दो द्रव्य एक जाति के न हों, उनकी मिली हुई पर्याय असमानजातिद्रव्यपर्याय है जैसे - जीवद्रव्य व पुद्गल द्रव्य की मिली हुई पर्याय मनुष्य, देव आदि।

इस असमानजातीयमनुष्यादि द्रव्यपर्याय में ही जीव एकत्वबुद्धि करता है, जिसके कारण वह संसार में परिभ्रमण करता है। यही एकत्वबुद्धि समस्त (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) अविद्याओं का मूल है।

द्रव्यपर्याय को व्यंजनपर्याय भी कहते हैं। शरीर के आकार रूप जो आत्मप्रदेशों का अवस्थान है, वह व्यंजनपर्याय है।

व्यंजनपर्याय स्थूल है, शब्द से कही जा सकती है और चिरस्थायी है। नरनारकादि व्यंजन पर्यायें स्थूल हैं; क्योंकि उनमें एक जातिपने की अपेक्षा सदृशता रहते हुए भी व्यतिरेक देखा जाता है, अर्थात् 'यह वह है' 'यह वह नहीं है' - ऐसा लक्षण घटित होता है।

चिरस्थायी होने से व्यंजन पर्याय अनादि-अनन्त है।

व्यंजनपर्याय जैसी संसारी जीव व स्कन्धरूप पुद्गलद्रव्य में घटित होती है, वैसी मुक्त जीव व परमाणु में तथा धर्मादि शेष चार द्रव्यों में घटित नहीं होती; क्योंकि इन द्रव्यों का सदा अवस्थित एक आकार पाया जाता है। इसलिए इन द्रव्यों में आकार मात्र को देखकर व्यंजनपर्याय कही गई है।

इस दृष्टि से व्यंजन पर्याय के दो भेद हैं - (क) स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्याय और (ख) विभावद्रव्यव्यंजनपर्याय।

(क) स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्याय - सब द्रव्यों की अपने-अपने प्रदेशों की स्वाभाविक स्थिति ही उस-उस द्रव्य की स्वभाव पर्याय है। जैसे कर्मोपाधि रहित पर्यायें जीव द्रव्य की स्वभावद्रव्यपर्यायें हैं तथा अन्य की अपेक्षा से रहित अविभागी पुद्गलपरमाणु का परिणाम पुद्गल द्रव्य की स्वभाव-द्रव्यव्यंजनपर्याय हैं।

सिद्धों, धर्म, अधर्म, आकाश, परमाणु और कालाणु की पर्यायें स्वभावद्रव्यव्यंजन पर्याय हैं।

(ख) विभावद्रव्यव्यंजनपर्याय - परद्रव्य के संबंध से उत्पन्न होने वाली जीव द्रव्य की अशुद्ध पर्यायें विभावद्रव्यव्यंजनपर्यायें हैं। जैसे - चारों गति के जीवों का तथा विग्रहगति जीवों का देहाकाररूप प्रदेशों का प्रमाण ही जीव की विभावद्रव्यव्यंजनपर्याय है तथा दो अणु आदि पुद्गल की स्कन्धपर्याय स्वजातीय रूप से परिणमित होने के कारण अशुद्ध है; अतः पुद्गल के स्कन्धरूप परिणाम विभावद्रव्यव्यंजनपर्याय हैं।

संक्षेप में कहें तो जैनदर्शन में प्रदेशात्मक आकारों को तथा जीव पुद्गल की संयोगी अवस्थाओं को व्यंजनपर्याय कहा है।

(ii) गुणपर्याय - गुण में जो गुणांश होते हैं, वे गुणपर्याय कहलाते हैं। इसलिए जितने गुणांश होते हैं, उतने गुणपर्याय कहे जाते हैं अथवा प्रत्येक द्रव्यसंबंधी जो अनंतानंत गुण हैं; उनकी प्रतिसमय होनेवाली षट्गुणाहानि-वृद्धि से तरतमरूप अवस्था को गुणपर्याय कहते हैं।

हानि-वृद्धि का विचार पूर्वपर्याय की अपेक्षा अगली पर्याय में किया जाता है कि पूर्वपर्याय की अपेक्षा अगली पर्याय में कौन सी वृद्धि या हानि

हुई है, यह वृद्धि-हानि अविभाग-प्रतिच्छेदों¹ की अपेक्षा होती है। परन्तु इससे वस्तु जितनी है, उतनी ही बनी रहती है, उससे हानि-वृद्धि नहीं होती है। गुण और अर्थ एकार्थवाची होने से गुणपर्याय को अर्थपर्याय भी कहते हैं। भावात्मक पर्यायों को अर्थपर्याय कहते हैं। अथवा भूत और भविष्य के उल्लेख रहित वर्तमान कालीन वस्तुस्वरूप को अर्थपर्याय कहते हैं।

अर्थपर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान विषयक है; अतः शब्द से नहीं कही जा सकती है और क्षण-क्षण में बदलती है; इसलिए एक समयवर्ती होती है।

यह छहों द्रव्यों में पाई जाती है।

संक्षेप में कहें तो छहों द्रव्यों में समान रूप से होनेवाले क्षणस्थायी सूक्ष्म परिणमन को अर्थपर्याय कहते हैं।

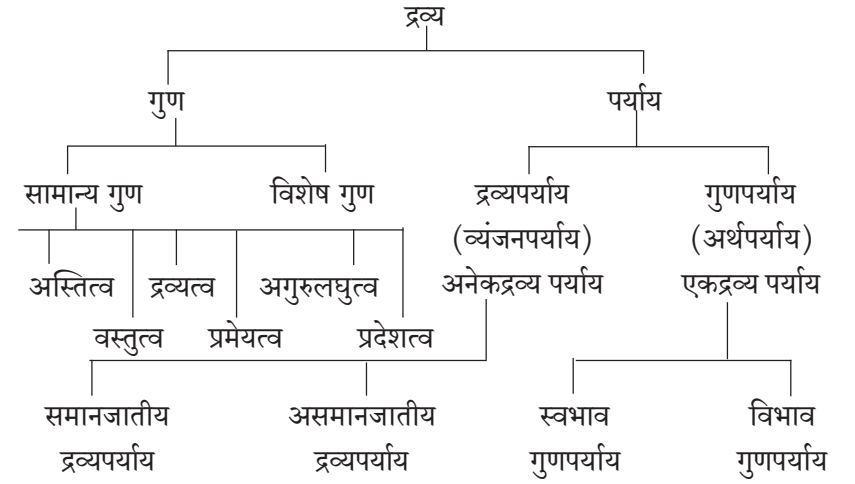
गुणपर्याय अपने द्रव्य के भीतर ही होती है व अपने एक-एक गुण की होती है। गुण द्वारा आयत की अनेकता की प्रतिपत्ति (ज्ञान) की कारणभूत गुणपर्याय है। गुणपर्याय दो प्रकार की होती है ह

(क) स्वभावगुणपर्याय (ख) विभावगुणपर्याय।

(क) स्वभावगुणपर्याय - पर निरपेक्ष जो अर्थपर्याय उत्पन्न होती है, वह स्वभावगुणपर्याय है। अथवा द्रव्य के जो गुण हैं, उनका उसी रूप में विकास होना स्वभावगुणपर्याय है। जैसे ह आत्मा के ज्ञानादि गुणों का स्वभाव सबको जानना है; अतः इन गुणों का इसी रूप में विकास होना स्वभाव गुण पर्याय है जैसे - केवलज्ञान; क्योंकि केवलज्ञान सबको जानता है।

(ख) विभाव गुण पर्याय - पर को निमित्त कर जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह विभावगुणपर्याय है। मतिज्ञानादि आत्मा की विभावगुण पर्याय हैं; क्योंकि आत्मा का स्वभाव सबको जानना है, कुछ को जानना नहीं। मतिज्ञान कुछ को जानता है, कुछ को नहीं; अतः विभावगुण पर्याय है।

1. जो छेदने योग्य नहीं हैं ऐसे अन्तिम अंश को अविभाग-प्रतिच्छेद कहते हैं।



गुण और पर्याय के भेद निम्न चार्ट द्वारा भलीभाँति समझे जा सकते हैं -

सत्

सत् द्रव्य का लक्षण है। इस सत् को ही सत्ता या अस्तित्व कहते हैं; अतः सत्, सत्ता, अस्तित्व सभी एकार्थवाची हैं। जिनवाणी में उक्त तीनों का ही प्रयोग सत् के अर्थ में किया गया है।

द्रव्य स्वयं सत् स्वरूप होता है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य सदा स्वभाव में रहता है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त परिणाम द्रव्य का स्वभाव है; अतः समस्त द्रव्य इस परिणमन स्वभाव में नित्य रहते हैं। स्वभाव में स्थित द्रव्य सत् हैं।

अस्तित्व (सत्) से भिन्न द्रव्य कोई अन्य पदार्थ नहीं है। यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो उसकी दो अवस्थाएँ होंगी - (क) वह असत् होगा अथवा (ख) सत्ता से पृथक् होगा।

(क) यदि प्रथम अवस्था होगी तो ध्रौव्य के असंभव के कारण स्वयं स्थिर न होता हुआ द्रव्य का ही अस्त हो जाएगा।

(ख) द्वितीय अवस्था में यदि सत्ता से पृथक् होगा तो सत्ता के बिना भी स्वयं रहता हुआ इतना ही मात्र जिसका प्रयोजन है,¹ ऐसी सत्ता को ही अस्त कर देगा।

1. सत्ता का कार्य इतना ही है कि वह द्रव्य को विद्यमान रखें।

किन्तु यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् हो तो ध्रौव्य के सद्भाव के कारण स्वयं स्थिर रहता हुआ, द्रव्य सिद्ध होता है और सत्ता से अपृथक् रहकर स्वयं स्थिर (विद्यमान) रहता हुआ, इतना ही मात्र जिसका प्रयोजन है, ऐसी सत्ता को भी सिद्ध करता है। इसलिए द्रव्य स्वयं ही सत्ता है। सत् स्वतः सिद्ध है।

स्वतःसिद्ध का अर्थ है कि इसे किसी ने बनाया नहीं, सदा से अपने स्वरूप के साथ वह अवस्थित है।

स्वतःसिद्धता वस्तु का प्रमुख गुण है। जगत् का व्यवस्थितपना इसी से बन सकता है, अन्यप्रकार से नहीं। इससे उसकी अनादिता, अनन्तता, स्वसहाय¹ और अखण्डता भलीभाँति सिद्ध हो जाती है। किन्तु स्वतःसिद्ध न मानने पर उक्त विशेषताओं के स्थान पर असत् की उत्पत्ति, पर से उत्पत्ति, युतसिद्धत्व और सत् का विनाश – ये चार महान दोष आते हैं।

(क) तत्त्व को अनादि नहीं मानने पर बिना किसी बाधा के असत् पदार्थ की उत्पत्ति प्राप्त होती है। असत् की उत्पत्ति मान लेने पर अपने आप अनन्त द्रव्यों की उत्पत्ति प्राप्त होती है और तब मिट्टी आदि के अभाव में भी घट की उत्पत्ति माननी पड़ेगी।

(ख) अनिधन (अनन्त) नहीं मानने पर सत् के विनाश की प्राप्ति होती है।

(ग) स्वसहाय नहीं मानने पर एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ से उत्पत्ति प्राप्त होती है।

(घ) निर्विकल्प (अखण्ड) नहीं मानने पर पदार्थ में युतसिद्धत्व का प्रसंग आता है। वस्तु को युतसिद्ध मानने पर गुण-गुणी के पृथक्-पृथक् प्रदेश मानने पड़ेंगे; क्योंकि संयोग से सिद्ध हुए को युतसिद्धता कहते हैं किन्तु सत्ता व द्रव्य में संयोग संबंध न होने से 'सत्ता' व 'सत्' में युतसिद्धपना संभव नहीं।

इसप्रकार स्पष्ट है कि अस्तित्व अनादि-अनन्त, अहेतुक और एकरूप परिणति से सदा परिणमित होता है। अस्तित्व वास्तव में द्रव्य का स्वभाव

1. स्वसहाय अर्थात् आत्म सापेक्ष। लोक में जितने द्रव्य हैं उनका अस्तित्व अन्य सापेक्ष नहीं है।

ही है; क्योंकि अस्तित्व व द्रव्य के कोई प्रदेशभेद न होने से द्रव्य व सत्ता पृथक् पदार्थ सिद्ध नहीं होते, अपितु स्वभाव में अवस्थित होने से द्रव्य स्वयं सत् स्वरूप ही सिद्ध होता है।

सत्ता व द्रव्य में गुण-गुणी संबंध है। गुण व गुणी में अनेकत्व नहीं, एकत्व होता है। वस्तुतः द्रव्य से भिन्न गुण या पर्याय कुछ नहीं होती, जैसे – सोने से रहित पीलापन या अंगूठी आदि नहीं होते।

सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त होता है, अतः सत् स्वरूप द्रव्य भी उत्पाद-व्यय ध्रौव्य संयुक्त होता है, इसलिए द्रव्य का जो (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सत्तारूप) सत् स्वरूप है, वही द्रव्य का लक्षण है। अतः द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है। जिसकी चर्चा आगे विस्तार से की जाएगी।

संक्षेप में कहा जाए तो जैन मतानुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त परिणाम द्रव्य का स्वभाव है, इस स्वभाव में द्रव्य नित्य अवस्थित रहता है, इसलिए द्रव्य सत् है।

समस्त द्रव्य ज्ञेय हैं, अतः समस्त ज्ञेय भी सत् हैं और समस्त ज्ञेय जैसे हैं, वैसे एक साथ ज्ञान में ज्ञात होते हैं। आत्मा ज्ञान का सागर है और समस्त लोक ज्ञेयों का सागर है तथा दोनों में मात्र ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है, कर्त्ता-कर्म या भोक्ता-भोग्य संबंध नहीं है। जैनदर्शन की यही सबसे बड़ी विशेषता है। इसी कारण जैन दर्शन अकर्त्तावादी दर्शन कहलाता है।

'सत्' स्वरूप सत्ता ही द्रव्य का एक मात्र लक्षण नहीं है; क्योंकि अनेकान्तात्मक द्रव्य के अनन्त स्वरूप हैं, उनमें से सत्ता भी एक स्वरूप है; इसलिए अनन्त स्वरूप वाला द्रव्य लक्ष्य है और सत्ता उसका लक्षण है। इसप्रकार यद्यपि लक्ष्य-लक्षण भावों द्वारा द्रव्य सत्ता से कथंचित् भिन्न है; तथापि वस्तुतः सत्ता द्रव्य से भिन्न नहीं है, अपितु तन्मय है; इसलिए सामान्य-विशेषात्मक सत्ता (महासत्ता व अवान्तर सत्ता) द्रव्य से अभिन्न होने के कारण 'सत्' स्वरूप ही द्रव्य का लक्षण है।

अतः स्पष्ट है कि सत्ता तो द्रव्य से अभिन्न है; किन्तु द्रव्य सत्ता से कथंचित् अभिन्न व कथंचित् भिन्न हैं।

भिन्नता दो प्रकार की होती है - पृथक्त्व व अन्यत्व

विभक्त (भिन्न) प्रदेशत्व को पृथक्त्व कहते हैं। यह तो सत्ता व द्रव्य में संभव नहीं है; क्योंकि गुण व गुणी में विभक्त प्रदेशत्व (भिन्न प्रदेशों) का अभाव होता है। जैसे ह्व जिसप्रकार शुक्लत्व गुण के जो प्रदेश होते हैं, वे ही वस्त्र गुणी के होते हैं; इसलिए उनमें प्रदेशभेद नहीं होता; उसीप्रकार जो सत्तागुण के प्रदेश हैं, वे ही द्रव्य गुणी के प्रदेश हैं; इसलिए इनमें भी प्रदेशभेद नहीं है।

अतद्भाव (तद्भाव का अभाव) को 'अन्यत्व' कहते हैं। कथंचित् उस रूप न होना अतद्भाव है। द्रव्य कथंचित् सत्तारूप से नहीं हैं और सत्ता कथंचित् द्रव्यरूप से नहीं है; इसलिए उनमें अतद्भाव है।

अथवा गुण-गुणी में तद्भाव का अभाव होता है। जैसे - जिसप्रकार चक्षु इन्द्रियगम्य व अन्य इन्द्रियों से पकड़ में न आने वाला शुक्लत्व गुण, समस्त इन्द्रिय समूह से जानने में आने वाला वस्त्र नहीं है तथा जो समस्त इन्द्रिय समूह को गोचर होने वाला वस्त्र है व चक्षु इन्द्रिय के विषय में आनेवाला तथा अन्य समस्त इन्द्रियों से ज्ञात न होने वाला शुक्लत्व गुण नहीं है, इसलिए उनमें तद्भाव का अभाव है। उसीप्रकार किसी के आश्रय से रहनेवाली, निर्गुण, एक गुण की बनी हुई विशेषण व विधायक (रचयिता), वृत्तिस्वरूप (अस्तित्व) 'सत्ता'; आश्रय के बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणों से निर्मित, विशेष्य, विधीयमान (रचित होने वाला) और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य ह्व परस्पर विरोधी गुणों की विद्यमानता के कारण सत्ता द्रव्य नहीं है व द्रव्य सत्ता नहीं है - इसलिए उनमें तद्भाव का अभाव है।

एक दूसरे में जो 'उसका अभाव' अर्थात् तद्रूप होने का अभाव वह अतद्भाव है; जो कि अन्यत्व का कारण है। इसीप्रकार एक द्रव्य में जो सत्ता गुण है वह द्रव्य नहीं है, अन्य गुण नहीं है या पर्याय नहीं है और जो द्रव्य अन्य गुण या पर्याय है वह सत्ता गुण नहीं है - इसीप्रकार एक-दूसरे

में जो उसका अभाव अर्थात् तद्रूप होने का अभाव है, वह अतद्भाव अन्यत्व का कारण है।

अथवा जिसप्रकार एक मोती की माला को हार सूत्र (धागा) और मोती - तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है; उसीप्रकार एक द्रव्य, द्रव्य के रूप में, गुण के रूप में और पर्याय के रूप में - तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है। जिसप्रकार एक मोती की माला का शुक्लत्वगुण शुक्लहार शुक्लधागा और शुक्ल मोती - ऐसे तीनप्रकार से विस्तारित किया जाता है। उसीप्रकार एक द्रव्य का सत्ता गुण सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्याय - ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।

जैसे - एक आत्मा का विस्तारकथन में आत्मद्रव्य के रूप में ज्ञानादिगुण के रूप में और सिद्धत्वादि पर्याय के रूप में तीन प्रकार से वर्णन किया जाता है और एक आत्मा के अस्तित्व गुण को सत् आत्मद्रव्य, सत् ज्ञानादि गुण और सत् सिद्धत्वादि पर्याय ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है और एक आत्मा का जो अस्तित्व गुण है वह आत्मद्रव्य नहीं है, ज्ञानादिगुण नहीं है या सिद्धत्वादि पर्याय नहीं है; इसप्रकार उनमें परस्पर अतद्भाव है, जिनके कारण उनमें अन्यत्व है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि स्वरूप अपेक्षा से जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है और जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है - यही अतद्भाव है। सर्वथा अभाव अतद्भाव नहीं है।

द्रव्य का अभाव गुण व गुण का अभाव द्रव्य (पृथक्त्व) मानने पर तीन प्रकार के दोष आ जाएँगे -

1. एकद्रव्य को अनेकत्व आ जाएगा।
2. उभयशून्यता दोनों का अभाव हो जाएगा।
3. अपोहरूपता आ जाएगी (केवल नकारात्मकता)।

अतः स्पष्ट है कि एक द्रव्य में जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है; जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है - इसप्रकार द्रव्य का गुणरूप से न होना अथवा गुण का द्रव्य रूप से न होना अतद्भाव है।

इस दृष्टि से द्रव्य व सत्ता में अतद्भाव रूप अन्यत्व है।

अथवा जिनकी सत्ता एक हो, द्रव्य-क्षेत्र-काल एक हो, मात्र भाव भिन्न हों; उनमें अन्यता होती है। चूँकि सत्ता व द्रव्य में द्रव्य, क्षेत्र व काल एक हैं, किन्तु स्वभाव भेद है; अतः उनमें अन्यता है।

दो द्रव्यों के बीच पृथक्ता होती है, अतः सत्ता व द्रव्य में यह संभव नहीं है।

एक द्रव्य की दो पर्यायों के बीच व एक द्रव्य के दो गुणों के बीच अन्यता होती है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य व द्रव्य में अन्यता होती है; अतः तीनों सत् हैं - उत्पाद-सत्, व्यय सत्, ध्रौव्य सत्। तीनों में तीन सत्ता नहीं है। उनमें एक ही अस्तित्व नाम का गुण है। अतः वास्तव में वे तीन सत् नहीं, एक ही सत् है; सत् के अंश हैं। लेकिन 'सत्' के अंश को भी 'सत्' कहा जाता है; अतः उत्पादादि तीनों 'सत्' हैं। सत्ता तीनों में व्याप्त है- ऐसी सत्ता द्रव्य में व्याप्त है। जैसे - जीव में ज्ञानादि अनंत गुणों की सत्ता होने पर भी सब मिलाकर भी सत्ता एक ही है। सत्ता गुण सब गुणों में और प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय में व्याप्त है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि द्रव्य व सत्ता में गुणी-गुण संबंध होने के कारण द्रव्य कथंचित् सत्ता से पृथक् है व कथंचित् अपृथक् अर्थात् पृथक्त्व रूप भिन्नता द्रव्य व सत्ता में नहीं हैं, किन्तु अतद्भाव रूप अन्यता उनमें हैं।

जैनमतानुसार द्रव्य के दो भेद हैं - सामान्य और विशेष; अतः उनके अनुसार इस विश्व में जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे न केवल सामान्यात्मक ही होती हैं, न विशेषात्मक ही, किन्तु वे उभयात्मक होती हैं। इसकी सिद्धि विवक्षाभेद से होती है। नय विवक्षाभेद का ही पर्यायवाची है; इसलिए सत्ता का स्वरूप अन्वय रूप से विचार करने पर जैसा प्राप्त होता है, व्यतिरेक रूप से विचार करने पर स्थिति ठीक उससे उल्टी होती है। अतः जैनमतानुसार यह सामान्य-विशेषात्मक सत्ता, महासत्ता तथा अवान्तरसत्तारूप होने से, 1. सत्ता भी है और असत्ता भी है, 2. त्रिलक्षणा भी है और अत्रिलक्षणा भी है, 3. एक भी है और अनेक भी है, 4. सर्वपदार्थ स्थित भी है और

एक पदार्थ स्थित भी है, 5. सविश्वरूप भी है और एकरूप भी है, 6. अनन्त पर्यायमय भी है और एक पर्यायमय भी है।

1. महासत्ताअवान्तर सत्तारूप से असत्ता है और अवान्तरसत्ता महासत्तारूप से असत्ता है; इसलिए यदि महासत्ता को सत्ता कहें तो अवान्तरसत्ता को असत्ता कहा जाएगा।

2. महासत्ता उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - ऐसे तीन लक्षण वाली है; इसलिए वह त्रिलक्षणा है। वस्तु में उत्पन्न होने वाले स्वरूप का उत्पाद ही एक लक्षण है, नष्ट होनेवाले स्वरूप का व्यय ही एक लक्षण है और ध्रुव रहनेवाले स्वरूप का ध्रौव्य ही एक लक्षण है; इसलिए उन तीन स्वरूपों में से प्रत्येक की अवान्तर सत्ता एक ही लक्षणवाली होने से अत्रिलक्षणा है।

3. महासत्ता समस्त पदार्थ समूह में 'सत्, सत्, सत्' ऐसा समानपना दर्शाती है; इसलिए एक है। एक वस्तु की स्वरूपसत्ता अन्य किसी वस्तु की स्वरूपसत्ता नहीं है; इसलिए जितनी वस्तुएँ हैं, उतनी स्वरूपसत्ताएँ हैं, अतः ऐसी स्वरूपसत्ताएँ (अवान्तरसत्ताएँ) अनेक हैं।

4. सर्व पदार्थ सत् हैं इसलिए महासत्ता सर्व पदार्थों में स्थित है। व्यक्तिगत पदार्थों में स्थित भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत सत्ताओं द्वारा ही पदार्थों का भिन्न-भिन्न निश्चित व्यक्तित्व रह सकता है; इसलिए उस-उस पदार्थ की अवान्तरसत्ता उस-उस एक पदार्थ में ही स्थित है।

5. महासत्ता समस्त वस्तुसमूह के स्वभावों सहित है; इसलिए वह सविश्वरूप (सर्वरूपवाली) है। वस्तु की सत्ता का (कथंचित्) एक रूप हो, तभी उस वस्तु का निश्चित एक स्वभाव रह सकता है; इसलिए प्रत्येक वस्तु की अवान्तरसत्ता निश्चित एक रूपवाली ही है।

6. महासत्ता सर्वपर्यायों में स्थित है; इसलिए वह अनन्तपर्यायमय है। भिन्न-भिन्न पर्यायों में भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हों तभी प्रत्येक पर्याय भिन्न-भिन्न रहकर अनन्त पर्यायें सिद्ध होंगी, नहीं तो पर्यायों का अनन्तपना ही नहीं रहेगा, एकपना हो जाएगा; इसलिए प्रत्येक पर्याय की अवान्तर सत्ता उस-उस एक पर्यायमय ही है।

यहाँ सामान्य से महासत्ता और विशेष से अवान्तरसत्ता ली गई है। ये दोनों परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा प्रतिपक्षरूप हैं; अतः इनमें से जब जिसकी प्रधानरूप से विवक्षा रहती है, तब उसका सद्भाव माना जाता है। वस्तुतः ये दो नहीं हैं, किन्तु विवक्षाभेद से ही ये दो मानी जाती हैं; इसलिए जब जिसकी प्रधानता रहती है, तब उसी की अपेक्षा से अस्तित्वरूप व्यवहार किया जाता है, अन्य की अपेक्षा से नहीं।

इसप्रकार स्पष्ट है कि सत्ता दो प्रकार की होती है -

(i) महासत्ता (ii) अवान्तरसत्ता

(i) **महासत्ता** - सब पदार्थों में अन्वयरूप से 'सत्' इसप्रकार का जो कथन किया जाता है; उसे सामान्यमात्र का ग्राहक होने से सत्सामान्य की अपेक्षा महासत्ता कहते हैं।

जो सबसे बड़ा हो, जिसके बाद कोई न हो; उसका नाम 'महासत्ता' है। महासत्ता सबको अपने अंदर समेट लेती है जैसे - 'हम सब हैं' - यहाँ 'हैं' इस आधार पर हम सब महासत्ता के अन्तर्गत आते हैं। इसप्रकार महासत्ता सर्वपदार्थों में व्याप्त होती है तथा समस्त पदार्थों के सादृश्य को सूचित करती है। सादृश्य अस्तित्व को सूचित करनेवाली महासत्ता ही 'सामान्य सत्ता' है।

महासत्ता की अपेक्षा सत्ता एक है, सब पदार्थों में स्थित है, विश्वरूप है, अनन्त पर्यायात्मक है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभावी है और विपक्ष सहित है।

महासत्ता त्रिलक्षण वाले समस्त वस्तुओं के सादृश्य को सूचित करती है तथा सब पदार्थों में अन्वयरूप से पाई जाती है; अतः एक है।

विश्व की समस्त वस्तुएँ त्रिलक्षण स्वभाव सहित रहती हैं। ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जो सत् स्वरूप न हो; इसलिए महासत्ता सर्व पदार्थ स्थित है।

विश्व की समस्त वस्तुएँ त्रिलक्षण स्वभाव द्वारा नाना पदार्थों में व्याप्त होकर रहती हैं; इसलिए महासत्ता सविश्वरूप (नानारूप) है।

विश्व की समस्त वस्तुएँ अनन्त द्रव्य-पर्यायों में व्याप्त रहती हैं, अनन्तपर्यायों का आधार हैं, इसलिए महासत्ता 'अनन्त पर्यायात्मक' है।

विश्व की समस्त वस्तुएँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभावी होने से महासत्ता 'त्रिलक्षणात्मक' है।

महासत्ता सर्वथा निरपेक्ष नहीं है, विपक्ष सहित है। सत्ता का विपक्ष असत्ता है, एक का विपक्ष अनेक है, सब पदार्थों में स्थित है का विपक्ष एक पदार्थ स्थित है, विश्वरूपत्व का विपक्ष एकरूपत्व है, अनन्तपर्यायात्मकता का विपक्ष एक पर्यायात्मकता है त्रिलक्षणात्मकता का विपक्ष अत्रिलक्षणपना है।

सत्ता की अपेक्षा जिसे महासत्ता कहते हैं, अस्तित्व की अपेक्षा उसे ही सादृश्य अस्तित्व कहते हैं।

महासत्ता के आधार पर एकता की बात करना सादृश्य अस्तित्व है। सादृश्य अस्तित्व के कारण सभी जीव सत् स्वरूप हैं, अस्तित्वमय हैं, सत्ता स्वरूप हैं। यह सत्पना ही सर्वद्रव्यों का सामान्य लक्षण है। अतः सभी द्रव्यों की एकता सादृश्य अस्तित्व पर ही आधारित है। यह एकता समान अर्थ में है, अभिन्न अर्थ में नहीं। जैसे हम भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाले हैं और तुम भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाले हो, हम भी गुणपर्यायवाले हैं और तुम भी गुण-पर्यायवाले हो - इसलिए इन बातों में हम तुम एक से हैं - अतः सत् सामान्य की दृष्टि से महासत्ता की अपेक्षा सभी द्रव्य एक से हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि सादृश्य अस्तित्व का अर्थ एक से होना है, एक होना नहीं। लेकिन लोक में एक से को एक भी कहा जाता है; अतः महासत्ता की अपेक्षा सभी द्रव्य एक हैं - ऐसा भी कहा जाता है। जैसे - 'हम सब भारतीय एक हैं' - यह कथन सादृश्य अस्तित्व की अपेक्षा ही किया जाता है; लेकिन स्वरूप अस्तित्व की अपेक्षा से तो हम अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के बाहर किसी से भी एक नहीं हैं; क्योंकि सभी का

स्वरूप भिन्न-भिन्न होने से सभी का अस्तित्व स्वतंत्र है। इसे स्पष्ट करते हुए जैनग्रन्थों में स्पष्ट कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप अस्तित्व को छोड़े बिना (स्वभाव को छोड़े बिना) ही सादृश्य अस्तित्व (महासत्ता) में शामिल होता है। जैसे कि हम चेतन होकर भी द्रव्य हैं। यहाँ द्रव्यपना, महासत्ता (सादृश्य अस्तित्व) का सूचक है तथा चेतनपना जीव के स्वभाव को दर्शाता है। जीव को द्रव्य में शामिल होने के लिए अपना स्वरूप चेतनपना छोड़ना नहीं पड़ता है। इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप अस्तित्व को छोड़े बिना सादृश्य अस्तित्व में शामिल होता है। दूसरे शब्दों में अपने स्वरूप अस्तित्व को छोड़े बिना हम सब महासत्ता के अंश हैं। जैसे हम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाले भी हैं, गुण-पर्याय वाले भी हैं; अतः महासत्ता के अंश होकर भी अपने ज्ञान स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं, इसलिए हम चेतन होकर भी द्रव्य हैं व द्रव्य होकर भी चेतनतामय हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि स्वरूप अस्तित्व को छोड़े बिना सादृश्य अस्तित्व के बल पर अन्य चीजों में एकत्व का ज्ञान कराना ही सादृश्य अस्तित्व का प्रयोजन है। सादृश्य अस्तित्व में समानता के आधार पर एकता की बात कही गई है। विश्व में जितनी भी वस्तुएँ हैं, उनमें एकता की कल्पना 'है' के आधार पर की गई है कि वे भी 'हैं' और हम भी 'हैं' किन्तु मुझमें व आकाश के फूल में कोई संबंध नहीं है; क्योंकि वह 'नहीं है' और 'मैं हूँ' अतः मुझमें और आकाशकुसुम में न ही स्वरूप अस्तित्व की अपेक्षा समानता है, न ही सादृश्य अस्तित्व की अपेक्षा समानता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैनदर्शन में स्वरूप अस्तित्व को छोड़े बिना ही सादृश्य अस्तित्व के आधार पर एकता की बात स्वीकार की गई है।

(ii) अवान्तरसत्ता - प्रत्येक द्रव्य का अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की सीमा में रहकर जो अस्तित्व है, उसका नाम स्वरूप अस्तित्व है। अथवा जिनमें प्रदेशभेद नहीं है - ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय का नाम स्वरूप अस्तित्व

है। अथवा जिनमें अतद्भाव है,¹ अत्यन्ताभाव² नहीं है - ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय का नाम स्वरूप अस्तित्व है अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय की एक इकाई का नाम स्वरूप अस्तित्व है।

अवान्तर सत्ता मात्र अपने तक ही सीमित है। सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् पर्याय, सत् उत्पाद, सत् व्यय, सत् ध्रौव्य - इसप्रकार का भेद अवान्तर सत्ता के अन्तर्गत आता है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त सत् द्रव्य का लक्षण है; क्योंकि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त परिणाम द्रव्य का स्वभाव है; इसलिए द्रव्य स्वयं उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक हैं।

द्रव्य में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सिद्ध करने के पूर्व जैनाचार्यों ने द्रव्य के समय-समय के समस्त परिणामों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सिद्ध करते हुए कहा है कि - जिसप्रकार क्षेत्र अपेक्षा से सम्पूर्ण द्रव्य के एक क्षेत्र को लें तो उसके प्रदेश उत्पत्ति विनाश रहित हैं और उन प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक होने से वे अपने-अपने स्वक्षेत्र में अपने से सत् और पूर्व प्रदेश रूप से असत् हैं। वे प्रदेश अपने से उत्पादरूप हैं और पूर्व के प्रदेश की अपेक्षा से व्ययरूप हैं। इसप्रकार समस्त प्रदेश उत्पाद-व्ययरूप हैं और सर्व प्रदेशों का विस्तार साथ में लेने से द्रव्य के सभी प्रदेश ध्रौवरूप हैं। इसप्रकार द्रव्य के समस्त प्रदेश एक समय में उत्पाद, व्यय-ध्रौवरूप हैं; इसीप्रकार समय-समय के परिणामों में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना है। द्रव्य के समस्त परिणाम अपने स्वकाल में अपनी अपेक्षा से उत्पादरूप हैं, पूर्व के परिणाम की अपेक्षा से व्ययरूप हैं और परस्पर संबंध वाले अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से वे ध्रौव्य हैं।

इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य त्रिकाल परिणामित होता रहता है। उसके त्रिकाल के प्रवाह में स्थित समस्त परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौवरूप हैं। द्रव्य के समस्त

1. जिनके द्रव्य-क्षेत्र-काल एक हों, किन्तु स्वभाव भेद हो उनमें अतद्भाव होता है।
2. अत्यन्ताभाव दो द्रव्यों के बीच में होता है। अत्यन्ताभाव में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हूँ सभी भिन्न होते हैं।

परिणाम (त्रिकाली प्रवाह के वर्तमान अंश) अपने-अपने काल में सत् हैं। वे परिणाम स्वयं अपनी अपेक्षा से असत् (व्ययरूप) नहीं हैं, किन्तु अपने पहले के परिणाम की अपेक्षा से असत् (व्ययरूप) हैं और प्रथम पश्चात् का भेद किए बिना अखण्ड प्रवाह को देखें तो समस्त परिणाम ध्रौव्य हैं।

द्रव्य के त्रिकाल होने पर भी जब देखो वह वर्तमान परिणाम में वर्त रहा है, कहीं भूत या भविष्य में नहीं वर्तता। द्रव्य के तीनों काल के जो वर्तमान परिणाम हैं, वे अपने से पहले के परिणाम के अभावस्वरूप से उत्पाद रूप हैं, तथा वे ही अखण्ड प्रवाह रूप से ध्रौव्यरूप हैं।

इसप्रकार परिणामों में ध्रौव्यता तो अखण्डप्रवाह अपेक्षा से है तथा परिणामों का प्रवाहक्रम एक साथ तो होता नहीं है, इसलिए परिणामों की ध्रौव्यता निश्चित करते हुए ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि जाती है। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि बिना परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य निश्चित नहीं हो सकते; क्योंकि परिणामों के संपूर्ण प्रवाह की अपेक्षा से ही परिणामों को ध्रौव्य कहा है, सम्पूर्ण प्रवाह एक समय में प्रकट नहीं होता है; इसलिए परिणाम की ध्रौव्यता निश्चित करनेवाले की दृष्टि एक-एक परिणाम के ऊपर से हटकर ध्रुवद्रव्य पर जाती है।

इससे स्पष्ट है कि परिणाम के ऊपर की दृष्टि से परिणाम की ध्रौव्यता निश्चित नहीं हो सकती; क्योंकि परिणामों का अखण्ड प्रवाह एक ही परिणाम में तो नहीं है; इसलिए अखण्ड (ध्रुवस्वभाव) की दृष्टि हुए बिना परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समझ में नहीं आ सकते।

जैनों की स्पष्ट मान्यता है कि वस्तु तो एक समय में पूर्ण है तथा उसके परिणाम में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना निश्चित करने से द्रव्य पर ही दृष्टि जाती है, पर्याय पर नहीं।

अतः स्पष्ट है कि तीनों कालों के समय में तीनों कालों के परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप हैं। वर्तमान एक समय का परिणाम एक समय पहिले नहीं था, नया उत्पन्न हुआ है, इसलिए वह उत्पाद रूप है और उस

परिणाम के समय पूर्व के परिणाम का व्यय है; क्योंकि पूर्व परिणाम का व्यय होकर वह परिणाम उत्पन्न हुआ है; इसलिए पूर्व परिणाम की अपेक्षा वही परिणाम व्ययरूप है और तीनों काल के परिणाम के अखण्ड प्रवाह की अपेक्षा से वह परिणाम उत्पन्न भी नहीं हुआ है और विनाशरूप भी नहीं है, ध्रौव्य है। इसप्रकार अनादि-अनंत प्रवाह में जब देखो तब प्रत्येक परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभावरूप हैं।

जिसप्रकार आत्मा के असंख्य प्रदेशों में एक समय में क्षेत्र अपेक्षा से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लागू होता है; उसीप्रकार आत्मा के प्रवाह क्रम में वर्तनेवाले समस्त परिणाम अपने-अपने अवसर में स्वरूप से उत्पन्न हैं, पूर्वरूप से विनष्ट हैं और अखण्ड धाराप्रवाही प्रवाहरूप से वे उत्पन्न या विनष्ट नहीं हैं; इसलिए वे परिणाम उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप हैं।

संक्षेप में कहें तो समस्त पदार्थों का स्वभाव उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त है। प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय परिणाम होते हैं और वे परिणाम क्रमानुसार अनादि-अनंत होते हैं। इसलिए स्वअवसर में होनेवाले परिणामों का प्रवाह अनादि-अनंत है। उस प्रवाहक्रम का छोटे-से-छोटा प्रत्येक अंश भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूपवाला है। अनादि-अनंतकाल के प्रत्येक समय में उस-उस समय का परिणाम स्वयं सत् है।

स्व-स्वअवसर अर्थात् अपने-अपने अवसर में। तात्पर्य यह है कि द्रव्य के प्रत्येक परिणाम का अपना-अपना अवसर भिन्न है; क्योंकि जितने एक द्रव्य के परिणाम हैं, उतने ही तीन काल के समय और जितने तीन काल के समय हैं, उतने ही एक द्रव्य के परिणाम हैं। अतः समस्त परिणाम अपने-अपने अवसर में द्रव्य में से प्रकट होते हैं और द्रव्य का प्रत्येक परिणाम अपने-अपने अवसर में सत् है। अथवा तीन काल के परिणाम द्रव्य के प्रवाहरूपी सांकल की कड़ियों जैसे हैं। जिसप्रकार सांकल की कड़ियाँ आगे-पीछे नहीं होती; जैसी हैं, वैसी ही रहती है; उसीप्रकार द्रव्य के अनादि-अनंत परिणाम अपने अवसर के आगे-पीछे नहीं होते, प्रत्येक परिणाम अपने-अपने अवसर में सत् हैं।

इसप्रकार जैनदर्शन में समुच्चयरूप से समस्त द्रव्यों को क्षेत्र अपेक्षा से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक कहकर द्रव्य के त्रिकाली समस्त परिणामों को स्वअवसर में वर्तनेवाला उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया गया है।

इसके पश्चात् केवल एक परिणाम की अपेक्षा बात करते हुए द्रव्य के प्रत्येक समय के वर्तमान परिणाम को लेकर उसमें भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपना सिद्ध करते हुए जैनशास्त्रों में कहा गया है कि -

त्रिकाली द्रव्य के प्रत्येक समय के परिणाम सत् हैं अर्थात् द्रव्य सत् है और पर्याय भी सत् है। त्रिकाली वस्तु का वर्तमान सदैव होता है। वस्तु को जब देखो तब वह वर्तमान में वर्त रही है। इस वर्तमान को ही स्वयंसिद्ध सत् सिद्ध करते हुए जैन आचार्य कहते हैं कि - वस्तु का कोई भी वर्तमान अंश लो, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप ही होता है।

‘जिसप्रकार वस्तु (क्षेत्र) का जो छोटा से छोटा अन्तिम अंश पूर्व प्रदेश के विनाशरूप है, वही अंश उत्तर प्रदेश के (अपनी अपेक्षा) उत्पाद स्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुपने द्वारा अनुभयस्वरूप है, दो में से एक स्वरूप भी नहीं है। उसीप्रकार प्रवाह (काल) का जो छोटे से छोटा अंश पूर्व परिणाम के विनाशरूप है, वही उत्तर परिणाम के उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एकप्रवाहपने द्वारा अनुभय स्वरूप है।

उदाहरण के तौर पर जिसप्रकार असंख्यप्रदेशी आत्मा का कोई भी एक प्रदेश लो तो वह प्रदेश (क्षेत्र अपेक्षा से) पूर्व प्रदेश के व्ययरूप है, उत्तर प्रदेश के उत्पादरूप है और अखण्ड क्षेत्र की अपेक्षा से ध्रौव्य है। उसीप्रकार अनादि-अनंत प्रवाहक्रम में प्रवर्तमान कोई भी एक परिणाम पूर्व के परिणाम के व्ययरूप है, बाद के परिणाम की अपेक्षा से अर्थात् स्वयं अपनी अपेक्षा से उत्पादस्वरूप है और पहले-पीछे का भेद किए बिना सम्पूर्ण प्रवाहक्रम के अंशरूप से देखें तो वह परिणाम ध्रौव्यरूप है। इसप्रकार प्रत्येक परिणाम में उत्पाद-व्यय ध्रौव्य है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि - जहाँ समस्त परिणामों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की बात थी, वहाँ ‘अपने-अपने अवसर में’ - ऐसा कहकर उस प्रत्येक का स्वतंत्र स्वकाल बतलाया था और यहाँ एक परिणाम की विवक्षा को ध्यान में रखकर एक अंश के परिणाम के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य में ‘अपने-अपने अवसर में’ - ऐसी भाषा का उपयोग नहीं किया; क्योंकि यहाँ एक परिणाम लिया है, सो उसी में उसका वर्तमान स्वकाल आ गया; क्योंकि यहाँ वर्तमान में प्रवर्तित एक परिणाम की बात है। वर्तमान में जो परिणाम वर्तता है, वही उसका स्वकाल है। तीनों काल के प्रत्येक परिणाम का जो वर्तमान है, वह वर्तमान ही उसका स्वकाल है। अपने वर्तमान को छोड़कर वह आगे-पीछे नहीं होता। इसप्रकार प्रत्येक वर्तमान परिणाम का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वभाव है।

वर्तमान वर्तनेवाला परिणाम पूर्व परिणाम के अभावरूप ही है, और वर्तमान परिणाम वर्तमान में सत् रूप है ही, इसमें भी फेर-फार करना नहीं रहता तथा एक-दूसरे के साथ संबंधित परिणामों के अखण्ड प्रवाहरूप से वह परिणाम ध्रौव्य है। इसप्रकार प्रत्येक परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत् है।

जिसप्रकार सम्पूर्ण वस्तु सत् है; उसीप्रकार उसका वर्तमान भी सत् है। जिसप्रकार त्रिकाली सत् पलटकर चेतन से जड़ या जड़ बदलकर चेतन नहीं होता; उसीप्रकार वस्तु का प्रत्येक वर्तमान अंश सत् है, वह अंश भी पलटकर आगे-पीछे नहीं होता। जिसप्रकार त्रिकाली द्रव्य नहीं बदलता, उसीप्रकार उसके प्रत्येक समय की अनादि-अनंत अवस्थाएँ भी जिन समयों में जो होना है, उसमें फेरफार नहीं हो सकता। त्रिकाली प्रवाह के वर्तमान अंश अपने-अपने काल में ‘सत्’ हैं। जिस-जिस समय का जो अंश है, उस-उस रूप ही वह सत् रहता है। वर्तमान समय का परिणाम अपने से सत् है, पूर्व के परिणाम के अभाव के कारण नहीं; क्योंकि वर्तमान परिणाम

पूर्व परिणाम के व्ययरूप हैं, इसलिए वर्तमान परिणाम को पूर्व परिणाम की अपेक्षा नहीं रही, तब फिर परपदार्थ के कारण उसमें कुछ हो - यह बात भी नहीं रही।

इसप्रकार जैनमतानुसार निश्चयनय से पूर्व के परिणाम के अभावस्वरूप वर्तमान परिणाम होने से पूर्व के संस्कार वर्तमान में नहीं आते और न पूर्व का विकार ही वर्तमान में आता है। पहले विकार किया था; इसलिए इस समय विकार हो रहा है - ऐसा नहीं है। वस्तु में पहले समय के सत् के कारण भी दूसरे समय का सत् नहीं है; क्योंकि द्रव्य के एक समय का सत् दूसरे से हो तो उस द्रव्य का वर्तमान सत्पना नहीं रहता और वर्तमान सत् का नाश होने से त्रिकाली सत् का भी नाश हो जाता है अर्थात् वर्तमान परिणाम को सत् माने बिना त्रिकाली द्रव्य का सत्पना सिद्ध नहीं होता।

त्रिकाली सत् स्वतंत्र किसी के बनाए बिना है और प्रत्येक समय का वर्तमान सत् भी स्वतंत्र किसी के बनाए बिना है। इसलिए जैनपरंपरा में स्पष्ट मान्यता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तो फेरबदल कर ही नहीं सकता, अपितु स्वयं अपने अंश को भी आगे-पीछे नहीं कर सकता; क्योंकि उनके अनुसार द्रव्य के आगे का अंश पीछे नहीं होता, पीछे का अंश पहले नहीं होता, अतः द्रव्य स्वयं भी अपनी पर्याय को उल्टा-सीधा करना चाहे तो भी वह नहीं कर सकता; क्योंकि समस्त द्रव्यों में प्रत्येक समय का अपना-अपना अंश स्वतंत्र 'सत्' स्वरूप है। वह वर्तमान अंश पर से नहीं है, किन्तु अपने से ही है। इसलिए प्रत्येक समय का वर्तमान अंश निरपेक्षरूप से अपने से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप सत् है।

यद्यपि वस्तु का वर्तमान अंश 'सत्' है; तथापि द्रव्य के कारण परिणामों का सत्पना नहीं है; क्योंकि यदि द्रव्य के कारण परिणामों का सत्पना हो तो सभी परिणाम एक समान ही हों, किन्तु ऐसा तो होता नहीं है; अतः द्रव्य के कारण परिणामों का सत्पना न होकर प्रत्येक समय का

परिणाम स्वयं सत् है और द्रव्य भी उस वर्तमान परिणामरूप से वर्तता हुआ सत् है।

प्रवाह का वर्तमान अंश उसी अंश के कारण स्वतंत्र सत् है। इसप्रकार जैनागम में प्रत्येक समय का 'अकारणीय सत्' सिद्ध करते हुए समय-समय के सत् को अहेतुक कहा गया है। अतः समस्त पदार्थों के तीनों कालों के प्रत्येक समय का प्रत्येक अंश निरपेक्ष सत् है।

जैनमतानुसार प्रत्येक द्रव्य परिणामनशील होने के बावजूद भी नित्य है। आम हरे से पीला हो जाने पर भी आम ही बना रहता है। यदि पदार्थ को नित्य न मानें तो हरे व पीले आम का कार्यभेद अनुभव में नहीं आना चाहिए। लेकिन यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है; क्योंकि हम देखते हैं कि हरा आम खाने में खट्टा लगता है और उसका स्पर्श कठोर होता है, इसके विपरीत पीला आम खाने में मीठा लगता है और उसका स्पर्श मृदु होता है। इसलिए जैसे आम में नित्यता-अनित्यता सिद्ध होती है; वैसे ही प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा संसार के सभी पदार्थों में यह नित्यता-अनित्यता घटित होती है। दूध से दही हो जाता है, फिर भी उसका गोरसपना समाप्त नहीं होता। इसीप्रकार कोई जीव मनुष्य से देव हो जाता है, तथापि उसका जीवत्व कायम रहता है।

प्रत्येक वस्तु पलटती हुई नित्य है। यदि वस्तु अकेली नित्य ही हो तो उसमें सुख-दुःख आदि कार्य नहीं हो सकते, और यदि वस्तु एकान्ततः पलटती ही रहे तो वह त्रिकालस्थायी नहीं रह सकती, दूसरे ही क्षण उसका सर्वथा अभाव हो जाएगा। इसलिए वस्तु अकेली नित्य या अकेली पलटती नहीं है, किन्तु नित्यस्थायी रहकर प्रतिक्षण पलटती है। इसप्रकार 'नित्य पलटती हुई वस्तु' कहो या 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत्' कहो हूँ एक ही बात है। अल्प से अल्प काल में होनेवाले परिणाम में वर्तता द्रव्य नित्य स्थायी है; अतः उसके प्रत्येक परिणाम में उत्पाद-व्यय, ध्रौव्यपना है।

इसप्रकार जैनाचार्यों ने परिणाम का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपना निश्चित कर परिणामी द्रव्य में भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपना सिद्ध करते हुए कहा है -

‘इसप्रकार स्वभाव से ही परिणाम पद्धति में (परिणामों की परंपरा में) प्रवर्तमान द्रव्य-स्वभाव का अतिक्रमण न करने से सत्त्व (सत्ता) को त्रिलक्षण ही अनुमोदना।’

जिसप्रकार द्रव्य के समस्त परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप हैं; उसीप्रकार उन परिणामों के क्रम में प्रवर्तमान द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त ही है। यदि परिणाम की भाँति द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त न हो तो वह परिणामों की परंपरा में वर्त ही नहीं सकता; किन्तु द्रव्य, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणामों की परंपरा में वर्तता है; अतः उसके भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य हैं।

‘परिणामों की पद्धति’ से तात्पर्य है कि जिसप्रकार सांकल की कड़ियाँ आगे-पीछे नहीं होतीं; उसीप्रकार परिणामों का प्रवाहक्रम नहीं बदलता। जिस समय द्रव्य का जो परिणाम प्रवाहक्रम में हो; उस समय उस द्रव्य का वही परिणाम होता है, दूसरा परिणाम नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक समय के परिणाम में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है। उसमें वस्तु वर्त रही है। प्रत्येक द्रव्य में तीन काल के जितने समय हैं, उतने ही परिणाम हैं। जैसे - एक स्वर्णपिण्ड के सौ वर्ष लिए जाएँ तो उन सौ वर्षों में हुई उस स्वर्णपिण्ड की कड़ा, कुण्डल, हार आदि समस्त अवस्थाओं का एक पिण्ड सोना है; उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य तीन काल के समस्त परिणामों का पिण्ड है। वे परिणाम क्रमशः एक के बाद एक होते हैं। तीनकाल के समस्त परिणामों का प्रवाह द्रव्य का प्रवाहक्रम है और उस प्रवाहक्रम का एक समय का अंश परिणाम हैं। तीनकाल के जितने समय हैं, उतने ही प्रत्येक द्रव्य के परिणाम हैं। अपने-अपने अवसर में प्रत्येक परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वाला है। किसी अन्य से किसी अन्य के परिणाम का उत्पाद नहीं होता तथा कोई परिणाम आगे-पीछे नहीं होता।

जैसे आत्मा में जो वर्तमान ज्ञान अवस्था है, उस अवस्था में ज्ञानगुण वर्त रहा है, दूसरी अवस्था होगी, तब उसमें वर्तमान वर्तेगा और तीसरी अवस्था के समय भी वर्तमान वर्तेगा। इसप्रकार दूसरी-तीसरी-चौथी सभी अवस्थाओं के प्रवाह का पिण्ड ज्ञानगुण है। ऐसे अनंत गुणों

का पिण्ड द्रव्य है। द्रव्य के प्रतिसमय जो परिणाम होते हैं, वे परिणाम अपनी अपेक्षा से उत्पाद रूप हैं, पूर्व के अभाव की अपेक्षा से व्ययरूप हैं और अखण्डप्रवाह में वर्तनेवाले अंशरूप से ध्रौव्य हैं - ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला जो परिणाम है; वह प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। ऐसे स्वभाव में द्रव्य नित्य प्रवर्तमान है; इसलिए द्रव्य स्वयं भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाला है।

अथवा प्रत्येक वस्तु अपने परिणाम स्वभाव (पर्यायों के प्रवाहक्रम) में वर्त रही है, उस परिणाम के तीन लक्षण (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक) हैं, इसलिए उस परिणाम में प्रवर्तित वस्तु में भी यह तीनों लक्षण आ जाते हैं; क्योंकि वस्तु का अस्तित्व परिणाम स्वभाव से पृथक् नहीं है। वस्तु परिणाम स्वभाव का उल्लंघन कभी नहीं करती; क्योंकि परिणाम सत् है। यदि वस्तु परिणाम का उल्लंघन करे तब तो ‘सत्’ का ही उल्लंघन करे, इसलिए वस्तु ‘है’ ऐसी ही सिद्ध न हो। वस्तु ‘है’ ऐसा कहते ही उसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आ जाते हैं। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य बिना ‘वस्तु है’ - ऐसा सिद्ध नहीं होता। परिणाम ‘है’ ऐसा कहने से वह परिणाम भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यवाला है। सत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य बिना नहीं होता, इसलिए सत् त्रिलक्षण है।

समस्त पदार्थ सत् हैं। पदार्थ ‘हैं’ ऐसा कहते ही उनमें सत्पना आ जाता है।

सत् त्रिकाल स्वयंसिद्ध है। यदि सत् त्रिकाली न हो तो वह असत् सिद्ध होगा। वस्तु कभी असत् नहीं होती। वस्तु त्रिकाल है, इसलिए उसका कोई कर्ता नहीं है, क्योंकि त्रिकाली का रचयिता नहीं होता। यदि रचयिता कहो तो, उससे पूर्व वस्तु नहीं थी - ऐसा सिद्ध होगा अर्थात् वस्तु का नित्यपना नहीं रहेगा। किन्तु वस्तु तो त्रिकाल सत् है, और वह वस्तु परिणामस्वभाववाली है। अर्थात् वस्तु में पर्याय धर्म है, वे पर्यायें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाली हैं। इसलिए पदार्थ में प्रतिसमय पर्याय के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते हैं, उनमें वह पदार्थ वर्त रहा है।

अतः त्रिकाली द्रव्य ही अपने तीनों काल के वर्तमान परिणामों

की रचना करता है। ये परिणाम स्वअवसर में सत् हैं, इसलिए इन परिणामों का रचयिता दूसरा कोई नहीं है। जिसप्रकार त्रिकाली द्रव्य का कर्त्ता कोई ईश्वर आदि नहीं है, उसीप्रकार उस त्रिकाली द्रव्य के वर्तमान परिणाम का कर्त्ता भी कोई दूसरा निमित्त, कर्म या जीव आदि नहीं हैं। द्रव्य तो स्वयं अपने प्रत्येक समय के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में स्थित रहता है, इसलिए सत् है।

यदि द्रव्य दूसरे के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का अवलम्बन करे तो वह स्वयं सत् नहीं रह सकता क्योंकि सत् का स्वभाव अपने ही परिणाम में प्रवर्तन करने का है। सत् स्वयं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। अतः द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है।

कोई भी वस्तु हो वह त्रिकाल अर्थात् प्रत्येक समय में वर्तमान रूप से वर्तती है। कहीं भूत-भविष्य में तो नहीं रहती। वह तो वर्तमान में ही परिपूर्ण है। प्रत्येक समय का वर्तमान यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला न हो तो वस्तु का त्रिकाल परिवर्तनपना सिद्ध नहीं होता। इसलिए प्रतिसमय होनेवाले उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परिणामों में ही वस्तु वर्तती है। जिसप्रकार द्रव्य त्रिकाली सत् है, उसीप्रकार उसके तीनों काल के परिणाम भी प्रत्येक समय के सत् हैं।

द्रव्य का वर्तमान प्रवर्तित परिणाम अपने से उत्पादकरूप है, अपने पहले के परिणाम की अपेक्षा से व्ययरूप हैं और अखण्डप्रवाह में वह ध्रौव्य है। इसप्रकार परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है और उस परिणाम में द्रव्य वर्तता है, इसलिए द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला ही है। परिणाम के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सिद्ध करने से, उस परिणाम में वर्तनेवाले परिणामी द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी सिद्ध हो ही जाते हैं; अतः द्रव्य त्रिलक्षण हैं। त्रिलक्षणात्मक द्रव्य सत् है। सत् द्रव्य का स्वभाव है। सत् को हम जैसा का तैसा जान सकते हैं, किन्तु उसे कोई बदल नहीं सकता है। वस्तु के द्रव्य गुण पर्याय का जैसा स्वभाव है, वैसा ज्ञान जानता है; अंश को अंश रूप से जानता है और त्रिकाली को त्रिकालीरूप से जानता है।

द्रव्य तो अनंत शक्ति का त्रिकाली पिण्ड है और परिणाम एक समयपर्यंत का अंश है।

जिसप्रकार त्रिकाली सत् में जो चैतन्य है, वह चैतन्य ही रहता है और जो जड़ है, वह जड़ ही रहता है; चैतन्य मिटकर जड़ नहीं होता और न जड़ मिटकर चैतन्य होता है; उसीप्रकार एक समय के सत् में भी जो परिणाम जिस समय में सत् है, वह परिणाम उसी समय होता है, आगे-पीछे नहीं होता। जिसप्रकार त्रिकाली द्रव्य सत् है; उसीप्रकार वर्तमान भी सत् है। जिसप्रकार त्रिकाली सत् पलटकर अन्य रूप नहीं हो जाता; उसीप्रकार वर्तमान सत् पलटकर भी भूत या भविष्यरूप नहीं हो जाता। तीनों कालों के समय-समय के वर्तमान परिणाम अपना स्वसमय (स्वकाल) छोड़कर पहले या पीछे के समय नहीं होते; क्योंकि जितने तीन काल के समय हैं, उतने ही द्रव्य के परिणाम हैं, उनमें जिस समय का जो वर्तमान परिणाम है, वह परिणाम अपना वर्तमानपना छोड़कर भूत या भविष्य में नहीं होता। प्रत्येक परिणाम अपने-अपने स्वकाल में वर्तमान सत् है। उस सत् को कोई बदल नहीं सकता। द्रव्य के त्रिकाली प्रवाह में उस-उस समय के वर्तमान परिणाम को आगे-पीछे नहीं किया जा सकता।

जिसप्रकार वस्तु अनादि-अनंत है; उसीप्रकार उसके प्रत्येक समय का वर्तमान भी प्रवाहरूप से अनादि-अनंत है। वस्तु और वस्तु का वर्तमान आगे-पीछे नहीं है। वस्तु सदा अपने वर्तमान में ही रहती है, कभी भी वर्तमान बिना नहीं रहती; क्योंकि तीनों काल में एक भी समय के वर्तमान को निकाल दें तो त्रिकाली वस्तु ही सिद्ध नहीं हो सकती। तीनों काल के वर्तमान का पिण्ड ही सत् द्रव्य है और तीनों काल का प्रत्येक वर्तमान परिणाम अपने अवसर में सत् है। आत्मा सत् है, जड़ सत् है, एक द्रव्य के अनंत गुण सत् हैं, तीन काल के 'स्व-अवसर' में होनेवाले परिणाम सत् हैं तथा प्रत्येक समय के परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत् हैं। स्वभाव में नित्य अवस्थित द्रव्य सत् है। सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है; अतः द्रव्य भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

द्रव्य के इस उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वरूप को मोतियों के हार का उदाहरण देते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि -

जिसप्रकार निश्चित लंबाई वाले लटकते हुए मोतियों के हार में, अपने-अपने स्थान में प्रकाशित समस्त मोतियों में, पीछे-पीछे के स्थानों में पीछे-पीछे के मोती प्रकट होने से और पहले-पहले के मोती प्रकट न होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित डोरा अवस्थित होने से हार में त्रिलक्षणपना है।

उदाहरणार्थ 108 मोतियों का लटकता हुआ हार लिया जाए तो उसमें सभी मोती अपने-अपने स्थान में प्रकाशित हैं। पीछे-पीछे के स्थान में पीछे-पीछे का मोती प्रकाशित होता है; इसलिए उन मोतियों की अपेक्षा से हार का उत्पाद है तथा एक के बाद दूसरे मोती को लक्ष्य में लेने से पहले का मोती लक्ष्य में से छूट जाता है; इसलिए पहले का मोती दूसरे स्थान पर प्रकाशित नहीं होता, इस अपेक्षा से हार का व्यय है और सभी मोतियों में परस्पर संबंध जोड़नेवाला अखण्ड डोरा होने से हार ध्रौव्यरूप है - इसप्रकार हार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणवाला निश्चित होता है।

हार का प्रत्येक मोती अपने-अपने स्थान में है, पहला मोती दूसरा नहीं होता, दूसरा मोती तीसरा नहीं होता। जो जहाँ है वहाँ वही है, पहले स्थान में पहला मोती है, दूसरे स्थान में दूसरा मोती है और हार का अखण्ड डोरा सर्वत्र है। मोती की माला फेरते समय उसमें पहले एक मोती स्पर्श में आता है और फिर वह छूटकर दूसरा मोती स्पर्श में आता है, उससमय पहला मोती स्पर्श में नहीं आता, इसलिए पहले मोती के स्पर्श की अपेक्षा से माला का व्यय हुआ, दूसरे मोती के स्पर्श की अपेक्षा से माला का उत्पाद हुआ और 'माला' रूप से प्रवाह चालू रहा, इसलिए माला ध्रौव्य रही। इसप्रकार एक के बाद एक ह्र क्रमशः होनेवाले परिणामों में वर्तनेवाले द्रव्य में भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य घटित हो जाते हैं।

प्रत्येक द्रव्य नित्य स्थायी हैं। नित्य स्थायी द्रव्य लटकते हार की भाँति सदैव परिणमित होता है, उसके परिणाम अपने-अपने अवसर में

प्रकाशित होते हैं। जिसप्रकार माला में मोतियों का क्रम निश्चित जमा हुआ है, माला फिरने से वह उल्टा सीधा नहीं होता। उसीप्रकार द्रव्य के तीन काल के परिणामों का निश्चित स्व-अवसर है, द्रव्य के तीनकाल के परिणामों का अपना-अपना जो अवसर है, उस अवसर में ही वे होते हैं, आगे-पीछे नहीं होते। परिणाम का जो वर्तन है, वही उसका अवसर है, अवसर और परिणाम दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। जिसका जो अवसर है, उससमय वही परिणाम वर्तता है, उस परिणामन में वर्तता हुआ द्रव्य उत्पादरूप है, उससे पूर्व के परिणाम में द्रव्य नहीं वर्तता, इससे वह व्ययरूप है और सर्वत्र अखण्डपने की अपेक्षा से द्रव्य ध्रौव्य है। अतः मोतियों के हार की भाँति ही द्रव्य में अपने-अपने अवसरों में स्वकाल में प्रकाशित होते हुए समस्त परिणामों में, पीछे-पीछे के परिणाम प्रकट नहीं होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचयिता प्रवाह स्थायी होने से त्रिलक्षणपना सिद्ध होता है।

यहाँ दृष्टान्त में अमुक लंबाई वाला हार था, सिद्धान्त में नित्यवृत्ति वाला द्रव्य है।

दृष्टान्त में लटकता हार था, सिद्धान्त में परिणामन करता हुआ द्रव्य है। दृष्टान्त में मोतियों का अपना-अपना स्थान था, सिद्धान्त में परिणामों का अपना-अपना अवसर-स्वकाल है। इसप्रकार स्पष्ट है कि समस्त द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वभाववाले हैं। संक्षेप में कहें तो द्रव्य जब देखो तब वर्तमान परिणाम में ही वर्तता है। जिसकाल के जो परिणाम हैं, उस काल में वे ही प्रकाशित होते हैं, उनके पहले के परिणाम उससमय प्रकाशित नहीं होते।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि पहले परिणाम के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सिद्ध करते समय 'वर्तमान परिणाम पूर्व परिणाम के व्ययरूप हैं' - ऐसा कहा था, और यहाँ द्रव्य के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सिद्ध करने में कथनशैली में परिवर्तन करके ऐसा कहा कि 'वर्तमान परिणाम के समय पूर्व के परिणाम प्रकट नहीं होते, इसलिये उन पूर्व परिणामों की अपेक्षा से द्रव्य व्ययरूप हैं। जिस परिणाम में द्रव्य वर्त रहा हो उस परिणाम की

अपेक्षा द्रव्य उत्पादरूप हैं, उसके पूर्व के परिणाम, जो कि इस समय प्रकट नहीं हैं, उनकी अपेक्षा से द्रव्य व्ययरूप हैं और समस्त परिणामों में अखण्ड बहते हुए द्रव्य के प्रवाह की अपेक्षा से वह ध्रौव्यरूप है। अतः परिणाम के समान ही परिणामी द्रव्य की सत्ता उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप है। मात्र उत्पादरूप, व्ययरूप या ध्रौव्यरूप द्रव्य की सत्ता नहीं है; किन्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य – ऐसी तीन लक्षणवाली ही द्रव्य की सत्ता है। **उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – ऐसी तीन पृथक्-पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं, किन्तु वे तीनों मिलकर एक सत्ता है।**

‘उत्पाद-व्यय पर्याय में ही हैं, द्रव्य तो ध्रौव्य ही रहता है, उसमें उत्पाद-व्यय नहीं होते’ – इस मान्यता का खण्डन करते हुए जैनागम में कहा गया है कि – ‘द्रव्य एकान्त नित्य नहीं है, किन्तु नित्य-अनित्य स्वरूप है, इसलिये परिणाम बदलने से उन परिणामों में वर्तनेवाला द्रव्य भी परिणमित होता है। परिणाम का उत्पाद-व्यय होने से द्रव्य भी उत्पाद-व्ययरूप परिणमित होता है। द्रव्य के परिणामन के बिना परिणाम के भी उत्पाद व्यय नहीं होंगे और द्रव्य की अखण्ड ध्रौव्यता भी निश्चित नहीं होगी; इसीलिए द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला ही है, परिणाम के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में प्रवर्तमान द्रव्य भी एक समय में त्रिलक्षण वाला ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने वर्तमान में वर्तता है, अपने परिणाम से पृथक् कोई द्रव्य नहीं रहता। कोई भी पदार्थ अपने परिणाम स्वभाव का उल्लंघन करके पर के परिणाम का स्पर्श नहीं करता और परवस्तु उसके परिणाम का उल्लंघन करके अन्य को स्पर्श नहीं करती। प्रत्येक वस्तु तीनों काल भिन्न-भिन्न अपने-अपने परिणाम में ही रहती है। प्रत्येक द्रव्य सदैव स्वभाव में रहता है; अतः सत् है। सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

वस्तु में उत्पाद-व्यय और ध्रुवत्व – ये तीनों एक साथ ही होते हैं; क्योंकि – 1. उत्पाद, व्यय और ध्रुव के बिना नहीं होता, 2. व्यय, उत्पाद और ध्रुव के बिना नहीं होता। 3. ध्रुव, उत्पाद और व्यय के बिना नहीं होता। यदि उक्त तीनों को एकसाथ नहीं मानेंगे तो निम्न दोष आँगे –

1. यदि मात्र उत्पाद ही माना जाए तो पुरानी पर्याय के व्यय बिना नवीन पर्याय की उत्पत्ति नहीं होगी अथवा ध्रुव के आधार बिना असत् की उत्पत्ति होगी, इसलिए एकसमय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव – तीनों साथ हों तभी उत्पाद होगा।

2. यदि मात्र व्यय ही माना जाए तो नवीन पर्याय के उत्पाद बिना पुरानी पर्याय का व्यय ही नहीं होगा अथवा ध्रुवपना रहे बिना ही व्यय होगा तो सत् का ही नाश हो जाएगा इसलिए एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव – तीनों साथ ही हों तभी व्यय सिद्ध होगा।

3. उत्पाद-व्यय के बिना मात्र ध्रुव को ही मानें तो उत्पाद-व्ययरूप व्यतिरेक के बिना ध्रुवपना ही नहीं रहेगा। अथवा जो एक अंश है, वही सम्पूर्ण द्रव्य हो जाएगा। इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों एक समय में साथ ही हों तभी ध्रुवपना रह सकेगा।

अतः स्पष्ट है कि मात्र उत्पाद, मात्र व्यय या मात्र ध्रुवता द्रव्य का लक्षण नहीं है; किन्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य – ये तीनों एक साथ ही द्रव्य का लक्षण हैं; क्योंकि ये तीनों अविनाभावी हैं।

इसके पश्चात् ‘उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं हैं, किन्तु सब एक ही द्रव्य हैं’ – यह सिद्ध करते हुए जैनागम में कहा गया है कि –

उत्पादादि द्रव्य के विशेष न होकर पर्यायों के विशेष हैं; क्योंकि वे स्वयं पर्यायरूप हैं। जो जिसरूप होता है, उसकी परिगणना उसी में की जाती है, अन्य में नहीं। पर्यायें नियम से द्रव्य में होती हैं, इसलिए सब एक ही द्रव्य हैं, द्रव्यान्तर नहीं।

वस्तु में जो उत्पाद, व्यय व ध्रुवत्व हैं, वे पर के कारण नहीं हैं, पर में नहीं हैं और पर के भी नहीं हैं; बल्कि वे अपनी पर्याय के ही हैं। उत्पाद, व्यय-ध्रुवत्व – सम्पूर्ण द्रव्य के नहीं हैं; किन्तु द्रव्य के एक-एक अंश के हैं, और वे अंश द्रव्य के ही हैं; दूसरे की पर्याय के कारण या दूसरे की पर्याय में वे अंश नहीं हैं। द्रव्य का ही व्यय, द्रव्य का ही उत्पाद और द्रव्य की ही ध्रुवता होती हो – ऐसा नहीं है, उस एक-एक पर्याय में सम्पूर्ण

द्रव्य नहीं आ जाता; किन्तु उत्पाद पर्याय का है, व्यय भी पर्याय का है और ध्रुवता भी पर्याय की ही है; इसलिए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य - ये तीनों तीन पर्यायों के अवलम्बन से हैं, और उन पर्यायों का समुदाय द्रव्य का अवलम्बन लेता है। पर्याय अंश है, द्रव्य अंशी है। द्रव्य समुदायी है और वह पर्यायों के समुदाय से बना है। जैसे - घट, पिण्ड और मिट्टीपना - इन तीनों अंशों के समुदायस्वरूप मिट्टी है। इन तीनों अंशों के बिना मिट्टी सिद्ध नहीं हो सकती उसमें उत्पाद, व्यय पिण्ड के आश्रय से है, घट के आश्रय से है और ध्रुवता मिट्टीपने के आश्रय से है तथा घट, पिण्ड और मिट्टीपना ये तीनों अंश मिट्टी के आश्रय से हैं। इसप्रकार एक मिट्टी में सब समा जाते हैं; इसीप्रकार पर्याय वस्तु के अंश हैं और वे पर्याय वस्तु के आश्रय से ही हैं। वस्तु के अंश वस्तु से पृथक् नहीं हैं।

वस्तु में उत्पाद भी अंश का है, व्यय भी अंश का है और ध्रुवता भी अंश की है; क्योंकि किसी एक भाव का उत्पाद होने से सम्पूर्ण द्रव्य ही नवीन उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वही पर्याय नवीन उत्पन्न होती है, वह पर्याय द्रव्य के आश्रित है व किसी एक भाव के व्यय होने पर सम्पूर्ण द्रव्य ही नाश को प्राप्त नहीं होता, किन्तु वही पर्याय नष्ट होती है, और वह पर्याय द्रव्य के आश्रित है। इसीप्रकार परिणामों के प्रवाह में ध्रुवतारूप से द्रव्य ही ध्रुव नहीं है, किन्तु अंश की अपेक्षा से ध्रुवता है। ध्रुवता भी द्रव्य का एक अंश है, सम्पूर्ण द्रव्य नहीं है; किन्तु वह ध्रुव अंश द्रव्य के आश्रय से है।

अतः स्पष्ट है कि उत्पाद, व्यय, ध्रुवत्व द्रव्य के नहीं, पर्याय के हैं और वे पर्याय द्रव्य की हैं। उत्पाद, व्यय, ध्रुवत्व में से किसी एक अंश में सम्पूर्ण वस्तु का समावेश नहीं हो जाता, अर्थात् द्रव्य की ही उत्पत्ति, द्रव्य का ही नाश या द्रव्य की ही ध्रुवता नहीं रहती; अपितु वे तो एक-एक पर्याय के हैं। उत्पाद सम्पूर्ण द्रव्य को नहीं बतलाता, किन्तु उत्पन्न होनेवाली पर्याय को बतलाता है। इसीप्रकार व्यय और ध्रुवत्व भी सम्पूर्ण द्रव्य को नहीं बतलाते; किन्तु वह पर्याय (अंश) को ही बतलाते हैं।

इसप्रकार स्पष्ट है कि उत्पाद, व्यय, ध्रुवत्व अंशों के हैं, अंशी के नहीं। अतः उत्पन्न होता हुआ भाव, नष्ट होता हुआ भाव और ध्रौव्य भाव सब द्रव्य के अंश हैं। उत्पन्न होते हुए भाव का उत्पाद, नष्ट होते हुए भाव का नाश और स्थायी भाव का ध्रौव्य एक ही साथ है। इसप्रकार उत्पाद उत्पन्न होते भाव के आश्रित हैं, नाश नष्ट होते हुए भाव के आश्रित हैं और ध्रौव्य स्थायी भाव के आश्रित हैं; अतः द्रव्य में जिसका उत्पाद हुआ है वह नष्ट होता है; पर द्रव्य में उत्पादादि जिन भावों की सत्ता है, वह नष्ट नहीं होती, वे उत्पादादि भाव द्रव्य में सदा विद्यमान रहते हैं। अर्थात् द्रव्य में जिसका उत्पाद हुआ है, व्यय उसका होगा; उत्पाद का व्यय नहीं होता; क्योंकि निरन्तर उत्पन्न होते रहना वस्तु का स्वभाव है। इसलिए वह वस्तु में निरन्तर विद्यमान रहता है तथा उसके उत्पाद में कर्मोदयादि का निमित्त भी नहीं होता, किन्तु जो रागादि भाव आत्मा में उत्पन्न होते हैं, वे नष्ट होते हैं; क्योंकि वे कर्म के कारण होते हैं। अतः वस्तु में उत्पादपना, नाशपना कभी समाप्त नहीं होता, निरन्तर कायम रहता है।

जैसे किसी महिला का बच्चा उत्पन्न होते ही मर गया हूँ इसमें जो (बच्चा) उत्पन्न हुआ है, वह मरा है; किन्तु उस महिला में माँ बनने की सामर्थ्य का नाश नहीं हुआ है; उसीप्रकार द्रव्य में भी जो उत्पन्न होता है, वही नष्ट होता है, उत्पादादि भाव नष्ट नहीं होते, वे भाव द्रव्य में सदा विद्यमान रहते हैं। अतः द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य भावों से भिन्न नहीं है, वे एक ही द्रव्य हैं, द्रव्यांतर नहीं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य - प्रत्येक द्रव्य की एक-एक पर्याय को बतलाते हैं और उन तीनों पर्यायों का समूह द्रव्य को बतलाता है; अतः द्रव्य पर्यायों के समूहरूप है।

किसी द्रव्य का कोई भी एक समय लो तो उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व हूँ तीनों एक साथ पर्यायों के आश्रय से हैं।

यदि अंश का उत्पाद न मानकर द्रव्य का ही उत्पाद माना जाए तो दो प्रकार के दोष आते हैं -

1. प्रथम तो एक ही द्रव्य अनन्त द्रव्यरूप हो जाएगा, अर्थात् एक अंश के उत्पाद को ही यदि द्रव्य माना जाये तो एक पर्याय स्वयं ही संपूर्ण हो जाएगी, इसलिए द्रव्य की अनंत पर्यायें ही अनंत द्रव्य हो जायेंगे। इसप्रकार एक द्रव्य को अनन्त द्रव्यपना हो जाएगा। जो कि संभव नहीं; क्योंकि एक द्रव्य में अनंत गुण होते हैं और एक द्रव्य की अनंत पर्यायें भी होती हैं; किन्तु एक द्रव्य के अनन्त द्रव्य कभी नहीं होते।

2. दूसरा दोष है असत् की उत्पत्ति होना। यदि द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है - ऐसा माना जाए तो असत् की ही उत्पत्ति होगी, जो कि संभव नहीं। अतः स्पष्ट है कि स्वयं द्रव्य नवीन उत्पन्न नहीं होता, द्रव्य की पर्याय ही नवीन उत्पन्न होती है।

इसलिए उत्पाद द्रव्य का नहीं, किन्तु उत्पन्न होनेवाले भाव का है और उस उत्पन्न होनेवाले भावरूप अंश द्रव्य का है।

यदि पूर्व के अंश का व्यय न मानकर द्रव्य का ही व्यय माना जाये तो भी दो दोष आँगे -

1. प्रथम तो द्रव्यों का सर्वथा अभाव सिद्ध होगा; क्योंकि समस्त द्रव्य एक क्षण में ही नाश को प्राप्त हो जाएँगे, इसप्रकार सत् का ही नाश हो जाएगा। जैसे यदि मिथ्यात्वपर्याय का नाश न मानकर आत्मद्रव्य का ही नाश माना जाए तो आत्मा एक क्षण में ही नाश को प्राप्त हो जाएगा; क्योंकि पहले क्षण के सत् का दूसरे क्षण ही नाश हो जाएगा।

2. दूसरे भाव का ही अभाव हो जाएगा।

इसलिए द्रव्य का व्यय नहीं है, किन्तु मात्र द्रव्य के अंश का व्यय है। तथा यदि सम्पूर्ण द्रव्य को ही ध्रुव मान लिया जाए तो क्रमशः होनेवाले उत्पाद-व्यय भावों के बिना द्रव्य का ही अभाव हो जाएगा अथवा द्रव्य को क्षणिकपना हो जाएगा। क्योंकि यद्यपि एक ही समय में उत्पाद-व्यय होते हैं, किन्तु वे उत्पाद-व्यय एक ही समय की पर्याय के नहीं हैं। एक समय में उत्पाद वर्तमान पर्याय का है और व्यय पूर्व पर्याय का है। एक ही समय में जिसका व्यय है, उसका उत्पाद नहीं है और जिसका उत्पाद है, उसका व्यय नहीं है। उत्पाद से आलंबित पृथक् पर्याय है और व्यय से

आलंबित पृथक् पर्याय है, किन्तु उत्पाद, व्यय - दोनों का काल एक ही है। एक का व्यय और दूसरी का उत्पाद, दूसरी का व्यय और तीसरी का उत्पाद - इसप्रकार होने से वे क्रमशः होनेवाले भाव हैं। जैसे ह्व जब बीज का व्यय हो, तब अंकुर का उत्पाद होता है; इसप्रकार बीज और अंकुर क्रमशः होनेवाले भाव हैं उनके बिना वृक्ष की ध्रुवता नहीं रहती, इसीप्रकार उत्पाद-व्यय के बिना क्रमशः होनेवाले भाव नहीं बन सकते और क्रमशः होनेवाले भाव के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं रह सकता। अतः द्रव्य को मात्र ध्रुव ही मान लेने में द्रव्य में पूर्व पर्याय का व्यय व नई पर्याय का उत्पाद कैसे होगा? क्रमशः होनेवाले भाव उत्पाद-व्यय के बिना द्रव्य के ध्रुव स्वभाव का ही अभाव हो जाएगा। इसप्रकार द्रव्य को ही ध्रुव मान लेने में उक्त दोष आते हैं; अतः ध्रुवता द्रव्य की ही नहीं, अपितु द्रव्य के स्थायी अंश की है।

उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व - यह तीनों एक साथ हैं, किन्तु वे अंशों के हैं, द्रव्य के नहीं हैं।

द्रव्य का उत्पाद या विनाश नहीं होता है, उसका तो सद्भाव है। विनाश, उत्पाद और ध्रुवता तो उसकी पर्यायें ही करती हैं। इसप्रकार उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य पर्यायरूप हैं, अतः वे पर्यायों के ही भेद हैं, द्रव्य के नहीं।

उत्पाद, व्यय, ध्रुवता से परिणमन करनेवाले परिणमनशील द्रव्य में नूतन अवस्था के उत्पन्न होने को 'उत्पाद' कहते हैं। द्रव्य में पूर्व अवस्था के विनाश को व्यय कहते हैं। यह व्यय 'सत्' का नहीं होता, किन्तु उस सत् की अवस्था का नाश व्यय कहलाता है। यह प्रध्वंसाभाव रूप होता है।

धारा की एकरूपता बने रहने को 'ध्रौव्य' कहते हैं अथवा वस्तु का जो भाव है उसका व्यय नहीं होता, उसी रूप बने रहना ध्रौव्य है। अर्थात् जो परिणाम द्रव्य में पूर्व समय में होता है, तदनन्तर भी उसी परिणाम का होना ध्रौव्य है, जैसे - फूल में गंधगुण प्रतिसमय परिणमन करता रहता है,

फिर भी वह बना रहता है, अतः वह ध्रुव है। इसीप्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य घटित होते हैं।

उत्पाद-व्यय के समान ध्रौव्य भी द्रव्य का एक अंशरूप है, सर्वांश नहीं है, इसलिए सत् द्रव्य मात्र ध्रौव्यरूप ही नहीं हैं किन्तु, पर्यायार्थिक नय¹ की अपेक्षा से वह कथंचित् ध्रौव्य होता है।

उक्त तीनों में उत्पाद, व्यय क्षणवर्ती हैं; अतः वे द्रव्य में अनित्यता के सूचक हैं; क्योंकि एकक्षणवर्तित्व का अनित्यता के साथ में अविनाभाव संबंध है और ध्रौव्य त्रिकालगोचर होता है, इसलिए वह नित्यता का सूचक है - इसप्रकार ये तीनों ही अंशात्मक भेद हैं।

जिसप्रकार वृक्ष में फल, फूल, शाखा आदि पृथक्-पृथक् अवयव होते हैं; उसप्रकार ये नहीं हैं, किन्तु एक ही सत् जब उत्पादरूप से विवक्षित होता है, तब वह उत्पादरूप प्रतीत होता है, जब व्ययरूप से विवक्षित होता है, तब व्यय प्रतीत होता है और जब ध्रौव्यरूप से विवक्षित होता है, तब ध्रौव्य प्रतीत होता है; इसलिए इन तीनों को सत् का अंश माना गया है।

यद्यपि ये सत् के अंश हैं; तथापि वे सत् से अभिन्न और सर्वांग होने के कारण न तो केवल अंशों का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य बनता है, न ही अंशी का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य बनता है; किन्तु अंशी का अंशरूप से यह सब घटित होता है। जिसप्रकार अवयवों के सिवाय शरीर सर्वथा स्वतंत्र नहीं है। उसीप्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के सिवा सत् भी सर्वथा स्वतंत्र नहीं है।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य - ये तीनों ही सामान्य कथन² से द्रव्य से अभिन्न हैं तथा विशेष कथन से भिन्न हैं अर्थात् जब द्रव्य में भेद विवक्षित होता है तब तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - ये तीनों ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं और यदि मूल में भेद विवक्षित नहीं रहता है तो वे तीनों भेद प्रतीत नहीं होते हैं। जैसे एक ही सोने को जब कड़ा आदि पर्यायों के रूप

1. भेद, विशेष, अनेक और अनित्य पर्याय का कथन पर्यायार्थिकनय का विषय है। अतः भेद कथन होने से यहाँ पर्यायार्थिकनय कहा गया है।
2. द्रव्यार्थिकनय सामान्य, अभेद, नित्य, एक को विषय बताया है।

में देखते हैं, तब वह अनेक प्रतीत होता है और जब ये सब पर्यायों गौण कर दी जाती हैं तब एक शुद्ध सोना ही दिखाई देता है।

द्रव्यार्थिकनय से अभेददृष्टि से विचार करने पर न उत्पाद है, न व्यय है, न ध्रौव्य है, न गुण है, न पर्याय है; (अर्थात् ये सब प्रतीति में नहीं आते हैं) किन्तु केवल एक 'सत्' है। जिसप्रकार तरंगमालाओं से समुद्र को जुदा नहीं किया जा सकता; उसीप्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य - ये भी सत् से जुदे नहीं है। पर्यायार्थिकनय से भेददृष्टि से विचार करने पर द्रव्य को जब उत्पादरूप से देखते हैं तो वह उत्पादमय दिखाई देता है, जब व्ययरूप से देखते हैं तो व्ययरूप दिखाई देता है तथा जब ध्रौव्यरूप से देखते हैं तो केवल ध्रौव्यरूप से दिखाई देता है; इसलिए स्वयं सत् ही उत्पाद है, स्वयं सत् ही व्यय है और स्वयं सत् ही ध्रौव्य है; सत् से भिन्न न उत्पाद है, न व्यय है, न ध्रौव्य है। अतः स्पष्ट है कि सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि द्रव्य के एक समय में उत्पादादिक तीनों ही पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं, किन्तु सर्वथा सत् के नहीं होते।

संक्षेप में कहें तो वास्तव में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सत् के अंश न होकर स्वयं सद्रूप हैं; क्योंकि जैसे पदार्थान्तर पृथक्-पृथक् होने से अनेक होते हैं। इसप्रकार यह 'सत्' नहीं है, किन्तु वह स्वयं एक होकर अनेक है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - ये तीनों एक ही सत् के होते हैं। जैसे मृत्पिण्ड घटरूप होकर भी मिट्टीरूप बना रहता है; वैसे ही उत्पादादि तीनों भी एक ही पदार्थ में होते हैं।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य - इन तीनों में समयभेद भी नहीं है; क्योंकि ये तीनों ही एकसमयवर्ती हैं। जैसे अंकुर का उत्पाद ही बीज का विनाश है और वृक्षपना दोनों अवस्थाओं में विद्यमान है अर्थात् अंकुर के उत्पन्न होने का जो समय है, वही समय बीज के नाश का है तथा बीज और अंकुर - ये दोनों वृक्षरूप होने के कारण वृक्षत्व का भी वही काल है।

उक्त कथनों में किसी अन्य पर्याय के द्वारा सत् का विनाश होता है तथा किसी अन्य पर्याय द्वारा उसका उत्पाद होता है और इनसे भिन्न

किसी अन्य धर्मरूप से उसका ध्रौव्य होता है। जैसे - वृक्ष अंकुर रूप से स्वयं उत्पन्न होता है, बीजरूप से नष्ट होता है; तथापि वृक्षरूप से वह दोनों अवस्थाओं में ध्रुव रहता है; किन्तु ऐसा नहीं है कि वृक्ष बीज रूप से ही नष्ट होता हो, उसी बीज रूप से वह उत्पन्न होता हो और उसी बीज रूप से वह ध्रुव भी रहता हो, क्योंकि यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

अतः स्पष्ट है कि उत्पादादि तीनों स्वयं सत् स्वरूप ही हैं, सत् से भिन्न अन्य वस्तु नहीं है। ये तीनों एक समय में होने पर भी लक्षणभेद से तीन स्वीकार किए गए हैं, अर्थात् उत्पादादि तीनों भेद मुख्यता से कथन करनेवाले पर्यायार्थिक नय से ही घटित होते हैं, द्रव्यार्थिकनय से नहीं; क्योंकि द्रव्यार्थिकनय में अभेद की मुख्यता रहती है। अतः इस अपेक्षा से देखने पर द्रव्य में न उत्पाद है, न व्यय है, न ध्रौव्य है।

द्रव्य के उत्पादादि को अनेक द्रव्य पर्याय (एक से अधिक द्रव्यों के संयोग से होने वाली पर्याय) द्वारा विचार करने पर द्रव्य की अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और कोई अन्य पर्याय नष्ट होती है, फिर भी द्रव्य न तो नष्ट होता है, न उत्पन्न होता है, वस्तु तो ध्रुव है। जैसे कि जीव की एक मनुष्यत्वरूप असमानजातीय द्रव्यपर्याय नष्ट होती है और दूसरी देवत्व स्वरूप (असमानजातीय द्रव्यपर्याय) उत्पन्न होती है, परन्तु वह जीव और पुद्गल तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं, इसीप्रकार सभी असमानजातीय द्रव्य पर्यायें विनष्ट हो जाती हैं और उत्पन्न होती हैं, परन्तु असमानजातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं।

इसप्रकार समस्त द्रव्यों को नवीन पर्याय की उत्पत्ति में सत् का विनाश नहीं है तथा असत् का उत्पाद नहीं है; किन्तु सत् का विनाश और असत् का उत्पाद किए बिना ही पुरानी अवस्था से विनाश को प्राप्त होनेवाले और नवीन अवस्था से उत्पन्न होनेवाले परिणामी गुणों में पहले की पर्याय का विनाश और बाद की पर्याय की उत्पत्ति होती है, जैसे ह्व घी की उत्पत्ति में गोरस का (सत् का) विनाश नहीं है तथा गोरस से भिन्न पदार्थान्तर (असत् का) का उत्पाद नहीं है, किन्तु गोरस को ही सत् का विनाश और असत् का उत्पाद किए बिना ही पूर्व अवस्था से विनाश को

प्राप्त होनेवाले और उत्तर अवस्था से उत्पन्न होनेवाले स्पर्श-रसादि परिणामी गुणों में मक्खनपर्याय विनाश को प्राप्त होती है और घी पर्याय उत्पन्न होती है। उसीप्रकार सर्वभावों का वैसा ही है।

अतः स्पष्ट है कि जब द्रव्यदृष्टि से ध्रुवता की मुख्यता से कथन किया जाता है तो सत् का नाश नहीं होता, असत् का उत्पाद नहीं होता; किन्तु जब पर्याय की दृष्टि से कथन किया जाता है तो सत् का नाश व असत् की उत्पत्ति होती है।

जैसे जो जीव जन्मता है, वही मरता है और जो जीव मरता है, वही जन्मता है; अतः इस दृष्टि से सत् का विनाश व असत् का उत्पाद नहीं है।

‘देव जन्मता है और मनुष्य मरता है’ - इसमें मनुष्यादि पर्याय का संपूर्णतया नाश होना तथा देवादि पर्याय की पूर्णतया नवीन उत्पत्ति होना ही सत् का नाश व असत् का उत्पाद है।

इसप्रकार द्रव्य द्रव्यार्थिकनय से उत्पाद रहित, विनाशरहित सत् स्वभाववाला है और वही द्रव्य पर्यायार्थिक नय से उत्पादवाला तथा विनाशवाला होता है।

द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को एक द्रव्य पर्याय (गुण पर्याय)¹ द्वारा विचार करने पर द्रव्य स्वयं ही एक गुणपर्याय में से अन्य गुणपर्याय रूप परिणमित होता है और उसकी सत्ता गुणपर्यायों की सत्ता के साथ अभिन्न (एक ही) रहती है; क्योंकि द्रव्य स्वयं ही गुण की पूर्वपर्यायों में से उत्तरपर्याय रूप परिणमित होता हुआ पूर्व और उत्तर गुणपर्यायों के द्वारा अपने अस्तित्व का अनुभव करता है। इसलिए पूर्व और उत्तर गुणपर्यायों के साथ अभिन्न अस्तित्व होने से वे एक ही द्रव्य हैं, द्रव्यान्तर नहीं, अर्थात् वे गुणपर्यायें और द्रव्य एक ही द्रव्यरूप हैं, भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं।

इसप्रकार जैनमतानुसार कभी नष्ट न होकर प्रतिसमय नया उत्पन्न होना व नष्ट होना द्रव्य के स्वभाव में पड़ा है; इसलिए ध्रुवता के समान पलटना भी वस्तु का स्वभाव है, वस्तु का काम है। अतः पलटना आत्मा का भी स्वभाव है इसलिए वह दुःखकर नहीं हो सकता। किन्तु

दृष्टि के विषय में से परिवर्तन निकालने की बात जिनवाणी में कही गई है, क्योंकि परिवर्तनशील अंश पर दृष्टि ठहर नहीं सकती तथा परिवर्तनशील अंश में अपनत्व नहीं करना है, राग नहीं करना है। अपितु सर्वज्ञेयों के सामान्य स्वरूप को जानकर, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य में नित्य अवस्थित स्वभाव को पहिचानकर उन्हें जाननेवाले ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करना है। यही सम्यग्दर्शन है, यही मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि -

1. जैन ग्रन्थों में द्रव्य के तीन लक्षणों में भेद नहीं अभेद ही माना है। उनके अनुसार एक के कहने से शेष दो का कथन स्वतः हो जाता है; क्योंकि जो सत् है, वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप व गुणपर्याय वाला है। जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, वह सत् और गुण-पर्यायवाला भी है तथा जो गुण-पर्यायवाला है, वह सत् है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है। अथवा उत्पाद-व्यय पर्याय के ही दूसरे नाम हैं तथा ध्रौव्य गुण का दूसरा नाम है; इसलिए द्रव्य को उत्पादव्ययध्रौव्यवाला कहें या गुणपर्यायवाला कहें एक ही बात है। गुण का मुख्य लक्षण ध्रुवता है, पर्याय का मुख्य लक्षण उत्पाद और व्यय है। गुण की पहिचान सदाकाल बने रहना है और पर्याय की मुख्य पहिचान उसका उत्पन्न होते रहना और विनष्ट होते रहना है।

2. जैन मतानुसार द्रव्य, गुण, पर्याय - ये तीन स्वतंत्र रूप से पृथक्-पृथक् जुड़े पदार्थ नहीं हैं, दृष्टिभेद से उन्हें अलग-अलग कहा जाता है, वस्तुतः एक हैं। इनमें कथंचित् भेद, कथंचित् अभेद है। लक्षण-लक्ष्य अपेक्षा भेद है, प्रदेश अपेक्षा अभेद हैं; अतः ये पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं हैं।

3. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य न केवल द्रव्य के होते हैं, न केवल पर्याय के; किन्तु पर्याय द्वारा द्रव्य के होते हैं।

4. उत्पादादि तीनों में समय भेद नहीं हैं।

5. गुण और पर्याय मिलकर द्रव्य हैं। गुण अन्वयी होते हैं, पर्याय व्यतिरेकी।

6. कोई पदार्थ न सर्वथा नित्य है ना अनित्य; किन्तु जड़-चेतन समस्त पदार्थ उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य स्वभावी हैं, नित्यानित्यात्मक हैं।

विशेष द्रव्य वर्णन

प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के धर्म पाए जाते हैं - एक सामान्यरूप दूसरे विशेषरूप। सामान्य धर्म सब द्रव्यों में समानरूप से पाए जाते हैं। जिनकी विस्तार से चर्चा पूर्व में कर चुके हैं। विशेष धर्म विवक्षित द्रव्य के सिवाय अन्य द्रव्यों में नहीं पाए जाते। ये विशेष धर्म ही उस द्रव्य के अनुजीवी धर्म कहलाते हैं। इनके अस्तित्व द्वारा ही उस द्रव्य की पृथक् सत्ता जानी जाती है।

द्रव्यसामान्य के स्वरूप को छोड़े बिना (सादृश्य अस्तित्व को छोड़े बिना) अपने अपने विशेष लक्षणों से युक्त द्रव्य छः प्रकार के हैं -

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

ये छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्योन्य अवकाश देते हैं, दूध-पानी की तरह परस्पर मिल जाते हैं - इसप्रकार इनमें अत्यन्त संकर (मिश्रितपना) होने पर भी ये अन्य द्रव्यों से एकत्व को प्राप्त नहीं होते तथा ये अपने-अपने निश्चित स्वरूप से कभी भी च्युत नहीं होते; इसलिए परिणाम स्वभाववाले होने पर भी वे नित्य हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य का वर्णन एकमात्र जैनदर्शन में ही है, अन्य दर्शनों में नहीं। लोक में धर्म-अधर्म शब्द दर्शन, मत, सिद्धान्त, आचार, पुण्य-पाप आदि के अर्थ में प्रचलित हैं, परन्तु उन अर्थों से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। ये दोनों स्वतंत्र द्रव्य हैं। जो सम्पूर्ण लोक में तिल में तेल की भाँति व्याप्त हैं। जैनदर्शन में धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों का प्रतिपादन जीव और पुद्गल के अनुपात में बहुत कम हुआ है। कारण कि जैन तत्त्व के प्रतिपादन का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश रहा है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य इस जीव के लिए न तो दुःख के कारण ही हैं और न सुख के। यही कारण है कि इनका प्रतिपादन अत्यन्त संक्षेप में हुआ है।

छह द्रव्यों के विभिन्न अपेक्षा भेद -

छह द्रव्यों को जैनदर्शन में कई युग्मों में विभाजित करके समझाया

गया है। जैसे ह्व जीव-अजीव, मूर्त्त-अमूर्त्त, लोक-अलोक, क्रियावान-भाववान, सप्रदेशी-अप्रदेशी, अस्तिकाय-अनास्तिकाय आदि।

जीव-अजीव - द्रव्यों में जीव व अजीव ये दो भेद चेतना के सद्भाव व असद्भाव की अपेक्षा हैं। चैतन्य का सद्भाव जिसका स्वभाव है, वह जीव है और चैतन्य का अभाव जिसका स्वभाव है, वह अजीव है।

उपयोगमयी चेतनस्वभावी जीव द्रव्य ही है; इसलिए जीव का आत्मद्रव्य ही एक भेद है।

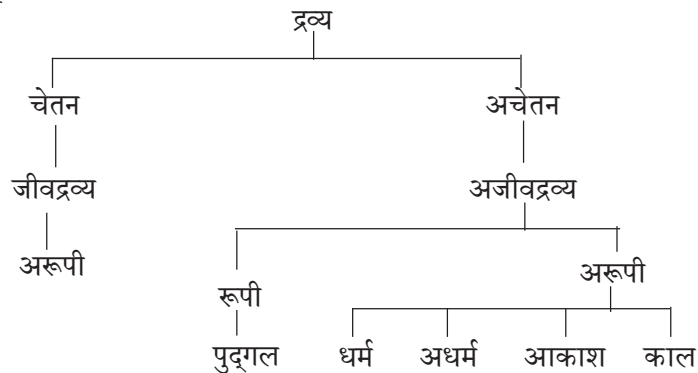
अचेतन होने से अजीव के पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य तथा कालद्रव्य - ये पाँच भेद हैं।

इसप्रकार इस जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं - जीव और अजीव। इन्हें चेतन और अचेतन भी कह सकते हैं। जीव द्रव्य चेतन हैं, शेष पाँच अजीव द्रव्य अचेतन हैं।

अजीवद्रव्य भी दो प्रकार के होते हैं - रूपी और अरूपी। पुद्गल व शब्दादि रूपी अजीव द्रव्य हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरूपी अजीव द्रव्य हैं।

षट्द्रव्यों में जीव को छोड़कर पाँच अजीव द्रव्य तो न दुःखी है और न कभी उनके सुखी होने का ही सवाल है; क्योंकि उनमें चेतनता ही नहीं है। सुख-दुःख चेतन को ही होते हैं; क्योंकि वे चेतन की ही अनुभूतियाँ हैं।

छहों द्रव्य इन दोनों में कैसे समाते हैं - यह निम्न चार्ट द्वारा देखा जा सकता है -

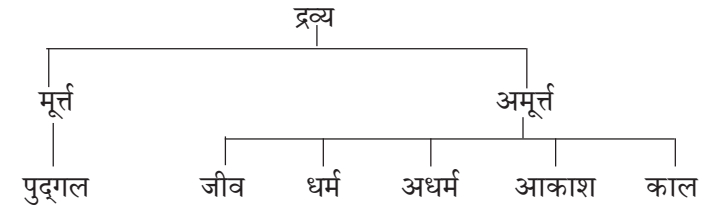


मूर्त्त-अमूर्त्त ह्व इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य स्पर्श-रस-गंध-वर्णवाला पुद्गल ही एकमात्र मूर्त्त द्रव्य है। यद्यपि परमाणु आदि का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता तो भी उनमें ऐसी योग्यता पाई जाती है, जिससे उनके स्कन्धरूप हो जाने पर उनका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने लगता है।

जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने के योग्य नहीं होते तथा स्पर्श-रस-गंध-वर्ण का अभाव जिनका स्वभाव है वे अमूर्त्त द्रव्य हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव अमूर्त्त द्रव्य हैं। यहाँ इतना विशेष है कि जीव निश्चयनय से अमूर्त्त हैं तथा व्यवहारनय से मूर्त्त द्रव्य के संयोग की अपेक्षा से मूर्त्त भी हैं।

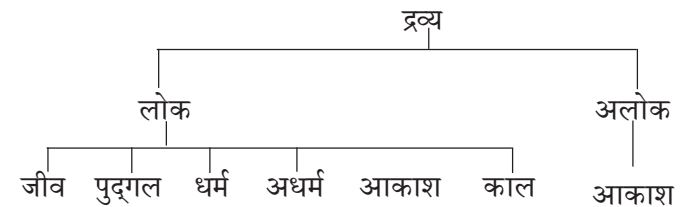
इसप्रकार इस जगत् में मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार के पदार्थ हैं।

छहों द्रव्य इन दोनों में कैसे समाते हैं - यह निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है -



लोक-अलोक - लक्षण के अनुसार द्रव्यों के दो भेद हैं - लोक और अलोक। आकाश के जिस प्रदेश में जीवादि छहों द्रव्य रहते हैं, वह लोक है एवं जहाँ मात्र आकाश है वह अलोक है।

छहों द्रव्य दोनों में कैसे गर्भित होते हैं - यह निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है -



क्रियावान-भाववान – द्रव्यों में अन्वर्थ (स्थायी) रूप से दो प्रकार की योग्यता पाई जाती है – भावरूप और क्रियारूप।

प्रत्येक वस्तु में होनेवाली प्रवाहरूप परिणमनशील योग्यता को 'भाव' कहते हैं; अतः 'भाववान' (परिवर्तनशील) तो छहों द्रव्य हैं, क्योंकि वे परिणाम (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) स्वभाववाले होने से परिणाम के द्वारा ही अन्वय और व्यतिरेकों को प्राप्त होते हुए वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं।

तथा प्रदेशों के हलन-चलनरूप योग्यता को 'क्रिया' कहते हैं। जीव और पुद्गल गमनशील होने के कारण 'क्रियावान' भी हैं, पुद्गल परिस्पंदस्वभाव वाला होने से परिस्पंद के द्वारा पृथक् पुद्गल कंपन के द्वारा एकत्रित हो जाते हैं, एकत्रित पुद्गल पुनः पृथक् हो जाते हैं; इसलिए इस अपेक्षा से वे उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं, टिकते हैं। इसीप्रकार जीव भी परिस्पंद स्वभाववाला होने से परिस्पंद के द्वारा नोकर्म रूप पुद्गलों से भिन्न जीव उनके साथ एकत्रित होने से और कंपन से (परिस्पंदन से) कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलों के साथ एकत्रित जीव बाद में पृथक् होने की अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं और टिकते हैं।

इसप्रकार जीव व पुद्गल – दोनों क्रियावान व भाववान हैं। यहाँ इतना विशेष है कि क्रियारूप योग्यता अयोगी जीवों के व सिद्धालय में स्थित सिद्ध जीवों के नहीं पाई जाती; क्योंकि मुक्त होने पर जीव का यद्यपि ऊर्ध्वगमन तो होता है पर उनके प्रदेशों में चांचल्य नहीं होता।

क्रियावान को सक्रिय व भाववान को निष्क्रिय भी कहा गया है; क्योंकि अन्य प्रदेश की प्राप्ति का कारण परिस्पन्दरूप पर्याय ही क्रिया है। बहिरंग साधन के साथ रहनेवाले जीव व पुद्गल सक्रिय हैं, शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं।

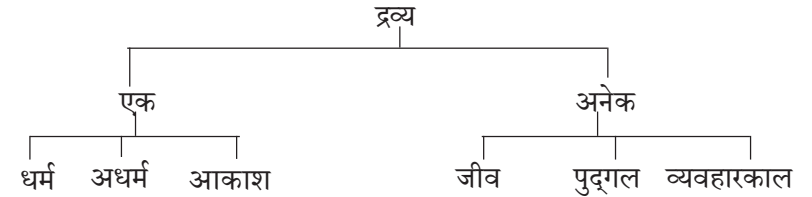
जीवों को सक्रियपने का बहिरंग साधन कर्म-नोकर्म संचयरूप पुद्गल हैं, इसलिए जीव 'पुद्गलकरण' वाले हैं; अतः पुद्गलकरण के अभाव में सिद्ध जीवों को निष्क्रियपना है।

पुद्गलों को सक्रियपन का बहिरंग साधन परिणाम का उत्पन्न करनेवाला 'काल' है, इसलिए पुद्गल 'कालकरण' वाले हैं। चूँकि काल का कभी अभाव नहीं होता; अतः पुद्गलों को कभी भी निष्क्रियपना नहीं होता; वे सदा सक्रिय रहते हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल – निष्क्रिय ही हैं।

एक-अनेक ह्व धर्म, अधर्म और आकाश – ये तीनों द्रव्य एक स्वरूप हैं अर्थात् अपने स्वरूप को बदलते नहीं हैं। इन तीनों द्रव्यों के प्रदेश लोकाकाश में व्याप्त हैं। व्यवहार काल, पुद्गल और जीव – ये तीन द्रव्य अनेक स्वरूप हैं अर्थात् वे अनेक रूप धारण करते हैं।

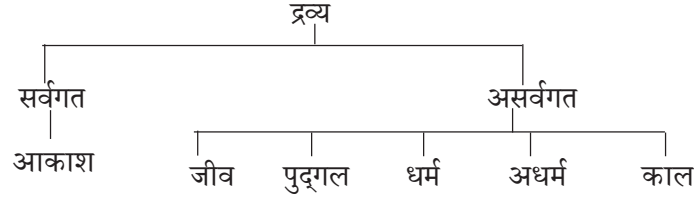
छहों द्रव्य इनमें कैसे गर्भित होते हैं – यह निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है –



सर्वगत-असर्वगत – लोकालोक में सर्वव्यापक होने से एकमात्र आकाश सर्वगत है, शेष कोई भी सर्वगत नहीं है; अतः वे असर्वगत हैं।

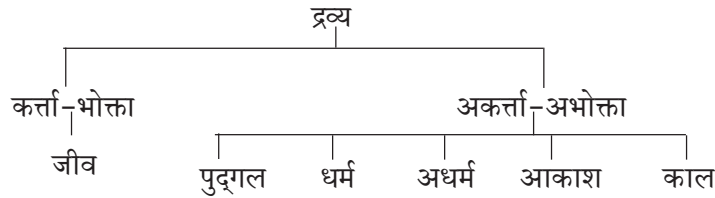
यहाँ लोक में व्यापक होने की अपेक्षा सर्वगत कहा है। जीवद्रव्य नाना जीवों की अपेक्षा सर्वगत ही हैं; किन्तु एक जीव की अपेक्षा लोकपूरण समुद्घात के सिवाय असर्वगत हैं। पुद्गलद्रव्य भी लोक व्यापक महास्कन्ध की अपेक्षा सर्वगत हैं और शेष पुद्गलों की अपेक्षा असर्वगत हैं। इसीप्रकार लोक प्रदेश के बराबर असंख्यात कालाणुओं की अपेक्षा कालद्रव्य लोक में सर्वगत है, किन्तु एक कालाणुद्रव्य की अपेक्षा कालद्रव्य भी असर्वगत है।

छहों द्रव्य उक्त भेदों में किसप्रकार गर्भित होते हैं - यह निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है -



कर्त्ता-अकर्त्ता ह्व जीव द्रव्य शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता तथा उनके फल का भोक्ता है, किन्तु शेष द्रव्य न कर्मों के कर्त्ता हैं न भोक्ता । पुद्गलादि पाँच द्रव्यों का स्वकीय-स्वकीय परिणामों के द्वारा परिणमन करना ही कर्त्तापना है तथा पुण्य-पाप आदि रूप से उनके अकर्त्तापना है । जीव भी शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से घट-पट आदि का अकर्त्ता है तथा अशुद्धनिश्चयनय से पुण्य-पाप व बंध मोक्ष तत्त्वों का कर्त्ता तथा उनके फल का भोक्ता है ।

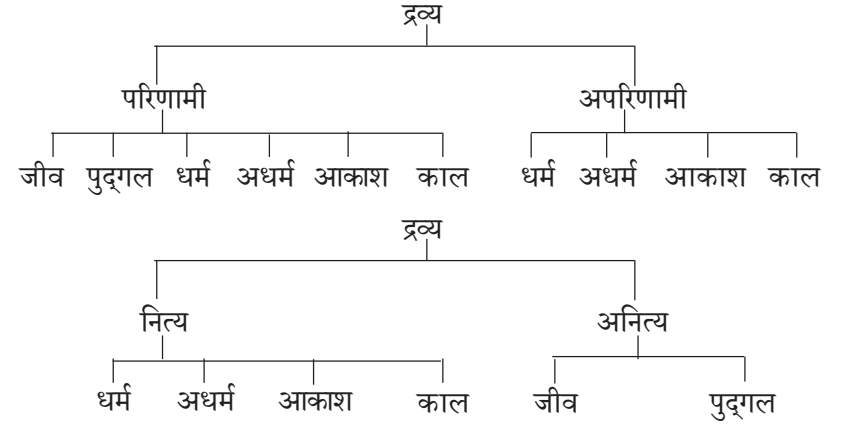
उक्त भेदों को चार्ट द्वारा निम्न प्रकार समझ सकते हैं -



परिणामी-अपरिणामी अथवा नित्य-अनित्य - धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य व्यंजनपर्याय के अभाव से अपरिणामी कहलाते हैं, किन्तु अर्थपर्याय की अपेक्षा सभी द्रव्य परिणामी माने जाते हैं, क्योंकि अर्थपर्याय सभी द्रव्यों में होती है ।

व्यंजन पर्याय के अभाव के कारण ही धर्म, अधर्म, आकाश और काल - चारों द्रव्य नित्य भी हैं । जीव व पुद्गल इन दो द्रव्यों में व्यंजन पर्याय पाई जाती हैं, इसलिए ये परिणामी व अनित्य हैं ।

उक्त भेदों में छहों द्रव्यों में निम्नप्रकार सम्मिलित होते हैं -

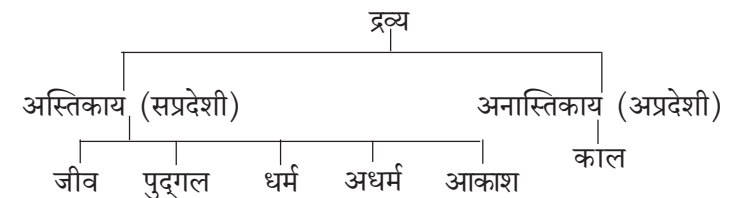


अस्तिकाय-अनास्तिकाय अथवा सप्रदेशी-अप्रदेशी - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश अनेक प्रदेशवाले होने से सप्रदेशी हैं तथा कालाणु एक प्रदेशी होने से अप्रदेशी हैं । यद्यपि परमाणु भी अप्रदेशी हैं, पर उसे प्रदेशोद्भव होता है; अतः उसे प्रदेशी ही माना जाता है ।

किन्तु काल को पुद्गल परमाणु की तरह शक्ति अपेक्षा (पर्याय से) भी अनेक प्रदेशीपना नहीं है । अतः वह अप्रदेशी ही है ।

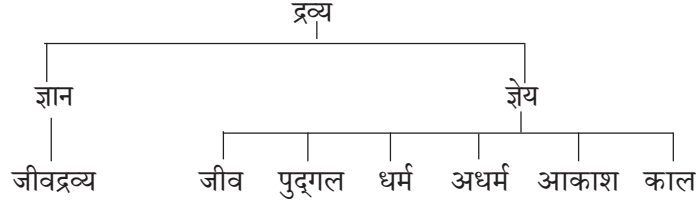
जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश - ये पाँच द्रव्य प्रदेश प्रचयात्मक (प्रदेशों का समूह) होने से अस्तिकाय हैं । पाँच होने से उन्हें 'पंचास्तिकाय' कहते हैं तथा काल को प्रदेश-प्रचयात्मकपने का अभाव होने से वह अस्तिकाय नहीं है । अस्तिकाय अकृत, अस्तित्वमय और लोक के कारण भूत हैं । ये पंचास्तिकाय ही काल सहित छह द्रव्य कहलाते हैं ।

उक्त भेदों में चार्ट द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है -



ज्ञान-ज्ञेय की अपेक्षा विभाग :- स्व-पर को जानने की शक्ति के द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नहीं; अतः जीवद्रव्य तो ज्ञान व ज्ञेय दोनों ही हैं तथा शेष समस्त द्रव्य ज्ञेय हैं।

उक्त भेदों को चार्ट द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है -



इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में द्रव्यों को अनेक दृष्टियों से अनेक युग्मों में विभाग करके समझाया गया है, किन्तु जैन ग्रन्थों में दो विभाग जीव-अजीव व अस्तिकाय-अनास्तिकाय का वर्णन बहुतायत में पाया जाता है।

जीव-द्रव्य

ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा को जीव कहते हैं। जीव का दूसरा नाम आत्मा है। शरीरादि सभी अजीव पदार्थों से भिन्न चेतन तत्त्व ही आत्मा है।

‘आत्मन्’ शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - आप्नोति व्याप्नोतीति अर्थात् जो स्वीकार करता है या व्याप्त कर रहता है, वह आत्मा है। संसार अवस्था में आत्मा इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करता है और केवलज्ञान प्राप्त होने पर विश्व के समस्त ज्ञेयों को अपने ज्ञान का विषय बनाता है; इसलिए उसका आत्मा नाम सार्थक है। आत्मा सदा पर से भिन्न, ज्ञाता स्वरूप और त्रिकाल स्थायी है।

यद्यपि ज्ञान-दर्शन स्वभावी होने से सभी जीव आत्मा ही हैं, फिर भी संसारी दशा में प्राण धारण करने से सभी आत्मा जीव कहलाते हैं। संसारी दशा में आत्मा शरीर में रहते हुए भी शरीर से पृथक् लौकिक विषयों को करता व भोक्ता हुआ भी वह उनका केवल ज्ञाता है। वह यद्यपि लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है, परन्तु संकोचविस्तारशक्ति के कारण शरीर प्रमाण होकर रहता है। जीव अनन्तानन्त हैं। इनमें से जो

जीव साधना विशेष के द्वारा कर्मों का नाश कर देते हैं, वे कर्तृत्वादि विकल्पों से सर्वथा रहित, मात्र ज्ञाता-दृष्टा भाव से स्थिर रहते हुए अतीन्द्रिय आनन्द के भोक्ता परमात्मा बन जाते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में संसार व मोक्ष दोनों में जीव प्रधान तत्त्व है।

जीव को चारों गतियों की प्राप्ति में पौद्गलिक कर्म निमित्त हैं; अतः देवत्वादि जीव का स्वभाव नहीं है, किन्तु व्यवहारनय से उन्हें जीव कहा जाता है। निश्चयनय से इन्द्रियाँ, काय आदि जीव नहीं हैं; क्योंकि जीव के चैतन्यस्वभाव का उनमें अभाव है।

अपने चैतन्यस्वभाव के कारण ही जीव जानता है, देखता है, दुःख से भयभीत होता है, सुख की इच्छा करता है, शुभाशुभभावों को करता है तथा उनके फल को भोगता भी है। जीव अचेतन पदार्थों के साथ रहने पर भी अचेतन पदार्थों की क्रियाओं से पूर्णतः भिन्न अपने स्वभाव से अभिन्न एक विशिष्ट पदार्थ है।

जीव की शक्तियाँ - प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों में परस्पर प्रदेशभेद नहीं होने पर भी भावभेद है, लक्षणभेद है। यद्यपि इनमें एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप नहीं है, तथापि एक शक्ति में दूसरी शक्ति का रूप अवश्य है; जिसके कारण वे शक्तियाँ परस्परानुबिद्ध हैं।

आत्मद्रव्य की एक-एक शक्ति अनन्त गुणों में व्यापक है। एक-एक शक्ति अनन्त गुणों में निमित्त है तथा एक-एक शक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय - तीनों में व्यापती है।

आत्मा की अनन्त शक्तियों में परस्पर प्रत्येक शक्ति का रूप अन्य शक्तियों में होने से सभी शक्तियाँ, उनकी निर्मल पर्यायें और उनका अभेद अखण्ड पिण्ड आत्मा जीव है, चेतन है, ज्ञानदर्शनमय है, प्रमेय है। इसप्रकार प्रत्येक शक्ति, उनकी निर्मल पर्यायें और उनका आधारभूत द्रव्य अभेद अखण्ड आत्मा अनन्तशक्ति सम्पन्न है। ये शक्तियाँ आत्मा में अक्रम से त्रिकाल हैं।

आत्मा की शक्तियों में कुछ स्वभाव शक्तियाँ हैं, कुछ धर्मरूप शक्तियाँ हैं और कुछ गुणरूप शक्तियाँ हैं।

जिनकी न पर्यायें हों और न प्रतिपक्षी ही हों, वे स्वभाव शक्तियाँ हैं – जैसे त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति की न तो पर्यायें होती हैं और न कोई प्रतिपक्षी ही होता है, इसकारण वह स्वभावरूप शक्ति है।

जिनकी पर्यायें तो नहीं होतीं, पर प्रतिपक्षी अवश्य होता है; वे धर्मरूप शक्तियाँ हैं। इन शक्तियों में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मयुगलों की स्थिति पर चर्चा की गई है।

जिन शक्तियों की पर्यायें होती हैं, पर प्रतिपक्षी नहीं होता है, वे गुणरूप शक्तियाँ हैं।

गुणशक्तियों में आत्मा के ज्ञानस्वभाव को स्पष्ट किया गया है। जैसे कि आत्मा स्व-पर दोनों को जानता-देखता है, दोनों उसके ज्ञान-दर्शन दर्पण में झलकते हैं; किसी को देखने-जानने के लिए उसे उन ज्ञेय पदार्थों के समीप नहीं जाना पड़ता और न ज्ञेय पदार्थों को आत्मा के समीप ही आना पड़ता है, सहज ही दोनों में ज्ञेय-ज्ञायक संबंध रहता है।

आत्मा में न केवल स्व-पर को जानने की शक्ति है, अपितु परजीवों के ज्ञान का ज्ञेय बनने की भी शक्ति है। इसप्रकार आत्मा स्व और पर दोनों को जानता है तथा स्व और पर दोनों के द्वारा जाना भी जाता है। पर-पदार्थों में भी थोड़े-बहुतों को ही नहीं; अपितु जगत् के संपूर्ण पदार्थों को, उनके अनन्त गुणों को और उनकी अनन्तानन्त पर्यायों को एक समय में एक-साथ जानने की सामर्थ्य आत्मा में है।

शक्तियों में जो शक्तियाँ सामान्य गुणों, धर्मों और स्वभावों रूप हैं; वे तो सभी द्रव्यों में पाई जाती हैं जैसे – उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व, तत्त्व-अतत्त्व; भाव-अभाव आदि शक्तियाँ सामान्य होने में सभी द्रव्यों में पाई जाती हैं। और जो विशेष गुणों-धर्मों और स्वभावों रूप होती है; वे मात्र

आत्मा में ही पाई जाती है। जैसे – ज्ञान, सुख आदि शक्तियाँ आत्मा के विशेष गुणरूप होने से आत्मा में ही होती हैं।

इसप्रकार प्रत्येक जीव में अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें जीव के लक्षण से संबंधित 47 शक्तियों का संक्षिप्त सार निम्नप्रकार है –¹

1. जीवत्व शक्ति – प्रत्येक जीव के जीवन का आधार जीवत्व शक्ति है। जीवत्व शक्ति के कारण ही आत्मवस्तु का नाम 'जीव' पड़ा है, जिससे जीव अनादि-अनंत जीता है।

आत्मद्रव्य के कारण रूप चैतन्यभाव² को धारण करनेवाली जीवत्व शक्ति के कारण ही जीव अपने जीवन के लिए परपदार्थों पर निर्भर नहीं होता है। इस जीवत्व शक्ति के कारण ही जीव अब तक जीवित रहा है, अभी जीवित है और भविष्य में भी जीवित रहेगा।

आत्मद्रव्य में जितने भी गुण व पर्यायें हैं, उनमें इस जीवत्व शक्ति के रूप से ही उनका जीवन है। इस प्रकार जीव की यह जीवत्व शक्ति अनंत शक्तियों में व्याप्त है।

त्रिकाल दर्शन-ज्ञान शुद्ध चेतनारूप भावप्राण को धारण करने वाली जीवत्व शक्ति ही निश्चयनय से जीव है तथा जो तीनों काल इंद्रिय³, बल⁴, आयु⁵, और श्वासोच्छ्वास⁶ ये चार द्रव्यप्राणों को धारण करता है, वह असद्भुत-व्यवहारनय⁷ से जीव है। इंद्रिय बल आदि संयोगी चीजें हैं, इनसे जीवन टिकता नहीं है। इंद्रिय, बल, आयु वाला उक्त लक्षण मात्र संसारी जीवों पर ही घटित होता है; अतः यह लक्षण अव्याप्त दोष से दूषित है; क्योंकि जीव तो सिद्ध परमात्मा भी है तथा यह लक्षण

1. समयसार अनुशीलन, भाग-5

2. ज्ञान प्राण, दर्शन प्राण, आनंद प्राण और वीर्य प्राण शक्तिरूप चैतन्य भाव प्राण है, इन्हें धारण करना जीवत्व शक्ति का स्वरूप है।

3. स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ह्व यह पाँच इंद्रियप्राण हैं।

4. काय, वचन और मन ह्व ये तीन बलप्राण हैं।

5. मनुष्यादि भवधारण का निमित्त आयुप्राण है।

6. नीचे-ऊपर जानना जिसका स्वभाव है ऐसी वायु श्वासोच्छ्वासप्राण है।

7. संयोगी कथन करने वाले नय को असद्भुत व्यवहारनय कहते हैं।

उनमें व्याप्त नहीं है। अतः संसारी और सिद्धों – सभी जीवों में घटित होनेवाला चेतन लक्षण ही जीव का वास्तविक लक्षण हैं। उक्त चेतना लक्षण वाली ही जीवत्व शक्ति है। यह शक्ति ही जीव के स्वरूप को प्रदर्शित करती है और जीव के जीवत्व को कायम रखती है।

जीवत्वशक्ति त्रिकाल होने के कारण जीवन भी त्रिकाल है, उसमें मरण का कोई अवकाश ही नहीं है। लोक में जिन देहादि प्राणों के वियोग को मरण कहा जाता है, वे तो आत्मा से पृथक् ही हैं – ऐसा ज्ञान होने पर अपने आत्मा का सर्वनाशरूप मरणभय दूर होता है; अतः इस शक्ति की सच्ची समझ होते ही मरणभय का अभाव हो जाता है।

2. चिति शक्ति – आत्मा चिति शक्ति के कारण ही चेतन कहलाता है। यह शक्ति आत्मा को अचेतन जड़ पदार्थों से भिन्न बताने वाली है। इस शक्ति के कारण आत्मा त्रिकाल जड़रूप नहीं होता है।

चैतन्यभाव द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है। चैतन्यभाव बिना आत्मद्रव्य नहीं हो सकता; अतः चिति शक्ति जीवत्वशक्ति का लक्षण है। चिति शक्ति का कार्य शुद्ध दर्शन-ज्ञान चेतनारूप परिणमना है।

इसप्रकार जैनमतानुसार जीव जीवत्व शक्ति के कारण जीवित रहता है और चिति शक्ति से जड़रूप नहीं होता, चेतनरूप ही रहता है।

जीवत्व शक्ति में जीव के त्रिकाल टिकनेरूप परिणमन को बताया है तथा चितिशक्ति में जीव का जीवन चैतन्यमय बताया है।

आत्मा जीवत्व शक्ति के कारण जीव है और चिति शक्ति के कारण अजीव नहीं है। जीवत्वशक्ति बताती है कि देह के संयोग से जीवन नहीं है, चिति शक्ति बताती है कि जीव देहरूप नहीं है।

चेतना जीव का स्वरूप है जो स्वसंवेदनगम्य अंतरंग प्रकाशरूप भाव विशेष हैं। यह चेतना तीन प्रकार की होती हैं –

1. ज्ञानचेतना, 2. कर्मचेतना और 3. कर्मफलचेतना।

1. ज्ञानचेतना – ज्ञानचेतना को शुद्धचेतना भी कहते हैं। ज्ञानी व वीतरागी जीवों का केवल जानने रूप भाव ही शुद्धचेतना है। शुद्धात्मा को

जाननेरूप भाव ही शुद्ध चेतना है। शुद्धात्मा को जाननेवाला शुद्धज्ञान एक ही प्रकार का होने से शुद्धचेतना एक ही प्रकार की है। शुद्धचेतना आत्मा का स्वरूप है।

इसमें ज्ञान की केवल ज्ञप्ति रूप क्रिया होती है, जिससे जीव ज्ञाता-दृष्टा भाव से मात्र पदार्थों को जानता है, उसमें इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करता।

यह चेतना मिथ्यादृष्टि जीव को किसी भी अवस्था में नहीं होती व सम्यग्दृष्टि को एक ज्ञानचेतना ही उपादेय होती है तथा परिपूर्ण ज्ञानवंत मुक्त जीव ज्ञान को ही चेतते हैं।

2. कर्मचेतना – इष्टानिष्ट बुद्धिसहित परपदार्थों में करने-धरने के अहंकार सहित जानना कर्मचेतना है अथवा कर्मपरिणति कर्मचेतना है। त्रस जीव कर्म व कर्मफल दोनों चेतनाओं को वेदते हैं।

3. कर्मफल चेतना ह्य इन्द्रिय सुख-दुःख में तन्मय होकर सुखी-दुःखी अनुभव करना कर्मफल चेतना है अथवा कर्मफल परिणति कर्मफल चेतना है।

स्थावर जीव व बुद्धिहीन असंज्ञी जीवों में केवल कर्मफल चेतना है; क्योंकि वहाँ केवल सुख-दुःख का भोगना मात्र है, बुद्धिपूर्वक कुछ करने का अवकाश नहीं।

कर्मचेतना व कर्मफलचेतना को अशुद्धचेतना भी कहते हैं। अशुद्धचेतना आत्मा व कर्म के संयोग से उत्पन्न होने वाली हैं। मिथ्यादृष्टियों के ये दोनों चेतनाएँ ही होती हैं।

3-4 दृशि शक्ति और ज्ञान शक्ति – यह आत्मा ज्ञान व दृशि शक्ति¹ के कारण ज्ञाता-दृष्टा कहलाता है। आत्मा का चेतनस्वरूप सामान्यग्राही दर्शनोपयोग और विशेषग्राही ज्ञानोपयोग रूप है।

दृशि शक्ति निराकार उपयोगमयी है, ज्ञानशक्ति साकार उपयोगमयी है। भेद रहित सामान्य अवलोकन को निराकार उपयोग कहते हैं और भेद सहित विशेष जानने को साकार उपयोग कहते हैं।

1. यहाँ विशेष जाननेरूप ज्ञान गुण को ज्ञानशक्ति व सामान्य अवलोकनरूप दर्शनगुण को दृशि शक्ति कहा गया है।

दृशि शक्ति स्व-पर, चेतन-अचेतन, गुण-पर्याय आदि सभी का भेद किए बिना सामान्य सत्ता मात्र वस्तु को 'यह है' - इतना मात्र देखती है। 'यह स्व है', 'यह पर है' - ऐसा भेद करना उसका काम नहीं है। यह काम ज्ञानोपयोग करता है।

दर्शनोपयोग सूक्ष्म एवं अनाकार है; इसलिए छद्मस्थ के ज्ञान में प्रत्यक्ष पकड़ में नहीं आ सकता है; किन्तु आगम, अनुमान व अन्तर्मुख ज्ञान द्वारा प्रतीत में आता है।

आत्मा में जिस समय निराकार उपयोगमयी दृशि शक्ति है, उसी समय भेद-अभेद सबको जाननेवाली साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति भी है। साकार अर्थात् स्व व पर, जीव व अजीव ह्व सभी पदार्थों को विशेष रूप से आकारों सहित भिन्न-भिन्न करके जानने की विशेष असाधारण सामर्थ्य है। साकार होने से वह ज्ञान भेद-अभेद, द्रव्य-गुण-पर्याय - सभी को जानता है। ज्ञान का ऐसा विशिष्ट स्वभाव है कि वह सर्व पदार्थों को एवं उसके सर्वभावों को विशेष रूप से जानता है।

इसप्रकार आत्मा में लक्ष्यरूप जीवत्व शक्ति, लक्षणरूप चिति शक्ति और चिति शक्ति के ही विशेष देखने-जानने रूप उपयोगमयी दृशि शक्ति और ज्ञान शक्ति विद्यमान है।

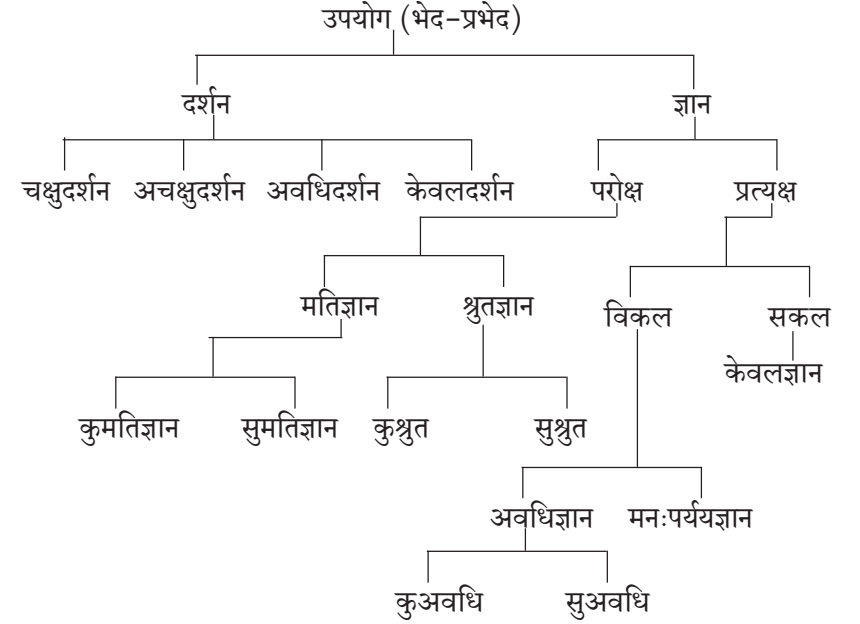
संक्षेप में कहें तो जीव उपयोगमय है। चेतना की परिणति विशेष का नाम उपयोग है। चेतना सामान्य गुण है व ज्ञान और दर्शन - ये दो उसकी पर्यायें हैं। इन्हीं को उपयोग कहते हैं। यह सभी जीवों में समस्त अवस्थाओं में पाया जाता है और जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं होता। इसलिए जीव का असाधारण गुण होने से यही जीव का लक्षण है।

शुद्धनिश्चयनय से शुद्धदर्शन और ज्ञान को ही जीव का लक्षण कहा गया है; तथा सद्भूतव्यवहारनय¹ से आठ प्रकार के ज्ञान व चार प्रकार के

1. सद्भूतव्यवहारनय भेद रूप कथन करता है।

दर्शन को जीव का लक्षण कहा गया है। केवली भगवान को दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग एक ही साथ होता है तथा छद्मस्थ को क्रमशः होता है।

इन दोनों ही उपयोगों के अनेक भेद-प्रभेद हैं।



5. सुख शक्ति - सुख शक्ति अनाकुलता स्वरूप आनन्दमय है। इस शक्ति के कारण आत्मा त्रिकाल सुखस्वरूप है, स्वयं सुख का पिण्ड है, आनन्द का कंद है; अतः सुख-प्राप्ति के लिए उसे पर की ओर देखने की रंचमात्र आवश्यकता नहीं है। यद्यपि यह आत्मा अनादि से परपदार्थों में ही सुख जानता-मानता रहा है, परपदार्थों में ही सुख की खोज करता रहा है; शुभभावों और पुण्यकर्म को ही सुख का कारण जानकर अपनाता रहा है; तथापि आज तक उसे रंचमात्र भी सुख की प्राप्ति नहीं हुई है; क्योंकि वे सुख के कारण नहीं हैं। सुख का कारण तो स्वयं अपना आत्मा है; जिसमें सर्व विकल्पों से रहित, कुछ भी करने के भार से रहित आनन्दमयी अनाकुलता स्वरूप सुखशक्ति विद्यमान है।

6. वीर्य शक्ति – वीर्य शक्ति प्रत्येक वस्तु के स्वरूप की रचना करने वाली व उनके निर्मल परिणमन में हेतु है। ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणों की निर्मल पर्याय की रचना करना वीर्य शक्ति का कार्य है।

कोई भी कार्य हो, उसके सम्पन्न होने में कुछ न कुछ शक्ति तो लगती ही है। आत्मा के निर्मल गुणों का परिणमन भी बिना शक्ति के तो होता नहीं। जब जीव को यह ज्ञान हो जाता है कि मेरी आत्मा में पर के सहयोग बिना स्वयं ही परिपूर्ण निर्मल परिणमन की शक्ति त्रिकाल विद्यमान है तो जीव को पर के सहयोग की आकांक्षा समाप्त हो जाती है।

इस वीर्य शक्ति का संबंध अनंतचतुष्टय में शामिल अनन्तवीर्य से है। अनंतवीर्य इस शक्ति के पूर्ण निर्मल परिणमन का ही नाम है।

7. प्रभुत्व शक्ति हू प्रभु माने प्रभावशाली पूर्णतः समर्थ। जिसमें रंचमात्र की दीनता न हो, जिसे पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता न हो –ऐसे अनंत महिमावाले, अखण्डित प्रताप युक्त, पूर्णतः स्वतंत्र पदार्थ को प्रभु कहा जाता है। अपना आत्मा एक ऐसा ही प्रभु पदार्थ है जो प्रभुत्व शक्ति से सम्पन्न, अनंतप्रभुता से युक्त, अनंत महिमा वाला, अखण्डित प्रतापमय, पूर्णतः स्वतंत्र समर्थ पदार्थ है। जबतक यह प्रभुता पर्याय में परिपूर्ण रूप से प्रगट नहीं हो जाती, तबतक पर्याय में आंशिक पामरता भी विद्यमान रहती है। पर्याय की पामरता को जानते हुए भी ज्ञानी व्यक्ति दीन नहीं होते; क्योंकि वे स्वभाव की प्रभुता से परिचित होते हैं तथा यह भी जानते हैं कि पर्याय में विद्यमान पामरता का अभाव प्रभुता सम्पन्न आत्मा के आश्रय से ही होगा। जब जीव आत्मा का आश्रय लेता है तो उनकी पर्याय में विद्यमान पामरता समाप्त हो जाती है तथा प्रभुत्व शक्ति का निर्मल परिणमन होकर पर्याय में भी प्रभुता प्रगट हो जाती है।

जीव निश्चय से भावकर्मों के आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष करने में स्वयं समर्थ होने से 'प्रभु' है और व्यवहार से द्रव्यकर्मों के

आस्रव, बंध, संवर-निर्जरा और मोक्ष करने में स्वयं ईश (समर्थ) होने से 'प्रभु' है।

8. विभुत्व शक्ति – एकभाव में रहकर भी अनंत गुणों में व्यापना आत्मा का विभुत्व है। विभुत्व स्वभाव द्वारा आत्मा सर्वव्यापक है तथा आत्मा का प्रत्येक गुण भी सर्वव्यापक है।

इस शक्ति के कारण ही आत्मा अनंत शक्तियों से सम्पन्न है और उसका रूप अन्य समस्त शक्तियों और उनके निर्मल परिणमन में व्याप्त है।

आत्मा की अनंत शक्तियों के परस्पर भिन्न होने पर भी इस शक्ति के कारण वे शक्तियाँ परस्पर एक-दूसरे में व्याप्त हैं; इसीकारण यह आत्मा अखण्ड, अविभक्त और एक है।

मेरे में अन्य किसी का प्रवेश नहीं, मुझमें मेरा प्रभाव है; अतः मैं 'प्रभु' हूँ और मैं अपने अनन्त गुणों में व्याप्त हूँ, अतः मैं 'विभु' हूँ।

9-10 सर्वदर्शित्व व सर्वज्ञत्व शक्ति – सर्वदर्शित्व शक्ति सबको देखनेरूप हैं और सर्वज्ञत्व शक्ति सबको जानने रूप है। सर्वदर्शित्व शक्ति सामान्यभाव को विषय बनाती है और सर्वज्ञत्वशक्ति विशेषभावों को विषय बनाती है। यद्यपि सामान्यावलोकन दर्शन है और विशेषावलोकन ज्ञान है; तथापि दोनों शक्तियाँ मूलतः आत्ममयी हैं; इसलिए दर्शन शक्ति को आत्मदर्शनमयी व ज्ञानशक्ति को आत्मज्ञानमयी कहा जाता है।

ये दोनों शक्तियाँ आत्मा में सदा विद्यमान होने के कारण प्रत्येक आत्मा में स्व-पर सभी पदार्थों और उनके सभी गुणों तथा उनकी अनादिकाल से लेकर अनन्त काल तक होने वाली अनन्ततान्त पर्यायों को बिना किसी पर के सहयोग के एकसाथ देखने-जानने की सामर्थ्य विद्यमान है। इसप्रकार ये दोनों शक्तियाँ बताती हैं कि आत्मा में स्व-पर सभी लोकालोक को देखने-जानने रूप परिणमित होने की शक्ति विद्यमान है।

यद्यपि दृशि और ज्ञान शक्ति में देखने-जानने की बात आई थी; तथापि किसको देखना-जानना – इस संबंध में वहाँ कुछ भी नहीं कहा

गया था। किसको देखना-जानना इसका स्पष्टीकरण इन दो शक्तियों में करते हुए कहा गया है कि 'आत्मा में सबको देखने-जानने की शक्ति' है।

11. स्वच्छत्व शक्ति – विश्व के समस्त ज्ञेयाकारों के जाननेरूप से ज्ञान का विशेष परिणामन होना ही वास्तव में उपयोग की स्वच्छता है। यही जीव की स्वच्छत्व शक्ति है। इसी कारण आत्मा में समस्त पदार्थ झलकते हैं। सभी पदार्थों को देखने-जानने के लिए आत्मा को समस्त पदार्थों के पास जाना नहीं पड़ता; किन्तु आत्मा के स्वच्छस्वभाव में लोकालोक सहज भाव से दिखाई देते हैं, जानने में जाते हैं। तथा लोकालोक के झलकने से आत्मा की सुख-शांति में कोई बाधा नहीं आती। ज्ञेयों के कारण ज्ञान में रंचमात्र विकृति नहीं होती।

12. प्रकाश शक्ति – जिस शक्ति के कारण आत्मा स्वयं से स्वयं के अनुभव में आता है, वह प्रकाशशक्ति है। यह शक्ति स्वसंवेदनमयी है। इस शक्ति के कारण ही आत्मा किसी निमित्त की अपेक्षा के बिना स्वयं प्रकाशमान है और प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होकर जानने में आता है।

इस शक्ति की श्रद्धा व ज्ञान से आत्मानुभव के लिए पर के सहयोग की आकांक्षा से उत्पन्न होने वाली आकुलता का अभाव होकर निराकुल शान्ति की प्राप्ति होती है।

दृशि शक्ति, ज्ञान शक्ति, सर्वदर्शित्व शक्ति, सर्वज्ञत्व शक्ति, स्वच्छत्व शक्ति और प्रकाश शक्ति – ये छह शक्तियाँ आत्मा के देखने-जानने रूप स्वभाव से संबंधित हैं।

दृशि शक्ति और ज्ञान शक्ति में सामान्यरूप से देखने-जानने की बात कही गई है तो सर्वदर्शित्व व सर्वज्ञत्व शक्ति में सभी को देखने-जानने की बात कही गई है। स्वच्छत्व शक्ति में लोकालोक को जानने की बात कही गई है तथा प्रकाश शक्ति में अपने आत्मा को देखने-जानने अनुभव करने की बात कही गई है।

13. असंकुचितविकासत्व शक्ति – इस शक्ति के कारण आत्मा बिना किसी संकोच के पूर्णरूप से विकसित होता है अर्थात् इस आत्मा का प्रत्येक गुण पर्याय में निर्मलता के साथ-साथ पूर्णता को भी प्राप्त होता है जैसे – ज्ञान गुण केवलज्ञानरूप परिणमित होता है, श्रद्धागुण क्षायिक सम्यक्त्वरूप परिणमित होता है।

यह शक्ति क्षेत्र व काल से अबाधित है। इस शक्ति का रूप सभी गुणों में होने से वे भी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार पूर्ण विकास को प्राप्त होते हैं। उन्हें अपने अविच्छिन्न विकास के लिए क्षेत्र व काल संबंधी किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होता, बाधा उपस्थित नहीं होती।

पर्याय में पूर्णता को प्राप्त होना ही असंकुचित विकास है, अर्थात् वस्तु के स्वभाव में जितना विकास संभव है, उतना विकास करना ही असंकुचित विकास है।

अपने स्वभाव की सीमा में असीमित विकास होना, असंकुचित विकास होना ही असंकुचित विकास शक्ति का कार्य है। इस शक्ति का रूप सभी शक्तियों में होने से सभी शक्तियों का अपने-अपने स्वभावानुसार अपनी-अपनी सीमा में असीमित विकास हो सकता है। अपनी सीमा में होने वाला विकास भी अनन्त हैं; अतः 'असीमित कहा' और पर में प्रवेश नहीं करता-इसकारण 'अपनी सीमा में है' – ऐसा कहा गया है।

इस शक्ति की श्रद्धा व ज्ञान से जीव को विश्वास होता है कि अपने स्वभाव और सीमा में परिपूर्ण विकसित होने के लिए मुझे पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि मुझमें असंकुचित विकास नाम की शक्ति है, जिसके कारण मैं स्वयं में परिपूर्ण विकास कर सकता हूँ।

14. नियतप्रदेशत्व शक्ति – इस शक्ति के कारण आत्मा में प्रदेशों की संख्या त्रिकाल निश्चित रहती है, उसमें घट-बढ़ नहीं होता। आत्मा में असंख्य प्रदेश हैं। इन प्रदेशों की संख्या व स्थान भी निश्चित हैं।

यद्यपि अनादि से आत्मा के प्रदेशों में संकोच-विस्तार हो रहा है, पर उसके प्रदेशों की संख्या नियत ही है। जैसे - चींटी की अवस्था में जीव के प्रदेशों का संकोच होता है; तथापि प्रदेशों की संख्या कम नहीं होती और हाथी के शरीर में जीव के प्रदेशों का विस्तार होता है तो भी प्रदेशों की संख्या बढ़ती नहीं है, यथावत रहती है।

इसप्रकार नियतप्रदेशत्व शक्ति प्रदेशों की संख्या को सुनिश्चित रखने वाली है तथा संसार अवस्था में प्रदेशों में संकोच-विस्तार का कारण होती है। जबकि असंकुचितविकास शक्ति सभी गुणों में असीमित विकास से संबंध रखती है।

15. अकार्यकारणत्व शक्ति - इस शक्ति के कारण आत्मा किसी परद्रव्य का कार्य नहीं है और न ही किसी परद्रव्य का कारण ही है; क्योंकि आत्मा में होनेवाला परिणमन पर के कारण नहीं होता; इसलिए आत्मा का परिणमन किसी परद्रव्य का कार्य नहीं है। परद्रव्यों के द्रव्य-गुण के परिणमन का कारण भी यह आत्मा नहीं है, इसलिए किसी का कारण भी नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने परिणमन में पूर्णतः स्वाधीन है। इसप्रकार यह शक्ति अनन्त स्वाधीनता की सूचक तथा 'पर मेरा कुछ बुरा कर देगा' इस भय को दूर करनेवाली है।

16. परिणाम्य-परिणामकत्व शक्ति - जिस शक्ति के कारण आत्मा स्वयं को व पर को जानता है तथा स्वयं के व पर के जानने में आता है; वह परिणाम्य-परिणामकत्व शक्ति है। इसप्रकार आत्मा में स्व-पर को जानने की और स्व-पर के ज्ञान का ज्ञेय बनने की शक्ति स्वभावतः ही है।

17. त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति - जिस शक्ति के कारण यह आत्मा परद्रव्य और परभावों के ग्रहण-त्याग से रहित है; वही त्यागोपादान शून्यत्वशक्ति है। यदि आत्मा में कुछ कमी होती तो ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता और अधिकता होती तो उसका त्याग करना अनिवार्य हो जाता; किन्तु आत्मा में न तो कोई कमी है और न कुछ अधिकता ही; वह तो स्वयं में परिपूर्ण तत्त्व है।

18. अमूर्तत्व शक्ति - इस शक्ति के कारण ही ज्ञानस्वभावी आत्मा सदा अमूर्त रहता है। इस शक्ति के कारण ही आत्मा मूर्तिक पुद्गल शरीरादि से भिन्न रहता है। यद्यपि संसारी दशा में जीव का मूर्तकर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। अतः संसारी दशा में अनादि से कर्मबंधन होने से संयोग का ज्ञान कराने के लिए उसे मूर्तिक कहा जाता है; किन्तु जब समस्त कर्मों का अभाव होकर सिद्धदशा प्रगट होती है, तब उनका साक्षात् पूर्ण अमूर्तपना व्यक्त होता है।

19-20 अकर्तृत्व शक्ति और अभोक्तृत्व शक्ति - अकर्तृत्व शक्ति के कारण आत्मा रागादि का अकर्ता है और अभोक्तृत्व शक्ति के कारण रागादि का अभोक्ता है। आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जिससे आत्मा रागादि का कर्ता-भोक्ता हो; अतः कर्म के आश्रय से होने वाले रागादि का कर्ता-भोक्ता आत्मा नहीं होता है।

21. निष्क्रियत्व शक्ति - आत्मा कर्मोदयजन्य आत्मप्रदेशों के कंपन रूप योगों से रहित, अकंपस्वभावी व निष्क्रिय है।

22. स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति - इस शक्ति के कारण आत्मा अपने अनंत गुणों में, धर्मों में, शक्तियों और निर्मल पर्यायों में तो व्याप्तता है; पर शरीरों और रागादि विकारी परिणामों में व्याप्त नहीं होता, अपनी सीमा में ही रहता है।

संक्षेप में कहें तो जीवत्व शक्ति में आत्मा के त्रिकाल जीवन; चिति, दृशि, ज्ञान, सर्वदर्शित्व, सर्वज्ञत्व, स्वच्छत्व, प्रकाश, परिणाम्य-परिणामकत्व शक्तियों में आत्मा का लक्षण दर्शन-ज्ञान-स्वभाव; सुख शक्ति में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के साथ-साथ सम्यक्श्रद्धा और सम्यक आचरण; वीर्य शक्ति में स्वरूप की रचना करने वाला आत्मा का अनंत वीर्य; प्रभुत्व शक्ति में प्रभुता; विभुत्व शक्ति में आन्तरिक वैभव; असंकुचित विकास शक्ति में अमर्यादित विकास; अकार्यकारणत्वशक्ति में पर के साथ कार्य, कारणभाव का अभाव; त्यागोपादान-शून्यत्व शक्ति में

आत्मा में पर के ग्रहण-त्याग का अभाव; अमूर्तत्व शक्ति में आत्मा का अमूर्तिकपना, अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व शक्ति में रागादिभावों का अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व, निष्क्रियत्व शक्ति में आत्मप्रदेशों की अकंपता, नियतप्रदेशत्व शक्ति में संसार अवस्था में प्रदेशों के संकोच-विस्तार की बात बताते हुए स्वधर्म व्यापकत्व शक्ति में कहा गया है कि शरीर में रहता हुआ भी आत्मा अपने ही धर्मों में व्याप्त होता है; शरीरादि नहीं होता इसीलिए आत्मा अनादि से अनन्त शरीरों में रहकर भी ज्ञानानन्दस्वभावी ही रहा है।

आत्मा में जीवत्वादि अनन्त शक्तियाँ विद्यमान होने पर भी इनके लक्ष्य से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती है; अपितु इन शक्तियों के अखण्ड पिण्ड अभेद त्रिकाली ध्रुव आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों का आरंभ होता है।

23. अगुरुलघुत्व शक्ति – यद्यपि यह आत्मा पर से कुछ भी ग्रहण नहीं करता है न उन्हें त्यागता ही है; तथापि उसके भीतर षट्गुणी वृद्धि और हानि निरन्तर हुआ करती है।

1. अनंतगुणवृद्धि 2. असंख्यगुणवृद्धि 3. संख्यगुणवृद्धि 4. संख्यभागवृद्धि 5. असंख्यभागवृद्धि और 6. अनन्तभागवृद्धि – ये छह प्रकार की वृद्धियाँ हैं।

1. अनंतगुणहानि 2. असंख्यगुणहानि 3. संख्यगुणहानि 4. संख्यभागहानि, 5. असंख्यभागहानि और 6. अनन्तभागहानि – ये छह प्रकार की हानियाँ हैं।

उक्त छह वृद्धि व छह हानि कुल 12 प्रकार की वृद्धि-हानि निरंतर प्रत्येक आत्मा में उनके प्रत्येक गुण व प्रत्येक पर्यायों में होती रहती है; क्योंकि उनमें अगुरुलघुत्व शक्ति का रूप है, उनमें अगुरुलघु शक्ति व्याप्त है।

प्रत्येक पदार्थ में एक समय की पर्याय में छह प्रकार की वृद्धि व छह प्रकार की हानि एक साथ निरन्तर हुआ करती है।

प्रत्येक द्रव्य यद्यपि षट्गुणस्थान पतित वृद्धि-हानिरूप परिणमित होता है; फिर भी सभी द्रव्य अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते हैं, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता, उनका कोई गुण अन्य गुण रूप नहीं होता, उनकी कोई पर्याय अन्य पर्याय रूप नहीं हो जाती तथा अनंतगुण द्रव्य से निकल कर अलग-अलग नहीं हो जाते, सब अपने स्वरूप में ही टिके रहते हैं।

24. उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति – इस शक्ति के कारण आत्मा स्वयं ही उत्पाद-व्यय और ध्रुवत्व से युक्त है। अतः आत्मा को न तो स्वयं को टिकाये रखने के लिए पर के सहयोग की आवश्यकता है और न स्वयं में प्रतिसमय होने वाले परिवर्तन करने के लिए ही पर के सहयोग की अपेक्षा है क्योंकि नित्य कायम रहकर भी निरन्तर बदलते रहना और निरन्तर बदलते रहकर भी नित्य कायम रहना आत्मा का सहज स्वभाव है।

यह शक्ति भी सभी द्रव्यों में पाई जाती है।

25. परिणाम शक्ति – इस शक्ति के कारण आत्मा में ध्रुवभाव सदा अपरिणामी ही रहते हैं, कायम रहते हैं; निरंतर परिवर्तनशील अध्रुव (परिवर्तनशील उत्पाद-व्यय) भाव अपने सुनिश्चित क्रमानुसार बदलते रहते हैं।

ध्रुवरूप में रंचमात्र परिवर्तन नहीं होना और उत्पाद-व्ययरूप में निरंतर परिवर्तन होते रहना आत्मा का मूलस्वरूप है। इसी का नाम परिणाम शक्ति है।

इसप्रकार जैन मतानुसार परिणाम शक्ति का कार्य स्वयं के परिणामन के साथ-साथ ध्रुवस्वभाव को अस्खलित रखना भी है और उत्पाद व्यय-ध्रुवत्व शक्ति का कार्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से संयुक्त होना मात्र है।

26. साधारण-असाधारण-साधारणासाधारण धर्मत्व शक्ति – इस शक्ति के कारण आत्मा में अस्तित्वादि साधारण, ज्ञानादि असाधारण और अमूर्तत्वादि साधारणासाधारण धर्म एक साथ रहने की सामर्थ्य होती है।

27. अनंतधर्मत्व शक्ति – इस शक्ति के कारण प्रत्येक आत्मा में भिन्न-भिन्न लक्षण वाले अनन्तगुणों के एकसाथ रहने की सामर्थ्य होती है।

साधारण-असाधारण-साधारणासाधारण शक्ति में कहा गया था कि आत्मा में तीन प्रकार के धर्म (गुण) पाए जाते हैं तथा इस शक्ति में उनकी संख्या बताकर कहा गया है कि आत्मा में अनन्त धर्म धारण करने की शक्ति है।

अस्तित्वादि गुण सभी द्रव्यों में पाए जाने के कारण साधारण, अकेले आत्मा में पाए जाने के कारण ज्ञानादिगुण असाधारण तथा सभी द्रव्यों में न पाए जाने वाले और पाँच द्रव्यों में पाए जाने के कारण अमूर्तत्वादि साधारण-असाधारण गुण हैं।

28. विरुद्धधर्मत्व शक्ति – इस शक्ति के कारण आत्मा में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनन्त धर्म युगल भी एक साथ रह सकते हैं। जैसे – नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, तत्-अतत् आदि।

29-30. तत्त्व शक्ति और अतत्त्व शक्ति – आत्मा में जो धर्म हैं, उन सभी के होने रूप तत्त्वशक्ति है और उनसे भिन्न पदार्थों और उन पदार्थों के धर्मों रूप नहीं होने रूप अतत्त्व शक्ति है। जो जिसरूप है, उसका उसीरूप रहना तत्त्वशक्ति का कार्य है और जो जिस रूप नहीं है, उसका उसी रूप नहीं होना अतत्त्वशक्ति का कार्य है। अतः आत्मा तत्त्वशक्ति के कारण स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमय है और निरन्तर परिणमित भी होता है और अतत्त्वशक्ति के कारण न तो परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से है ही; न उनकी पर्यायोंरूप परिणमित ही होता है, जैसे तत्त्वशक्ति के कारण आत्मा ज्ञानादिगुणों रूप व उनके निर्मल परिणमन रूप है और अतत्त्वशक्ति के कारण रूपादि व रागादिरूप नहीं हैं।

संक्षेप में कहें तो जैनमतानुसार 'आत्मा में विकार हो' – ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है; किन्तु 'आत्मा विकार रूप नहीं होता' – ऐसी अतत्त्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

31-32 एकत्व और अनेकत्व शक्ति – जिस शक्ति के कारण आत्मा अनेक पर्यायों में व्याप्त होकर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ता है, वह 'एकत्व शक्ति' है। तथा जिस शक्ति के कारण आत्मा स्वयंरूप एकद्रव्य में व्याप्त रहने पर भी अनेक पर्यायरूप से परिणमित हो जाता है, वह 'अनेकत्व शक्ति' है।

यद्यपि एकत्व व अनेकत्व – ये दोनों भाव परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं; तथापि आत्मा में ये दोनों ही पाए जाते हैं। यही कारण है कि आत्मा एक रहकर भी अनेक पर्यायों रूप परिणमित हो जाता है तथा अनेक पर्यायों रूप परिणमित होते हुए भी उसकी एकता भंग नहीं होती।

33-34 भाव शक्ति और अभाव शक्ति – भाव अर्थात् होना। अतः जिस समय जो पर्याय होनी है, उससमय उस पर्याय का नियम रूप से होना ही 'भावशक्ति' है।

अभाव अर्थात् नहीं होना। अतः जिस समय जिस पर्याय का नहीं होना निश्चित हो, उस पर्याय का उस समय नहीं होना ही 'अभावशक्ति' है।

भावशक्ति के कारण विवक्षित पर्याय स्वसमय पर होती ही है तथा अभावशक्ति के कारण अविवक्षित पर्याय उस समय किसी भी स्थिति में नहीं होती।

अतः स्पष्ट है कि भाव शक्ति से वर्तमान में जो अवस्था विद्यमान रूप से रहती है, उसके अतिरिक्त अन्य अवस्थाएँ अभाव शक्ति के कारण अविद्यमान हैं।

ये दोनों शक्तियाँ आत्मा में एकसाथ ही रहती हैं।

35-36. भाव-अभाव शक्ति और अभावभाव शक्ति – भाव का अभाव अर्थात् जो पर्याय अभी विद्यमान है, उसका अगले समय में नियम से अभाव हो जाना ही 'भाव-अभावशक्ति' है।

अभाव का भाव होना अर्थात् जो पर्याय अभी नहीं है और अगले समय में नियम से होने वाली है; उस अभावरूप पर्याय का भावरूप होना ही अभावभाव शक्ति का कार्य है।

इसप्रकार भावाभाव शक्ति के कारण वर्तमान पर्याय का अगले समय में नियम से अभाव होगा ही, विद्यमान पर्याय का व्यय होगा ही। तथा अभाव-भाव शक्ति के कारण अगले समय में आने वाली पर्याय गारंटी से आएगी ही। अविद्यमान पर्याय उत्पन्न होगी ही।

उक्त दोनों शक्तियाँ एक ही समय में हैं, भिन्न-भिन्न समय में नहीं; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय एक पर्याय का व्यय और दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होती ही रहती हैं। जो पर्याय थी वह गई और जो नहीं थी वह हुई - इसमें भाव-अभाव और अभाव-भाव दोनों आ जाते हैं। भाव का अभाव और अभाव का भाव - इस रूप प्रतिसमय परिणमन आत्मा का स्वभाव है।

37-38. भावभाव शक्ति और अभाव-अभाव शक्ति - जो पर्याय होने वाली है, उसी पर्याय का होना, अन्य का नहीं होना भावभावशक्ति है और जो पर्याय नहीं होने वाली है, उस पर्याय का नहीं होना, अभाव-अभाव शक्ति है।

उक्त भाव-अभावादि छहों शक्तियाँ द्रव्य का सामान्यस्वरूप होने से छहों द्रव्यों में पाई जाती हैं। इन छहों शक्तियों का स्वरूप यह निश्चित करता है कि जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस समय, अपने उपादान के अनुसार जैसी होनी होती है, वह स्वयं नियम से उसी समय, वैसी ही होती है; उसमें पर की रंचमात्र की अपेक्षा नहीं होती।

39-40. भाव शक्ति और क्रिया शक्ति - भाव शक्ति के कारण आत्मा रागादि विकारी भावों के षट्कारकों से रहित है तथा क्रियाशक्ति के कारण सम्यग्दर्शनादि निर्मल-पर्यायों के षट्कारकों से सहित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव-अभावादि छहों शक्तियों में पर के साथ कारकता का निषेध किया गया था और इस भाव शक्ति में विकार के साथ कारकता का निषेध करके क्रियाशक्ति में निर्मल परिणमन के साथ कारकता का संबंध स्वीकार कर उसका स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

तथा पूर्वोक्त 33वीं भावशक्ति में कहा था कि प्रत्येक द्रव्य अपनी सुनिश्चित वर्तमान पर्याय से युक्त होता है और इस 39वीं भाव शक्ति में यह बताया जा रहा है कि आत्मा कारकों की क्रिया से निरपेक्ष है। आत्मा का परपदार्थों व विकारी भावों के साथ किसी भी प्रकार का कोई भी संबंध नहीं है।

41-42. कर्मशक्ति और कर्तृत्व शक्ति - आत्मा कर्मशक्ति के कारण स्वयं के निर्मल परिणामों को प्राप्त करता है तथा कर्तृत्व शक्ति के कारण आत्मा अपने निर्मल परिणामों को कर्ता है, अर्थात् स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही कर्म - इसप्रकार कर्ता-कर्म का अनन्यपना है।

43. करण शक्ति - करण शक्ति के कारण आत्मा निर्मल परिणामों का स्वयं ही कारण है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि आत्मा न तो पर का कर्ता है, न कर्म और न करण ही है तथा पर पदार्थ भी आत्मा के कर्ता, कर्म और करण नहीं हैं। आत्मा तो कर्ता भी स्वयं है, कर्म भी स्वयं है और करण भी स्वयं ही है। अतः निर्मल पर्यायों के प्रगट करने में आत्मा पूर्णतः स्वाधीन हैं; क्योंकि निर्मल पर्यायों को प्रगट करने की पूर्ण सामर्थ्य इन कारक संबंधी छह शक्तियों के माध्यम से उसमें ही विद्यमान है। ये शक्तियाँ आत्मा की अनन्त स्वतंत्रता की घोषक हैं।

44-45. सम्प्रदान और अपादान शक्ति - सम्प्रदान शक्ति के कारण आत्मा की निर्मलपर्याय का सम्प्रदान आत्मा स्वयं ही है; आत्मा स्वयं ही उसे अंगीकार करता है। आत्मा अपनी निर्मल पर्याय प्रगट करके किसी अन्य को नहीं देता, किन्तु अपने में ही रखता है; स्वयं अपने को ही निर्मल पर्याय का दान देता है। जिस शक्ति के कारण आत्मा की निर्मल पर्यायें आत्मा में से ही प्रगट होती हैं, वह अपादान शक्ति है।

इन दोनों शक्तियों से स्पष्ट है कि आत्मा का ज्ञान, आनन्द आत्मा में से ही आता है और आत्मा को ही दिया जाता है। ज्ञान और आनन्द का

पर से कोई लेना-देना नहीं है। ये दोनों न पर से आते हैं, न पर को दिए जाते हैं। इन दोनों शक्तियों के कारण आत्मा अनन्तकाल तक स्वयं ही स्वयं को आनन्द देता रहेगा और स्वयं ही आनन्द लेता भी रहेगा।

46. अधिकरण शक्ति – इस शक्ति के कारण मोक्ष और मोक्षमार्ग की पर्यायें बिना किसी परपदार्थ और बिना किसी शुभभाव के आधार से मात्र आत्मा के आधार से आत्मा में सहज ही प्रगट होती है।

अतः स्पष्ट है कि आत्मा को अन्य किसी आकाशादि के आधार की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं से ही प्रतिष्ठित है, उसका निर्मल परिणमन भी पूर्णतः स्वयं के आधार पर ही है।

47. संबंध शक्ति – जिस शक्ति के कारण आत्मा किसी भी परपदार्थ का न तो स्वामी है, न कोई परपदार्थ ही आत्मा का स्वामी है। आत्मा स्वयं ही अपना स्वामी है। इस शक्ति के द्वारा बताया गया है कि आत्मा का पर के साथ कोई भी संबंध नहीं है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में कर्ता-कर्म आदि शक्तियों द्वारा आत्मा के स्वरूप को पर से विभक्त और स्व से एकत्व को बतलाया गया है। कर्ता शक्ति अन्य के कर्तृत्व से भिन्नता बतलाती है, कर्मशक्ति विभाव कर्म व जड़ कर्म से भिन्नता बतलाती है, करण शक्ति अपने स्वभाव को ही साधन बतलाकर अन्य साधनों से भिन्नता बतलाती है, सम्प्रदान शक्ति अन्य सम्प्रदान का अभाव बतलाती है, अपादान शक्ति अपने से भिन्न अन्य अपादान से पृथक्त्व बतलाती है, अधिकरण शक्ति अपना ही आधार बताकर भिन्न आधार की उपेक्षा कराती है और संबंध शक्ति पर के आश्रय से रहितपना बतलाकर स्व में एकता कराती है।

इसप्रकार ये शक्तियाँ आत्मा को पर से भिन्न बताकर स्वभाव से एकता कराती हैं।

जीव के पाँच भाव

जीव के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य में नहीं पाए जाने वाले, मात्र जीव में ही पाए जाने वाले जीव के निज-तत्त्व व असाधारण भाव पाँच

हैं – औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक।

(i) **औपशमिक भाव** – आत्मा के स्वसन्मुख पुरुषार्थ रूप शुद्ध परिणाम से जीव के श्रद्धा तथा चारित्र संबंधी भावमल दब जाने रूप जो उपशामक भाव होता है उसको औपशमिक भाव कहते हैं।

औपशमिक भाव के दो भेद हैं – औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र।¹

औपशमिक भाव सिर्फ औपशमिक सम्यक्त्व व औपशमिक चारित्रवृत्तों के ही होता है।

यह भाव सादि-सांत होता है; क्योंकि इसका काल अंतर्मुहूर्त मात्र ही है।

(ii) **क्षायिक** :- आत्मा के स्वसन्मुख पुरुषार्थ से किसी गुण की अवस्था में अशुद्धता का सर्वथा क्षय होना अर्थात् पूर्ण शुद्ध अवस्था का प्रगट होना क्षायिक भाव है। उस ही समय स्वयं कर्मावरण का सर्वथा नाश होना कर्म का क्षय है। क्षायिक भाव के नौ भेद हैं – केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र।²

यह क्षायिक भाव अरहंतों-सिद्धों और क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्रवृत्त जीवों के ही होता है।

यह भाव सादि-अनन्त हैं।³ और संसार में रहने की अपेक्षा से उत्कृष्ट तैतीस सागर से कुछ अधिक काल रहता है।

(iii) **क्षायोपशमिक भाव** – जीव के स्वसन्मुख पुरुषार्थ से श्रद्धा और चारित्र की आंशिक शुद्ध अवस्था को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

1. तत्त्वार्थसूत्र; अध्याय-2, सूत्र-3

2. तत्त्वार्थसूत्र; अध्याय-2, सूत्र-4

3. पारिणामिक भाव को छोड़कर सभी भाव पर्याय रूप होने से सादिसांत ही होते हैं, किन्तु पर्यायों के प्रवाहक्रम की एकरूपता को लक्ष्य में रखकर यहाँ क्षायिक भाव को सादि अनन्त कहा है।

इसके 18 भेद हैं - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान - ये चार ज्ञान; कुमति, कुश्रुत, कुअवधि; ये तीन अज्ञान; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन, - ये तीन दर्शन; क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य - ये पाँच लब्धियाँ; क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम।¹

ये क्षायोपशमिक भाव सभी संसारी छद्मस्थ जीवों के होते हैं। मुक्त-सिद्ध जीवों के होते ही नहीं हैं तथा तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान वाले अरहंतों के भी नहीं होते हैं।

यह भाव ज्ञान, दर्शन, वीर्य की अपेक्षा से अनादि-सांत है तथा धर्म की प्रगट पर्याय की अपेक्षा से उत्कृष्ट 66 सागर से अधिक काल रहने से सादि-सांत है।

क्षायोपशमिक भाव से यह पता चलता है कि जीव अनादिकाल से विकार करता हुआ भी जड़ नहीं हो जाता। उसके ज्ञान, दर्शन, वीर्य का आंशिक विकास सदा बना रहता है एवं सच्ची समझ के बाद वह जैसे-जैसे सत्य पुरुषार्थ को बढ़ाता है, वैसे-वैसे मोह अंशतः दूर होता जाता है।

(iv) औदयिक भाव :- कर्मों के उदयकाल में आत्मा में विभावरूप परिणामन का होना औदयिक भाव है। औदयिक भाव के 21 भेद हैं - नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव - ये चार गति; क्रोध, मान, माया, लोभ - ये चार कषाय; स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद - ये तीन वेद; कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल, ये छह लेश्यायें; मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम तथा असिद्धत्व।²

यह भाव समस्त संसारी जीवों के तो पाया जाता है, किन्तु मुक्त जीवों के नहीं। भव्य जीवों की अपेक्षा से औदयिक भाव अनादि-सांत³ है तथा अभव्य जीवों की व दूरान्दूरभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-अनन्त हैं।

1. तत्त्वार्थसूत्र : अध्याय 2; सूत्र-6

2. वही; अध्याय 2; सूत्र-6

3. यद्यपि औदयिक भाव प्रवाहरूप से अनादि का होता है और धर्मी जीव को उसका अंत भी आ जाता है; इस अपेक्षा से अनादि-सांत कहा है; फिर भी उसका प्रवाह किसी जीव को एकरूप नहीं रहता है; उसीकारण औदयिकभाव को सादिसांत भी कहा जाता है।

औदयिकभाव का स्वरूप जानने से यह पता चलता है कि जीव अनादि-अनन्त, शुद्ध, चैतन्यस्वभावी होने पर भी उसकी अवस्था में विकार है, जड़कर्म के साथ उसका अनादिकालीन संबंध है; तथा जबतक यह जीव अपने ज्ञातास्वभाव को स्वयं छोड़कर पर की ओर झुकाव करता है, तबतक विकार उत्पन्न होता रहता है, कर्म के कारण विकार नहीं होता है।

(v) पारिणामिक भाव - सहज स्वभाव, उत्पाद-व्ययनिरपेक्ष, ध्रुव, एकरूप रहनेवाला भाव पारिणामिक भाव है अथवा जिनभावों में कर्म का सद्भाव या अभाव कुछ भी निमित्त न हो वे भाव पारिणामिक भाव हैं। जीव की शक्तियों में कर्म का सद्भाव या अभाव कुछ भी निमित्त नहीं होता। अतः जीव में विद्यमान शक्तियाँ पारिणामिक भाव रूप ही होती हैं। इसके तीन भेद होते हैं -

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।¹

एक पारिणामिक भाव ही ऐसा है, जो सब जीवों के सदाकाल पाया जाता है। यह भाव अनादि-अनन्त है।

पारिणामिक भाव से यह सिद्ध होता है कि जीव अनादि-अनन्त, एक, शुद्ध, चैतन्यस्वभावी है।

आत्मा का स्वरूप यथार्थतया समझकर जब जीव अपने पारिणामिकभाव का आश्रय लेता है; तब औदयिक भाव का दूर होना प्रारंभ होता है और सर्वप्रथम श्रद्धागुण का औदयिक भाव दूर होता है, यह औपशमिक भाव बतलाता है।

अप्रतिहत पुरुषार्थ से पारिणामिक भाव का अच्छी तरह आश्रय बढ़ाने पर विकार का नाश होता है, ऐसा क्षायिकभाव सिद्ध करता है।

औपशमिक व क्षायिक भाव सम्यग्दृष्टियों के ही होते हैं तथा क्षायोपशम भाव सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनों में पाया जाता है।

सबसे कम संख्या औपशमिक भाव वालों की है; क्योंकि औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्रवंत जीवों का ही इसमें समावेश हुआ है।

3. तत्त्वार्थसूत्र : अध्याय 2; सूत्र-7

औपशमिकभाव वालों से अधिक संख्या क्षायिक भाव वाले जीवों की है। इसमें क्षायिक समकृति, क्षायिक चारित्रवंत जीवों का तथा अरहंत व सिद्धों का समावेश होता है।

क्षायिकभाव वालों से अधिक संख्या क्षायोपशमिकभाव वाले जीवों की है। इसमें एक से लेकर बारहवें गुणस्थान वाले जीवों का समावेश होता है।

क्षायोपशमिकभाव वालों से भी अधिक संख्या औदयिकभाव वालों की है। इसमें एक से लेकर चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवों का समावेश होता है।

सबसे अधिक संख्या पारिणामिकभाव वाले जीवों की है। इसमें निगोद से लेकर सिद्ध तक के सब जीवों का समावेश है।

इसी क्रम को लक्ष्य में रखकर तत्त्वार्थसूत्र में औपशमादिक भावों का क्रम रखा गया है।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि -

पारिणामिकभाव के बिना कोई जीव नहीं है।

औदयिकभाव के बिना कोई संसारी नहीं है।

क्षायोपशमिकभाव के बिना कोई छद्मस्थ नहीं है।

क्षायिकभाव के बिना क्षायिक समकृति, क्षायिक चारित्रवंत और अरहंत तथा सिद्ध नहीं है।

औपशमिकभाव के बिना कोई धर्म की शुरुआत वाले नहीं।

औदयिकभाव विकार हैं, साधक के लिए हेय हैं, आश्रय करने योग्य नहीं हैं। औपशमिकभाव, साधक दशा का क्षायोपशमिकभाव और क्षायिकभाव प्रगट करने की अपेक्षा उपादेय और पारिणामिकभाव आश्रय करने की अपेक्षा परम उपादेय है।

समस्त जीवों को उक्त पाँच भावों में से यथासंभव किन्हीं के दो, किन्हीं के तीन, किन्हीं के चार और किन्हीं के पाँचों ही भाव होते हैं।

ये जीवों के निजभाव हैं। इनमें से प्रारंभ के चार भाव निश्चयनय से स्वयं जीवकृत होने पर भी व्यवहारनय से यथायोग्य कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय के निमित्त से होते हैं; इसलिए ही इनकी औपशमिक,

क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक - ये संज्ञाएँ सार्थक हैं, तथा प्रत्येक जीव के अनादिनिधन, एकरूप कर्मोपाधि निरपेक्ष, सहजस्वभाव की 'परिणाम' संज्ञा है और ऐसा परिणाम ही पारिणामिक भाव कहलाता है।

गुणस्थान

मात्र मोह और योग निमित्तक उक्त भावों के तारतम्य से जीव के चौदह स्थान बनते हैं, जिन्हें चौदह गुणस्थान कहते हैं।

जैनधर्म में वीतरागता को जीवन का चरम साध्य बतलाया गया है। उसके अनुसार वीतराग कहने में वीतद्वेष तो समाहित हो ही जाता है। जिसप्रकार जिसको रात्रि में पानी का त्याग है; उसे रात्रि में भोजन का त्याग तो अवश्य ही होगा; उसी प्रकार जो वीतरागी हो गया, उसका द्वेष तो पहिले ही नष्ट हो जाता है। राग-द्वेष के समाप्त होने का एक क्रम है; जिन्हें उन्होंने 14 गुणस्थानों में बाँटा है। जो निम्न हैं -

1. मिथ्यात्व गुणस्थान 2. सासादन गुणस्थान 3. मिश्रगुणस्थान 4. अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान 5. देशविरत गुणस्थान 6. प्रमत्तसंयत गुणस्थान 7. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान 8. अपूर्वकरण गुणस्थान 9. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान 10. सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान 11. उपशान्त कषाय गुणस्थान 12. क्षीणकषाय गुणस्थान 13. सयोगकेवलीजिन गुणस्थान 14. अयोगकेवलीजिन गुणस्थान।

1. मिथ्यात्व गुणस्थान - जिन जीवों की प्रयोजनभूत जीवादि पदार्थ विषयक श्रद्धा असत्य होती है, उनके उस भाव को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

मिथ्यात्वी जीव को स्व-पर विवेक नहीं होता अर्थात् उसको स्वानुभूतिपूर्वक विपरीत अभिनिवेश रहित तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं होता तथा उसको देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ श्रद्धा नहीं होती।

मिथ्यादर्शन के दो भेद हैं - अगृहीत और गृहीत। एकेन्द्रियादि सभी संसारी जीवों के प्रवाहरूप से जो अज्ञानभावमय मिथ्या मान्यता चली आ रही है, जिससे जीव की देहादि जड़ पदार्थों में और उनके निमित्त से हुए

रागादि भावों में एकत्वबुद्धि बनी रहती है, वह अगृहीत मिथ्यादर्शन है। इसके सद्भाव में जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को न जानने वाले जीवों द्वारा कल्पित जो अन्यथा मान्यता नहीं अंगीकार की जाती है, उसे गृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं। यह मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान प्रत्येक जीव को अनादिकाल से सहज है।

2. सासादन गुणस्थान – सम्यग्दर्शन की विराधना को आसादन कहते हैं तथा उसके साथ जो भाव होता है; उसको सासादन कहते हैं। जिस औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव ने सम्यग्दर्शन का तो नाश कर दिया है; किन्तु मिथ्यादर्शन को प्राप्त नहीं हुआ है; उस जीव की उस अवस्था को सासादन गुणस्थान कहते हैं। अतः इस गुणस्थान में औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव ही आता है।

इस गुणस्थान में अनन्तानुबंधी चार कषायों में से किसी एक कषाय का उदय होता है और मिथ्यात्व का उदय नहीं होता। यह गुणस्थान चौथे गुणस्थान अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान से च्युत हुए तथा प्रथमगुणस्थान मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुए जीव की बीच की दशा को इंगित करने वाला गुणस्थान है; अतः इसका काल छह आवली से अधिक नहीं हो सकता।

3. मिश्र गुणस्थान – जिस गुणस्थान में जीव के सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदयवश समीचीन और मिथ्या उभयरूप श्रद्धा युगपत् होती है, उसकी उस श्रद्धा को मिश्र गुणस्थान कहते हैं। जिसप्रकार दही और गुड़ के मिलाने पर उनका मिला हुआ परिणाम (स्वाद) युगपत् अनुभव में आता है; उसी प्रकार ऐसी श्रद्धा वाले जीव के समीचीन और मिथ्या उभयरूप श्रद्धा होती है। यहाँ अनन्तानुबंधी कषाय का उदय नहीं है।

इस गुणस्थान से सीधे देशविरत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती, मात्र मिथ्यात्व और अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान की ही प्राप्ति होती है। तथा यहाँ परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध व मरण तथा मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता है।

‘हमें जिनदेव तथा अन्य देव सर्व ही वंदनीय हैं’ इत्यादिरूप मिश्रश्रद्धान को यहाँ मिश्रगुणस्थान नहीं कहा गया है। क्योंकि उक्त श्रद्धान स्पष्ट मिथ्यात्व दशा का है, जैनाचार्यों ने इसे विनय मिथ्यात्व कहा है। तथा मिश्रगुणस्थान तो सम्यग्दर्शन से च्युत होने वाली सम्यक्मिथ्यात्वरूप दशा को कहते हैं यहाँ से गिरकर जीव प्रथम गुणस्थान को ही प्राप्त होता है; द्वितीय को नहीं।

4. अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान – निश्चय सम्यग्दर्शन से सहित और निश्चय व्रत (अणुव्रत और महाव्रत) से रहित अवस्था ही अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान कहलाता है।

जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति स्वपुरुषार्थ द्वारा स्वभाव सन्मुख होने पर आत्मानुभूतिपूर्वक होती है। इसके तीन भेद होते हैं :- 1. औपशमिक 2. क्षायोपशमिक 3. क्षायिक।

इन तीन प्रकार के सम्यग्दर्शनों में से किसी एक सम्यग्दर्शन के साथ जब तक इस जीव के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के उदयवश अविरतरूप परिणाम बना रहता है; तब तक उसके अविरत सम्यक्त्व नामक चतुर्थ गुणस्थान रहता है। अविरतसम्यग्दृष्टि आत्मज्ञान से सम्पन्न होने के कारण यद्यपि अभिप्राय की अपेक्षा विषयों के प्रति सहज उदासीन होता है तथापि चरणानुयोग के अनुसार उसके आचरण में पंचेन्द्रियों के विषयों का तथा त्रस-स्थावर जीवों के घात का त्याग नहीं होता। इसलिए इनके बारह प्रकार की अविरति पाई जाती है।

5. देशविरत गुणस्थान – चतुर्थ गुणस्थान वाला सम्यग्दृष्टि जीव अपनी आत्मा की शुद्ध परिणति को स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा बढ़ाता हुआ पंचम गुणस्थान को प्राप्त करता है। उसको आत्मा का निर्विकल्प अनुभव (चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा) शीघ्र-शीघ्र होने लगता है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हो जाता है; आत्मिक शांति बढ़ जाने के कारण पर से उदासीनता बढ़ जाती है तथा सहज देशव्रत के शुभभाव होते हैं। अतः वह श्रावक के व्रतों का यथावत् पालन करता है;

परन्तु अपनी शुद्ध परिणति विशेष उग्र नहीं होने से तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय का सद्भाव बने रहने से भावरूप मुनिपद का अधिकारी नहीं हो सकता है।

यह अवस्था ही देशविरत नामक पंचम गुणस्थान है। इसे **व्रताव्रत या संयतासंयत गुणस्थान** भी कहते हैं, क्योंकि अन्तरंग में निश्चय व्रताव्रत या निश्चय संयमासंयम रूप दशा होती है और बाह्य में एक ही समय में त्रसवध से विरत और स्थावरवध से अविरत रहता है। इस गुणस्थान वाले श्रावक के अणुव्रत नियम से होते हैं। ग्यारह प्रतिमाधारी आत्मज्ञानी क्षुल्लक, ऐलक व आर्यिका इसी गुणस्थान में आते हैं।

6. प्रमत्तसंयत गुणस्थान – जिस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष ने निज द्रव्याश्रित पुरुषार्थ द्वारा पंचम गुणस्थान से अधिक शुद्धि प्राप्त करके निश्चय सकल संयम प्रगट किया है और साथ में कुछ प्रमाद भी वर्तता है, उसे प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती कहते हैं। अनन्तानुबंधी आदि बारह कषायों का अभाव होने से पूर्ण संयमभाव होने के साथ संज्वलन कषाय और नोकषाय की यथासंभव तीव्रता रहने से संयम में मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी होता है, इसलिए इस गुणस्थान का प्रमत्तसंयत नाम सार्थक है।

इस गुणस्थान में मुनि सविकल्प अवस्था में ही होते हैं, इसलिए यद्यपि इसमें उपदेश का आदान-प्रदान, आहारादि का ग्रहण, मल आदि का उत्सर्ग, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में आना-जाना इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं; तथापि साथ-साथ मुनियोग्य आन्तरिक शुद्ध परिणति (निश्चय संयम दशा) निरन्तर रहती है और उसके अनुरूप 28 मूलगुण व उत्तरगुणों का और शील के सब भेदों का यथावत् पालन भी सहज होता है।

छठे गुणस्थान में (यथोचित शुद्ध परिणति सहित) सविकल्पता व सातवें गुणस्थान में निर्विकल्पता होती है, तथा दोनों का काल अंतर्मुहूर्त ही होता है; अतः मुनिराज हजारों वर्ष तक भी मुनिदशा में रहें तो भी

उनको अंतर्मुहूर्त में गुणस्थान का पलटन होता रहता है अर्थात् श्रेणी में आरोहण नहीं करने वाले प्रत्येक मुनिराज मुनिदशा में रहते हुए अंतर्मुहूर्त में सातवें गुणस्थान से छठे में आते हैं और फिर छठे से सातवें में चले जाते हैं, ऐसा (सविकल्प-निर्विकल्प का पलटन) अनवरत होता ही रहता है। यहाँ इतना विशेष कि मुनिदशा शुरू होते ही सर्वप्रथम सातवाँ गुणस्थान आता है, पीछे छठा होता है। कोई भी जीव प्रथम पाँचों गुणस्थानों में से चढ़कर इस छठवें गुणस्थान में नहीं आता। यह गुणस्थान सातवें से नीचे उतरते समय ही होता है।

7. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान – जो भावलिङ्गी मुनिराज प्रमाद रहित हैं, उन्हें अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती कहते हैं। इनके अनन्तानुबंधी आदि 12 कषायों का अभाव तो होता ही है, साथ ही संज्वलन कषायों तथा नोकषायों की तीव्रता न होकर सप्तम गुणस्थान योग्य मंदता होती है, अतः इनके मल को उत्पन्न करने वाला प्रमाद नहीं होता और मूलगुण उत्तरगुण आदि की सहज निरतिचार परिणति बनी रहती है, इसलिए इस गुणस्थान का अप्रमत्तसंयत नाम सार्थक है। इस गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं रहते और निर्विकल्प आत्मा के अनुभव रूप ध्यान ही वर्तता है। सातवें सहित आगे के सब गुणस्थानों की निर्विकल्प स्थिति ही होती है।

इस गुणस्थान के दो भेद हैं :- 1. स्वस्थान अप्रमत्तसंयत 2. सातिशय अप्रमत्तसंयत।

जो संयत क्षपकश्रेणी और उपशमश्रेणी पर आरोहण न कर निरन्तर एक-एक अंतर्मुहूर्त में अप्रमत्त भाव से प्रमत्तभाव को और प्रमत्तभाव से अप्रमत्तभाव को प्राप्त होते रहते हैं, उनके उस गुण को **स्वस्थान अप्रमत्तसंयत संज्ञा** कहते हैं।

उपरोक्त मुनिराज उग्र पुरुषार्थपूर्वक आत्मरमणता विशेष बढ़ जाने पर श्रेणी आरोहण के सन्मुख होकर अधःप्रवृत्तकरणरूप विशुद्धि को प्राप्त होते हैं, उनके उस अवस्था को **सातिशय अप्रमत्तसंयत** कहते हैं।

अधःप्रवृत्तकरण का काल अन्तर्मुहूर्त है। यहाँ 'करण' का अर्थ परिणाम है। अधःप्रवृत्तकरण स्थित जीव को प्रत्येक समय में अनन्तगुणी विशुद्धता होती रहती है और भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा उपरितन समयवर्ती (आगे-आगे के समीपवर्ती) तथा अधस्तन समयवर्ती (पीछे-पीछे के समयवर्ती) जीवों के परिणाम विसदृश भी होते हैं तथा सदृश भी होते हैं। ऐसे अधःप्रवृत्तकरण युक्त जीवों को सातिशय अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

8. अपूर्वकरण गुणस्थान – इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। यहाँ भी प्रत्येक जीव के परिणाम में प्रत्येक समय अनन्तगुणी विशुद्धि होती जाती है तथा द्वितीयादि समयवाले जीव के जघन्य परिणाम भी प्रथम समय वाले के परिणामों से अनन्तगुनी विशुद्धता सहित ही होते हैं।

भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा उपरितन समयवर्ती जीव के परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीव के परिणामों से सदा विसदृश ही (अपूर्व ही, विशेष विशुद्धि वाले ही) होते हैं, और अभिन्न समयवर्ती¹ जीवों के परिणाम परस्पर सदृश भी होते हैं तथा विसदृश भी होते हैं। इस गुणस्थान में स्थित जीवों की इसप्रकार की परिणाम धारा होने से इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है। जो उपशम श्रेणी पर आरोहण करते हैं। उनके भी ये परिणाम होते हैं, तथा जो क्षपक श्रेणी पर आरोहण करते हैं उनके भी ये परिणाम होते हैं इस गुणस्थान में संज्वलन कषाय चौकड़ी व नोकषाय का मंदतर उदय होता है।

9. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान – अनिवृत्ति अर्थात् अभेद (सदृश) और करण अर्थात् परिणाम। यहाँ प्रत्येक जीव के एक समय में एक ही परिणाम होता है जो प्रत्येक समय अनन्तगुणी विशुद्धि को लिये हुए होता है। प्रत्येक समय में भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा, उपरितन समयवर्ती

1. उदाहरण रूप से किन्हीं दो जीवों को अपूर्वकरण प्रारम्भ किये हुए 5-5 समय हुए हों तो उन दोनों जीवों को अभिन्न समयवर्ती अर्थात् एक समयवर्ती कहा जाता है।

जीव का परिणाम अधस्तनवर्ती जीव के परिणाम से विसदृश ही (अनन्तगुणी विशुद्धि वाला ही) होता है और अभिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदा सदृश ही होते हैं। इस गुणस्थान में स्थित जीवों की ऐसी परिणाम-धारा होने से इस गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिकरण है। इस गुणस्थान में संज्वलन कषाय चौकड़ी व नोकषाय का मंदतम उदय होता है। इसका काल भी अंतर्मुहूर्त है।

10. सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान – जिन जीवों के अबुद्धिपूर्वक होने वाले सूक्ष्म लोभ कषाय के साथ अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रत्येक समय में अनन्तगुणी विशुद्धि को लिए हुए एक समय में एक ही (नियत विशुद्धि वाला ही) परिणाम होता है और जिनके निरन्तर कर्म प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण होता रहता है, उनके उस गुणस्थान को सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं। इसमें मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय तथा परिणाम होता है।

11. उपशान्तकषाय गुणस्थान – जिस गुणस्थान में मलिन जल में कतक फल के डालने पर स्वच्छ हुए जल के समान जीवों की द्रव्य-भावरूप कषाय उपशान्त रहती है, उनके उस गुणस्थान को उपशान्त कषाय कहते हैं। इसका काल भी अंतर्मुहूर्त है और इसमें पूर्ण वीतरागता के साथ छद्मस्थपना पाया जाने से इसे उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ कहते हैं। यहाँ चार घाति कर्मों में से मोहनीय कर्म का उपशम होता है, बाकी तीन कर्मों का क्षयोपशम रहता है। इस गुणस्थान का काल समाप्त होने पर अथवा आयु पूर्ण होने पर जीव का इस गुणस्थान से क्रमपूर्वक दसवें आदि गुणस्थानों में पतन होता है।

12. क्षीणकषाय गुणस्थान – जो जीव भाव कषायों का सर्वथा क्षय हो जाने से स्फटिकमणि के निर्मल पात्र में रखे हुए स्वच्छ जल के समान पूर्ण निर्मल अर्थात् द्रव्यभाव उभयरूप मोहकर्मों का सर्वथा अभाव होने से पूर्ण वीतरागता को प्राप्त होते हैं, उनके उस गुणस्थान को क्षीणकषाय कहते हैं।

इसका भी काल अन्तर्मुहूर्त है। इसमें पूर्ण वीतरागता के साथ छद्मस्थपना पाया जाने से इसे क्षीण कषाय वीतरागछद्मस्थ कहते हैं। इस गुणस्थान में स्थित यथाख्यात चारित्र के धारक मुनिराज को मोहनीय कर्म का तो अत्यन्त क्षय होता है और शेष तीन घाति कर्मों का क्षयोपशम रहता है, अन्तर्मुहूर्त में वे उनका भी क्षय करके तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त करते हैं।

13. सयोगकेवली जिन गुणस्थान – जिन जीवों का केवलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के समूह से अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो चुका है और जिन्हें नौ केवल-लब्धियाँ (क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य) प्रगट होने से परमात्मा संज्ञा प्राप्त हुई है; वे जीव इन्द्रिय और आलोक आदि की अपेक्षा रहित असहाय ज्ञान-दर्शन युक्त होने से 'केवली'; योग से युक्त होने के कारण 'सयोग' और द्रव्य-भाव उभयरूप घाति कर्मों पर विजय प्राप्त करने के कारण 'जिन' कहलाते हैं; उनके इस गुणस्थान को सयोगकेवली जिन कहते हैं। यही केवली भगवान अपनी दिव्यध्वनि से भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर संसार में मोक्षमार्ग का प्रकाश करते हैं।

इस गुणस्थान में योग का कंपन होने से एक समय मात्र की स्थिति का साता वेदनीय का आस्रव होता है, लेकिन कषाय का अभाव होने से बंध नहीं होता।

14. अयोगकेवली जिन गुणस्थान – इस गुणस्थान में स्थित अरहन्त भगवान मन, वचन, काय के योगों से रहित और केवलज्ञान सहित होने से इस गुणस्थान से अयोगकेवली जिन कहलाते हैं। इस गुणस्थान का काल अ,इ,उ,ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण करने के बराबर है। इस गुणस्थान के अंतिम दो समय में अघाति कर्मों की सर्व कर्म प्रकृतियों का क्षय करके ये भगवान सिद्धपने को प्राप्त होते हैं।

जीव समास

अनन्तानन्त जीव और उनके भेद-प्रभेदों का जिन में संग्रह किया

जाए उन्हें जीव समास कहते हैं। जैनदर्शन में विभिन्न दृष्टियों से जीव के अलग-अलग भेद-प्रभेद बताए गए हैं।

(ब) नय की अपेक्षा जीव के भेद – आत्मा शुद्धनय की अपेक्षा से एक प्रकार का है तथापि पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से दो प्रकार का है – मुक्त और बद्ध (संसारी)।

(क) मुक्त – मिथ्यादर्शन, कषाय, योग रहित जीव की शुद्धावस्था ही मुक्तावस्था है। मुक्त अवस्था में जीव समस्त कर्मों से रहित हो जाता है। कर्ममुक्त आत्मा देहरहित, अमूर्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता हुआ अतीन्द्रिय, अव्याबाध, वचन गोचरातीत, अनन्त सुख को प्राप्त कर लोकाग्र में स्थित हो सिद्ध हो जाता है। सिद्धावस्था ही मुक्त अवस्था है।

मुक्त जीव अनन्त होते हैं। मुक्त जीवों के ज्ञान ही शरीर होता है। मनुष्यगति से ही मुक्ति संभव है। जीव यदि एक बार कर्मों से मुक्त हो जाए तो पुनः कर्मों से संयुक्त नहीं होता; अतः मुक्त होने के बाद जीव पुनः संसारी नहीं होता।

(ख) बद्ध – संसारी जीव बद्ध जीव हैं। कर्म सहित जीव को संसारी कहते हैं। जीव की संसारी अवस्था अशुद्धावस्था है। अनादिकाल से जीव इसी अवस्था में हैं।

संसारी जीव मिथ्यादर्शन, कषाय और योग सहित हैं। जीव की संसारी दशा का कारण आत्मस्वरूप संबंधी भ्रम है। उस भ्रम को ही मिथ्यादर्शन कहते हैं। मिथ्यादर्शन के कारण संसार में परिभ्रमण होता है, इस परिभ्रमण को ही संसार कहते हैं।

(ii) मुक्ति की शक्ति अपेक्षा जीव के भेद – संसारी जीव मुक्ति की शक्ति अपेक्षा दो प्रकार के होते हैं (क) भव्य और (ख) अभव्य।

(क) भव्य – जिनमें शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि की शक्ति का सद्भाव है, उन्हें 'भव्यजीव' कहते हैं। मुक्ति का पुरुषार्थ करने वाले भव्यजीव कभी न कभी मोक्ष अवश्य जाते हैं।

जो अनन्तकाल जाने पर मोक्ष जाने का पुरुषार्थ करेंगे, उन्हें 'दुरानदूर भव्य' कहा जाता है।

भव्यों में कुछ जीव ऐसे भी होते हैं जो मोक्ष जाने का पुरुषार्थ कभी भी नहीं करेंगे, ऐसे जीवों का 'अभव्य समान भव्य' कहा जाता है।

(ख) **अभव्य** - जिनमें शुद्धस्वरूप की उपलब्धि की शक्ति का असद्भाव है, उन्हें 'अभव्यजीव' कहते हैं; क्योंकि वे कभी भी मोक्ष नहीं जाएँगे।

(iii) **अवस्था की दृष्टि से संसारी जीव के भेद** - अवस्था की दृष्टि से संसारी जीव दो प्रकार के हैं - स्थावर और त्रस।

(क) **स्थावर** - स्थावर जीवों के एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय होती है, तथा प्राण चार¹ होते हैं। स्थावर जीव पाँच प्रकार के हैं - पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। ये सभी दो प्रकार के होते हैं - **बादर और सूक्ष्म**।

बादर एकेन्द्रिय जीव किसी पदार्थ के आधार से रहते हैं तथा दूसरों को बाधा देते हैं एवं स्वयं भी बाधा को प्राप्त होते हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव समस्त लोकाकाश में फैले हुए हैं। वे किसी को बाधा नहीं पहुँचाते और स्वयं किसी से बाधा को प्राप्त नहीं होते।

ये समस्त जीव पर्याप्तक व अपर्याप्तक होते हैं।

(ख) **त्रस** - त्रस जीव चार प्रकार के हैं - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। मुक्त जीव त्रस या स्थावर नहीं हैं; क्योंकि ये भेद संसारी जीवों के हैं।

दो इन्द्रिय जीव के छह प्राण, तीन इन्द्रिय जीव के सात प्राण, चार इन्द्रिय जीव के आठ प्राण, असैनी पंचेन्द्रियों के नौ प्राण और सैनी पंचेन्द्रियों के दस प्राण होते हैं।

1. स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास - ये चार प्राण होते हैं।

पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं - सैनी और असैनी। (संज्ञी, असंज्ञी)।

सैनी - जो हित में प्रवृत्त होने की अथवा अहित से दूर रहने की शिक्षा ग्रहण करता है - ऐसे मन सहित जीव सैनी हैं। इन्हें संज्ञी भी कहते हैं। देव, मनुष्य और नारकी नियम से सैनी पंचेन्द्रिय ही होते हैं तथा मन सहित तिर्यच भी सैनी होते हैं।

मन सहित सैनी जीव सत्य-असत्य का विवेक कर सकते हैं। मन दो प्रकार का होता है - **द्रव्य मन और भाव मन**।

पुद्गल द्रव्य के मनोवर्गणा नामक स्कन्धों से बना हुआ आठ पंखुड़ीवाला फूले कमल के आकार रूप हृदयस्थान में **द्रव्य मन** है। यह सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध होने से इन्द्रियग्राही नहीं है। यह पुद्गल विपाकी कर्म-उदय के फलरूप है। यह जीव की विचारादि क्रिया में निमित्त मात्र होता है।

आत्मा के विशेष प्रकार की विशुद्धि **भाव मन** है। इससे जीव शिक्षा ग्रहण करने, क्रिया को समझने, उपदेश आदि देने के योग्य होता है। जीव की विचारादि क्रिया में भाव मन उपादान हैं। भाव मन वाले प्राणी मोक्ष के उपदेश के योग्य होते हैं।

असैनी - जो हित-अहित की शिक्षा, क्रिया, उपदेश आदि को ग्रहण नहीं करता, वह मन रहित जीव असैनी होता है। इन्हें असंज्ञी भी कहते हैं।

एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक जीव नियम से असैनी ही होते हैं तथा मन रहित पंचेन्द्रिय तिर्यच भी असैनी होते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि चारों गतियों में पाए जानेवाले एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय और सैनी पंचेन्द्रिय संसारी जीव हैं।

जीव समास के अनेक प्रकार के भेद-प्रभेदों में 1 से लेकर 19 तक भेद भी संसारी जीव के गिनाए गए हैं। वे निम्न प्रकार हैं -

1. जीव सामान्य की अपेक्षा एक प्रकार का है।
2. संसारी जीव त्रस-स्थावर भेद की अपेक्षा दो प्रकार का है।
3. एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय व सकलेन्द्रिय की अपेक्षा तीन प्रकार है।
4. एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा चार प्रकार का है।
5. एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय की अपेक्षा पाँच प्रकार का है।
6. पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति व त्रस की अपेक्षा छह प्रकार का है।
7. पृथ्वी आदि पाँच स्थावर तथा विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय की अपेक्षा सात प्रकार का है।
8. उक्त सात व सकलेन्द्रिय के संज्ञी, असंज्ञी होने से आठ प्रकार का है।
9. स्थावर पाँच व त्रस के द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक चार ऐसे नौ प्रकार का है।
10. उक्त नौ में पंचेन्द्रिय के संज्ञी, असंज्ञी होने से दस प्रकार का है।
11. पाँच स्थावरों के बादर सूक्ष्म भेद में 10 व एक त्रस भेद से ग्यारह प्रकार का है।
12. उक्त स्थावर के 10 व सकलेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय भेद से बारह प्रकार का है।
13. उक्त 12 में सकलेन्द्रिय के संज्ञी, असंज्ञी होने से तेरह प्रकार का है।
14. स्थावर के बादर, सूक्ष्म से 10 व त्रस के द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक चौदह प्रकार का है।
15. उक्त चौदह में पंचेन्द्रिय के संज्ञी-असंज्ञी होने से पंद्रह प्रकार का है।
16. पृथ्वी, अप, तेज, वायु, साधारण वनस्पति के नित्य व इतर निगोद ये छह स्थावर इनके बादर सूक्ष्म+प्रत्येक वनस्पति, विकलेन्द्रिय, संज्ञी व असंज्ञी मिलाकर सोलह प्रकार है।

17. स्थावर के उक्त तेरह+द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय मिलाकर 17 प्रकार हैं।
18. स्थावर के उक्त तेरह+द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के संज्ञी और असंज्ञी होने से अठारह प्रकार हैं।
19. पृथ्वी, अप, तेज, वायु, साधारण वनस्पति के नित्य व इतर निगोद, इन छह के बादर सूक्ष्म 12+प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित प्रत्येक ये स्थावर के 14 समास+त्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय मिलाकर उन्नीस प्रकार है।

उक्त 19 जीव समासों का मार्गणा में अन्तर्भाव कर लिया जाता है।

मार्गणा

जीव जिन भावों या पर्यायों के द्वारा अनुमार्गण किए जाते हैं, खोजे जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं। ये 14 हैं ह्य गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक।

संक्षेप में कहें तो जीव नित्य चैतन्य उपयोगी होने से एक ही है, ज्ञान और दर्शनह्व ऐसे दो भेदों के कारण 'दो भेदवाला है', कर्मफल चेतना, कार्य चेतना और ज्ञान चेतना ऐसे भेदों द्वारा अथवा ध्रौव्य, उत्पाद, विनाश-ऐसे भेदों द्वारा लक्षित होने से 'त्रिलक्षण' है, चार गतियों में भ्रमण करने से 'चतुर्विध भ्रमणवाला' है, पारिणामिक आदि पाँच मुख्य गुणों की प्रधानता होने से 'पाँच मुख्य गुणों से प्रधानतावाला' है, अन्यभव में जाते हुए छह दिशाओं में गमन होता है इसलिए 'छह अपक्रम सहित' है, अस्ति-नास्ति आदि सात भंगों द्वारा सद्भाव होने से 'सात भंगपूर्वक सद्भाववान है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अथवा आठ गुणों के आश्रयभूत होने से 'आठ के आश्रयरूप है', नवपदार्थ-रूप से वर्तता है इसलिए 'नव-अर्थरूप' है, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय रूप दस स्थानों में प्राप्त होने से 'दसस्थानगत' है।

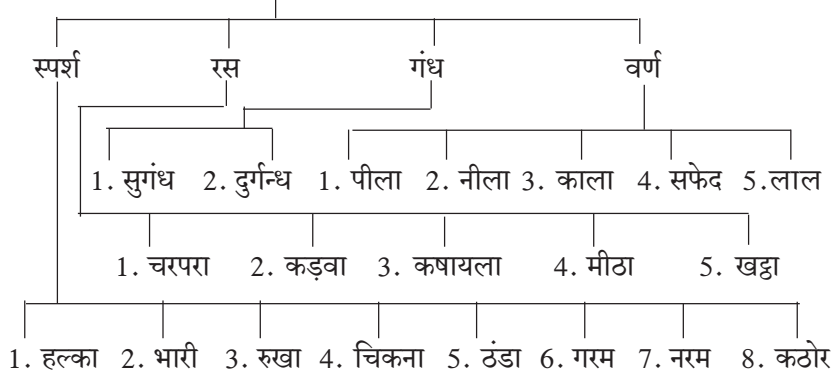
पुद्गल द्रव्य

जो भेद और संघात से गलन और पूरण स्वभाव सहित हैं, वे पुद्गल हैं अथवा जो स्पर्श, रस, गंध और वर्ण वाले हों वे पुद्गल हैं।¹

पुद्गलद्रव्य के गुण व पर्यायें

उक्त चार गुणों की 20 पर्यायें होती हैं। इन पर्यायों को निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है -

पुद्गलद्रव्य के गुण व उनकी 20 पर्यायें



यहाँ इतना विशेष है कि परमाणु में चार गुणों की पाँच पर्यायें होती हैं अतः परमाणु एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गंधवाला तथा दो स्पर्शवाला होता है। परमाणु में शीत-उष्ण में से कोई एक और स्निग्ध-रूक्ष में से कोई एक हू इस तरह दो अविरोधी स्पर्श रहते हैं। किन्तु स्पर्श गुण की हल्की, भारी, कठोर या नरम रूप पर्याय परमाणु में नहीं होती; क्योंकि ये सब संयोगी द्रव्य में ही संभव है।

उक्त 20 पर्यायों के दो, तीन, चार से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूल, संस्थान (आकार), भेद, अंधकार, छाया, आतप और उद्योत आदि भी पुद्गल की ही पर्यायें हैं।

1. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सूत्र-23

(1) शब्द - जो कान से सुना जाए उसे शब्द कहते हैं अथवा श्रवणेन्द्रिय द्वारा अवलम्बित, भावेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य ध्वनि ही शब्द है।

किसी भी प्रकार का शब्द हो किन्तु सर्व शब्दों का उपादान कारण तो समस्त लोक में सर्वत्र व्याप्त अनन्तपरमाणुमयी शब्दयोग्य वर्गणायें ही हैं जो कि स्वयमेव शब्दरूप परिणमित होती हैं। उनके स्वयमेव शब्दरूप परिणमित होने पर भी वायु-गला, तालु-जिह्वा-ओष्ठ, घंटा-मेघादि महास्कंधों का टकराना बहिरंगकारण सामग्री है अर्थात् शब्दरूप परिणमन में वे महास्कंध निमित्तभूत हैं; इसलिए निमित्त अपेक्षा से शब्द को व्यवहार से स्कन्धजन्य कहा जाता है।

शब्द दो प्रकार का है - भाषात्मक और अभाषात्मक।

(क) भाषात्मक शब्द - जो मुख से उत्पन्न हो, उसे भाषात्मक शब्द कहते हैं। भाषात्मक शब्द भी दो प्रकार के हैं - अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। यह दोनों भाषा शास्त्रों को प्रकट करनेवाली और मनुष्य के व्यवहार का कारण है।

(ख) अक्षरात्मक - मुख से निकलने वाले जो शब्द अक्षर, पद, वाक्यरूप हैं, उसे साक्षर भाषात्मक या वर्णात्मक भी कहते हैं। अक्षरात्मक भाषा संस्कृत और देशभाषारूप है।

(ग) अनक्षरात्मक भाषा - दो इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक सभी जीवों के तथा कुछ पंचेन्द्रिय जीवों के भी होती है और केवली भगवान की दिव्यध्वनि भी अनक्षरात्मक या ध्वन्यात्मक भाषा है। यह जीव निमित्तक है, अतः प्रायोगिक है।

(घ) अभाषात्मक शब्द - जो दो वस्तु के आघात से उत्पन्न हो उसे अभाषात्मक शब्द कहते हैं। अभाषात्मक शब्द उत्पन्न होने में प्राणी तथा जड़पदार्थ हू दोनों निमित्त हैं। अभाषात्मक शब्द भी दो प्रकार का है हू प्रायोगिक और वैज्ञानिक।

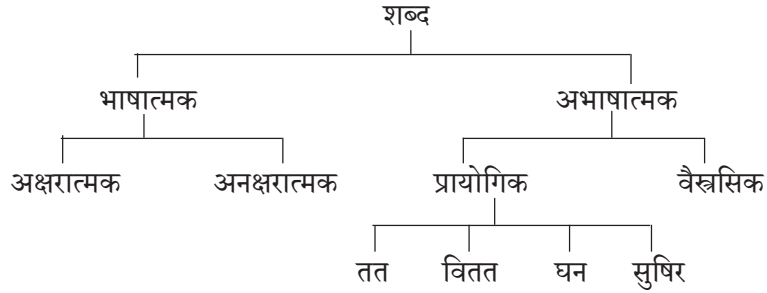
(ङ) प्रायोगिक - जिस शब्द के उत्पन्न होने में पुरुष निमित्त हो, वह प्रायोगिक भाषा है। प्रायोगिक भाषा चार तरह की है हू तत, वितत, घन और सुषिर।

तत - जो चमड़े के ढोल-नगाड़े आदि से उत्पन्न हो वह 'तत' है।
वितत - तारवाली वीणा, सितार आदि से उत्पन्न होनेवाली भाषा को 'वितत' कहते हैं।

घन हूँ घंटा आदि बजाने से उत्पन्न होनेवाली भाषा को 'घन' कहते हैं।
सुषिर - बांसुरी, शंखादिक से उत्पन्न होने वाली भाषा को 'सुषिर' कहते हैं।

(ख) वैस्त्रसिक - जो पुरुष की बिना अपेक्षा के स्वभावरूप उत्पन्न हो वह वैस्त्रसिक है, जैसे मेघगर्जनादि।

शब्द के उक्त भेदों को निम्न चार्ट द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है।



(2) बंध - दो, तीन आदि पुद्गलों का जो समवाय संबंध होता है, वह बंध कहलाता है। स्निग्ध और रुक्ष आदि गुणों के कारण पुद्गलों का बंध होता है। स्निग्ध पुद्गल स्निग्ध के साथ और रुक्ष पुद्गल रुक्ष के साथ नहीं बंधते। जघन्य गुण वाले पुद्गलों का भी बंध नहीं होता। समान शक्त्यंश होने पर तुल्य जातिवालों का भी बंध नहीं होता। बंध तो दो अधिक शक्त्यंश वालों का ही होता है। इसप्रकार जघन्य गुण रहित तथा दो गुण अधिक होने पर स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, रुक्ष का रुक्ष के साथ और रुक्ष का स्निग्ध के साथ परमाणुओं का बंध होता है; अतः दो अंशों से लेकर अनन्त अंश स्निग्धता या रुक्षता वाले परमाणु का उससे दो अधिक अंश स्निग्धता या रुक्षता वाले परमाणु के साथ बंधकर स्कंध बनता है, जैसे - 2 अंश स्निग्धता वाला परमाणु 4 अंश स्निग्धतावाले परमाणु के साथ बंधता है; 91 अंश

स्निग्धतावाला परमाणु 93 अंश रुक्षतावाले परमाणु के साथ बंधता है; 533 अंश रुक्षतावाला परमाणु 535 अंश रुक्षता वाले परमाणु के साथ बंधता है; 7006 अंश रुक्षतावाला परमाणु 7008 अंश स्निग्धतावाले परमाणु के साथ बंधता है - इन उदाहरणों के अनुसार दो से लेकर अनन्त अंशों तक समझ लेना चाहिए।

मात्र एक अंशवाले परमाणु में जघन्यभाव के कारण बंध की योग्यता नहीं है, इसलिए एक अंशवाला स्निग्ध या रुक्ष परमाणु तीन अंशवाले स्निग्ध या रुक्ष परमाणु के साथ भी नहीं बंधता।

इसप्रकार एक अंश वाले के अतिरिक्त दो परमाणुओं के बीच यदि दो अंशों का अन्तर हो तब ही वे बंधते हैं; दो से अधिक या कम अंशों का अन्तर हो तो बंध नहीं होता। जैसे - पाँच अंश स्निग्धता या रुक्षतावाला परमाणु सात अंशों वाले परमाणु के साथ बंधता है; परन्तु 5 अंशोंवाला परमाणु 8 या 6 या 5 अंशों वाले परमाणु के साथ नहीं बंधता।

बंध दो तरह का है - वैस्त्रसिक और प्रायोगिक।

(क) वैस्त्रसिक - पुरुष की अपेक्षा से रहित जो बंध होता है, उसे वैस्त्रसिक कहते हैं। यह वैस्त्रसिक दो प्रकार का है (i) आदिमान और (ii) अनादिमान।

(i) आदिमान - स्निग्ध-रुक्षादि के कारण से जो बिजली, उल्कापात, आग, बादल, इन्द्रधनुष आदि होते हैं; उसे आदिमान वैस्त्रसिक बंध कहते हैं।

(ii) अनादिमान - पुद्गल का अनादिमान बंध महास्कंध आदि हैं। अमूर्तिक और मूर्तिक पदार्थ का अनादिमान बंध हूँ धर्म, अधर्म, आकाश और जगद्व्यापि महास्कंध का है तथा अमूर्तिक पदार्थों में भी वैस्त्रसिक अनादिमान बंध उपचार से कहा जाता है; यह धर्म, अधर्म और आकाश का है।

(ख) प्रायोगिक - जो पुरुष की अपेक्षा सहित हो वह प्रायोगिक बंध है। उसके दो भेद हैं - अजीव विषय, जीवाजीव विषय।

अजीव विषय – लाख का और लकड़ी का जो बंध है वह अजीव विषय प्रायोगिक बंध है।

जीवाजीव विषय – जीव के जो कर्म और नोकर्म बंध है, वह जीवाजीव विषयक प्रायोगिक बंध है।

(3) **सूक्ष्म** – सूक्ष्म दो तरह का है – अन्त्य और आपेक्षिक। परमाणु अन्त्य सूक्ष्म है तथा आँवले से बेर सूक्ष्म है – यह आपेक्षिक सूक्ष्म है।

(4) **स्थूल** – स्थूल दो प्रकार का है अन्त्य और आपेक्षिक। जो जगद्व्यापी महास्कंध है वह अन्त्य स्थूल है, उससे बड़ा दूसरा कोई स्कंध नहीं है। बेर, आँवला आदि आपेक्षिक स्थूल हैं।

(5) **संस्थान** – आकृति को संस्थान कहते हैं। उसके दो भेद हैं – इत्थंलक्षण संस्थान और अनित्थं लक्षण संस्थान। गोल, त्रिकोण, चौरस, लम्बा, चौड़ा और परिमण्डल – ये इत्थं लक्षण संस्थान हैं। बादल आदि जिसकी कोई आकृति नहीं वह अनित्थं लक्षण संस्थान हैं।

(6) **भेद** – छः प्रकार का है – उत्कर, चूर्ण, खंड, चूर्णिका, प्रतर और अनुचटन। आरे आदि से लकड़ी आदि का विकरण करना 'उत्कर' है। जौ, गेहूँ, बाजरा आदि का आटा 'चूर्ण' है। घड़े आदि के टुकड़े 'खण्ड' हैं। उडद, मूँग, चना, चोला आदि दाल को 'चूर्णिका' कहते हैं। तप्त्यमान लोहे को घन इत्यादि से पीटने पर जो चिनगारियाँ निकलती हैं उसे 'अनुचटन' कहते हैं।

(7) **अंधकार** – प्रकाश का विरोधी अंधकार है।

(8) **छाया** – प्रकाश को ढकनेवाली छाया है, वह दो प्रकार की है – तद्वर्ण परिणति और प्रतिबिम्ब स्वरूप।

(क) रंगीन कांच में से देखने पर जैसे काँच का रंग हो वैसा ही दिखाई देता है – यह तद्वर्ण परिणति कहलाती है।

(ख) दर्पण, फोटो आदि में जो प्रतिबिम्ब देखा जाता है उसे प्रतिबिम्बस्वरूप कहते हैं।

(9) **आतप** – सूर्य के विमान द्वारा जो उत्तम प्रकाश होता है, उसे आतप कहते हैं।

(10) **उद्योत** – चन्द्रमा, चन्द्रकान्त मणि, दीपक आदि के प्रकाश को उद्योत कहते हैं।

उक्त पर्यायों में 'सूक्ष्म' और 'संस्थान' – ये दो पर्याय परमाणु और स्कंध दोनों में होते हैं और अन्य सब स्कंध की ही पर्याय हैं। इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य विषय, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच शरीर, द्रव्यमन, द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि अन्य जो कुछ भी मूर्त है वह सब पुद्गल की ही पर्यायें हैं।

पूरण और गलन स्वभाववाले होने से परमाणु निश्चय से पुद्गल हैं और अनेक परमाणुमय एक पर्याय होने के कारण स्कंध भी व्यवहार से 'पुद्गल' हैं।

पुद्गल के भेद

मूलरूप से पुद्गल के दो भेद हैं – स्वभाव पुद्गल और विभाव पुद्गल। परमाणु स्वभाव पुद्गल है और उसकी स्कंध रूप पर्याय विभाव पुद्गल है। इसप्रकार पुद्गल के दो मुख्य भेद हुए – परमाणु और स्कंध।

परमाणु हूँ परमाणु को अणु भी कहते हैं। सर्व स्कन्धों के (पुद्गल द्रव्यों के) अंतिम छोटे से छोटे भाग को, जिसका विभाग न हो सके अणु कहते हैं।

परमाणु अविभागी, अप्रदेशी, प्रदेशमात्र, शाश्वत, मूर्त्तिप्रभव, अशब्द, शब्द का कारण और एक है।

परमाणु विभाग के अभाव के कारण 'अविभागी' है। परमाणु दो-तीन आदि प्रदेशों के अभाव के कारण 'अप्रदेशी' है, एक प्रदेश के सद्भाव के कारण 'प्रदेशमात्र' है, मूर्त्त द्रव्यरूप से सदैव अविनाशी होने से नित्य है – 'शाश्वत' है, अनादि-अनंत रूपादि के परिणाम से उत्पन्न होने के कारण मूर्त्त रूप से उत्पन्न होनेवाला 'मूर्त्तिप्रभव' है। स्वयं अनेक परमाणु द्रव्यात्मक शब्द पर्याय की प्रकटता न होने से 'अशब्द' है, परमाणु शब्द

स्कन्धरूप से परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाववाला होने से 'शब्द का कारण' है। निर्विभाग एकप्रदेशी होने से 'एक' है।

एक प्रदेशवाला होने से परमाणु अनवकाश नहीं है, सावकाश नहीं है, स्कन्धों का भेदन करनेवाला है, तथा स्कन्धों का कर्ता भी है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का विभाजन करनेवाला है।

परमाणु एक प्रदेश द्वारा अपने से अभिन्न अस्तित्ववाले स्पर्शादि गुणों को अवकाश देता है इसलिए 'अनवकाश' नहीं है।

परमाणु एक प्रदेश होने के कारण उसमें द्वि-आदि प्रदेशों का अभाव होने से स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अंत होने के कारण 'सावकाश' नहीं है।

परमाणु अपने एक प्रदेश द्वारा स्कन्धों के टूटने और बिखरने में निमित्त होने से 'स्कन्धों का भेदन करनेवाला' है।

परमाणु एक प्रदेश द्वारा स्कन्ध के मिलने का (संघात का) निमित्त होने से 'स्कन्धों का कर्ता' है।

स्कन्धों में द्रव्य संख्या का माप परमाणु द्वारा होता है। इसीप्रकार क्षेत्र, काल, भाव का माप करने के लिए परमाणु गज (मीटर) समान है। जैसेह एक परमाणु जितने आकाश के भाग को 'आकाश प्रदेश' कहते हैं। परमाणु को एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में मंदगति से जाते हुए जितना समय लगता है उसे 'समय' कहते हैं।

परमाणु एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गंधवाला तथा दो स्पर्शवाला है। परमाणु में यह भेद कथन मात्र ही है, वस्तुतः तो परमाणु से स्पर्श, रस, गंध, वर्ण का अभेद ही है; क्योंकि परमाणु निरंश है। तथा द्रव्य के व गुण के अभिन्न प्रदेशी होने से जो परमाणु का प्रदेश है; वही स्पर्श, रस, गंध और रूप का भी प्रदेश है, अतः किसी भी परमाणु में एक भी गुण कम हो तो उस गुण के साथ अभिन्न-प्रदेशी परमाणु ही नष्ट हो जाएगा; इसलिए समस्त परमाणु समान गुणवाले ही हैं, समान जाति के हैं, भिन्न-भिन्न जाति के नहीं हैं।

परमाणु एक जाति के होने पर भी अपने परिणमन स्वभाव के कारण पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप चार धातुओं के कारण बनते हैं।

एक परमाणु का एक आकाश प्रदेश में ही अवगाह होता है, दो परमाणु यदि बद्ध हैं तो एक प्रदेश में, यदि अबद्ध हैं तो दो प्रदेशों में अवगाह होता है तथा तीन का बद्ध अवस्था में एक, दो और तीन प्रदेशों में अवगाह होता है। अपनी स्कन्ध रूप अवस्था में भी प्रत्येक परमाणु स्वयं परिपूर्ण है, स्वतंत्र है, पर की सहायता से रहित है तथा अपने से ही अपने गुण-पर्याय में स्थित होने के कारण तथा स्वभाव को न छोड़ने के कारण परिपूर्ण स्वतंत्र द्रव्य है।

परमाणु चार प्रकार के हैं ह कार्य परमाणु, कारण परमाणु, जघन्य परमाणु और उत्कृष्ट परमाणु।

जिन परमाणुओं के मिलने पर कोई स्कन्ध बने वे कारण परमाणु हैं अर्थात् स्कन्धों का निर्माण करनेवाला कारण परमाणु है, जो चार धातुओं का हेतु है।

स्कन्धों के पृथक् हुए अविभागी अन्तिम अंश को कार्य परमाणु कहते हैं। कार्य परमाणु स्कन्धों का भेद करनेवाला है।

एक गुण स्निग्धता या रुक्षता होने से सम या विषम बंध के अयोग्य कारण परमाणु जघन्य परमाणु हैं।

एक गुण स्निग्धता या रुक्षता के ऊपर ह दो गुणवाले और चार गुणवाले का समबंध होता है, तथा तीन गुणवाले और पाँच गुणवाले का विषम बंध होता है ह यह उत्कृष्ट परमाणु है।

स्कन्ध ह जिन परमाणुओं ने परस्पर बंध कर लिया है, वे स्कन्ध कहलाते हैं। स्कन्धों में पकड़ना, रखना आदि क्रियायें संभव हैं। पुद्गल पिण्डात्मक सम्पूर्ण वस्तुएँ स्कन्ध ही हैं। स्कन्ध दो-तीन से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के पिण्ड हो सकते हैं। परमाणुओं में स्वाभाविक रूप से स्निग्ध व रुक्ष गुणों में हानि-वृद्धि होती रहती है।

विशेष अनुपात वाले गुणों को प्राप्त होने पर वे बंध जाते हैं, जिसके कारण सूक्ष्मतम से स्थूलतम तक अनेक प्रकार के स्कंध उत्पन्न हो जाते हैं।

लोक के सर्वद्वीप, चन्द्र, सूर्य आदि पृथ्वी में मिलकर एक महास्कंध होता है; क्योंकि पृथक्-पृथक् रहते हुए भी ये सभी मध्यवर्ती सूक्ष्म स्कंधों के द्वारा परस्पर में बँधकर एक हैं। पुद्गल द्रव्य इस लोक व्यापक महास्कंध की अपेक्षा सर्वगत है और शेष पुद्गलों की अपेक्षा असर्वगत है।

परमाणुओं के भेद (अलग होने से), संघात (मिलने से) अथवा भेद-संघात दोनों से पुद्गल स्कंधों की उत्पत्ति होती है। जैसे ह 100 परमाणुओं का स्कंध है, उसमें से दस परमाणु अलग हो जाने से 90 परमाणुओं का स्कंध बना ह इसप्रकार भेद द्वारा पुद्गल स्कंध की उत्पत्ति होती है। इसीप्रकार 100 परमाणुओं के स्कंध में 10 परमाणुओं के मिलने से 110 परमाणुओं का स्कंध संघात से बना। 100 परमाणुओं के स्कंध में ही एकसमय 10 परमाणुओं के अलग होने और 15 परमाणुओं के मिल जाने से 105 परमाणुओं का स्कंध भेद-संघात दोनों द्वारा बने।

यहाँ इतना विशेष है कि चक्षु इन्द्रिय से देखने योग्य स्कंध भेद और संघातद्वयों के एकत्र रूप उत्पन्न होने से बनता है, अकेले भेद या अकेले संघात से नहीं बनता।

स्कन्ध तीन प्रकार के हैं ह स्कन्ध, स्कन्ध देश और स्कन्ध प्रदेश।

अनन्तानन्त परमाणुओं का बंध विशेष 'स्कन्ध' है। उसके आधे को 'देश' कहते हैं और आधे से आधे को 'प्रदेश' कहते हैं। जैसेहयदि 16 परमाणुओं के पूर्ण पिण्ड को 'स्कन्ध' मानें तो 8 परमाणुओं वाला उसका अर्द्धभाग रूप टुकड़ा 'देश' है और 4 परमाणुओं वाला उसका चतुर्थ भाग रूप टुकड़ा 'प्रदेश' है।

स्कन्ध बादर व सूक्ष्म रूप परिणामों के भेदों द्वारा तीन लोक में 6 प्रकार से व्याप्त होकर रहता है। वे छह प्रकार निम्न हैं ह

बादर-बादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म, सूक्ष्म-सूक्ष्म।

जो छेदन होने पर स्वयं जुड़ नहीं सकते वे घन पदार्थ 'बादर-बादर' हैं, जैसे ह पृथ्वी, पर्वत, लकड़ी आदि। बादर को स्थूल भी कहते हैं।

जो छेदन होने पर स्वयं जुड़ जाते हैं वे प्रवाही पदार्थ दूध, घी, तेल, जल, रस आदि 'बादर' (स्थूल) स्कंध हैं।

जो स्थूल ज्ञात होने पर भी जिनका छेदन-भेदन नहीं किया जा सकता, हाथ से पकड़ नहीं सकते ऐसे छाया, धूप, चाँदनी, अंधकार आदि स्कन्ध 'बादर सूक्ष्म' हैं। चूँकि वे आँख से दिखाई देते हैं, इसलिए स्थूल हैं, हाथ से पकड़ नहीं सकते; अतः सूक्ष्म हैं।

चक्षु को छोड़कर चार इन्द्रियों के विषय भूत स्कन्ध जो कि आँख से दिखाई न देने पर भी जिन्हें स्पर्शेन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया जा सकता है, जीभ द्वारा जिनका स्वाद लिया जा सकता है, नाक से सूँघा जा सकता है और कान से सुना जा सकता है, वे स्कंध 'सूक्ष्म बादर' हैं। जैसेह स्पर्श, रस, गंध और शब्द। ये आँख से दिखाई नहीं देते इसलिए सूक्ष्म हैं और चार इन्द्रियों से जाने जाते हैं इसलिए स्थूल हैं।

जो इन्द्रियों से ज्ञात न हों वे कर्मवर्गणादि स्कन्ध 'सूक्ष्म' हैं।

कर्मवर्गणातीत द्विअणुक स्कन्ध तक के स्कन्ध जो कि अत्यन्त सूक्ष्म हैं वे 'सूक्ष्मसूक्ष्म' हैं।

स्कंध पुद्गल द्रव्य की विशेषता है। यह विशेषता अन्य किसी द्रव्य में नहीं है, क्योंकि दूसरे द्रव्य अमूर्तिक हैं।

समान गुणवाले परमाणु पिण्ड को वर्गणा कहते हैं।

यद्यपि पुद्गल वर्गणा 23 प्रकार की होती है किन्तु पाँच प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं का संयोग ही जीव के साथ होता देखा जाता है। वे पाँच प्रकार हैं ह आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा, तैजस वर्गणा और कार्माण वर्गणा। जिनागम में संसारी आत्मा से एकक्षेत्रावगाह रूप से संबंध रखने वाले पाँच प्रकार के शरीरों का वर्णन है ह औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। इनमें से औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर आहारवर्गणा से बनते हैं। तैजस वर्गणा से तैजस

शरीर और कार्माण वर्गणा से कार्माण शरीर निर्मित होता है। मनोवर्गणा से मन का निर्माण होता है और भाषावर्गणा शब्द रूप परिणमित होकर भाषा का रूप लेती है। अतः पुद्गल का जो वर्णन जिनागम में मिलता है, उसमें सर्वाधिक वर्णन उक्त पाँच प्रकार के पुद्गलों का ही होता है।

पुद्गल की पाँच प्रकार की वर्गणाओं में जो कार्माणवर्गणा है, वह आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों रूप भावकर्मों का निमित्त पाकर स्वयं कर्मरूप परिणमित हो जाती है। कार्माणवर्गणा के उस कर्मरूप परिणमन को **द्रव्यकर्म** कहते हैं। द्रव्यकर्म के उदय में जीव को भावकर्म होते हैं और भावकर्मों के होने पर आत्मा को द्रव्यकर्मों का संबंध होता है। इसप्रकार द्रव्यकर्म जहाँ एक ओर भावकर्मों के लिए निमित्त बनते हैं, वहीं दूसरी ओर नोकर्म (शरीर) के संयोग के कारण भी बनते हैं। संक्षेप में कहें तो मोह-राग-द्वेषादि भावकर्म तो जीव की पर्यायें हैं और द्रव्यकर्म व नोकर्म पुद्गल द्रव्य की ही पर्यायें हैं।

धर्मद्रव्य

स्वयं चलते हुए जीव और पुद्गलों को चलने में जो निमित्त हो, वही धर्मद्रव्य है। जिसप्रकार पानी स्वयं गमन न करता हुआ और पर को भी गमन न कराता हुआ, स्वयं चलती हुई मछलियों के चलने में उदासीन अविनाभावी सहायरूप (निमित्तरूप) कारण मात्र रूप से चलने में अनुग्रह करता है; उसीप्रकार धर्मद्रव्य भी स्वयं गमन न करता हुआ, और पर को गमन न कराता हुआ स्वयमेव गमन करते हुए जीव-पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्ररूप से गमन में अनुग्रह करता है अथवा जिसप्रकार सिद्ध भगवान, उदासीन होने पर भी, सिद्धगुणों के अनुराग रूप से परिणमित भव्यजीवों को सिद्धगति के सहचारी कारणभूत हैं, उसीप्रकार धर्म भी, उदासीन होने पर भी, अपने-अपने भावों से ही गतिरूप परिणमित जीव पुद्गलों को गति का सहकारी कारण है।

धर्मद्रव्य में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण का अत्यन्त अभाव है, अतः वह 'अमूर्त्त स्वभाववाला' है, और इसलिए 'अशब्द' है; समस्त लोकाकाश में व्याप्त होकर रहने से लोक व्यापक है; अयुतसिद्ध

(संयोगरहित) प्रदेशवाला होने से 'अखण्ड' है; स्वभाव से ही सर्वतः विस्तृत होने से 'विशाल' है; निश्चयनय से 'एकप्रदेशी' होने पर भी व्यवहारनय से 'असंख्यातप्रदेशी' है; अगुरुलघु गुणरूप से सदैव परिणमित होने से उत्पाद-व्ययवाला है तथापि स्वरूप से च्युत नहीं होता, अतः 'नित्य' है। गतिक्रियारूप से परिणमित होने में जीव-पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायमात्र होने से 'कारणभूत' है; स्वयंसिद्ध होने के कारण किसी अन्य से उत्पन्न नहीं हुआ है; इसलिए किसी अन्य कारण के कार्यरूप नहीं है।

गति निमित्तता धर्मद्रव्य का विशेष गुण है जो कि धर्मद्रव्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं है। अतः एक ही काल में गतिपरिणत समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक गमन का हेतु धर्मद्रव्य है। यहाँ धर्मद्रव्य का कारणत्व इतना ही है कि जहाँ धर्मद्रव्य होता है, वहीं जीव-पुद्गल आदि गमनादि क्रिया कर सकते हैं। अलोकाकाश में धर्मद्रव्य का अभाव होने के कारण सिद्ध भगवान लोक के ऊपर नहीं जाते। जिसप्रकार मछली स्वयं चलने में समर्थ होते हुए भी जल से बाहर नहीं जा सकती; उसीप्रकार जीव व पुद्गल स्वयं गतिक्रिया में समर्थ होते हुए भी धर्मद्रव्य की सीमा के बाहर नहीं जा सकते।

धर्मद्रव्य लोकाकाश प्रमाण ही है। अखण्ड आकाशद्रव्य में धर्माधर्म द्रव्य के कारण ही लोक और अलोक रूप दो विभाग हो गए हैं।

अधर्मद्रव्य

गमनपूर्वक स्वयं स्थिर हुए जीव और पुद्गलद्रव्यों को स्थिर रहने में जो निमित्त हो, वही अधर्मद्रव्य है। जिसप्रकार पृथ्वी स्वयं पहले से स्थितिरूप रहती हुई तथा पर को स्थिति न कराती हुई, स्वयमेव स्थितिरूप से परिणमित अश्वादिक को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्र की भाँति स्थिति में अनुग्रह करती है, उसीप्रकार अधर्मद्रव्य भी स्वयं पहले से ही स्थितिरूप से वर्तता हुआ और पर को स्थिति न कराता हुआ, स्वयमेव स्थिति रूप परिणमित होते हुए जीव-पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्र की भाँति स्थिति में अनुग्रह करता है।

धर्मद्रव्य के समान अधर्म द्रव्य भी विभक्त, अविभक्त और लोकप्रमाण है।

‘स्थितिकारणत्व’ अधर्मद्रव्य का विशेष गुण है, जो कि इसके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं है।

अधर्मद्रव्य के निमित्त से ही सिद्धभगवान लोक शिखर पर अनन्तकाल निश्चल ठहरते हैं। इसलिए अधर्म ही सर्वदा जीव व पुद्गल की स्थिति के उदासीन कर्ता हैं।

आकाश द्रव्य

जो जीवादि छहों द्रव्यों के अवकाश (रहने) में निमित्त है, वह आकाशद्रव्य है। आकाश विशुद्ध क्षेत्ररूप है। यह एक, सर्वव्यापक, अखण्ड और अमूर्त है। अखण्ड होने पर भी इसमें प्रदेशों रूप खण्डों की कल्पना की जाती है।

आकाशद्रव्य नित्य अवस्थित, अरूपी, अनन्तप्रदेशी, निष्क्रिय और अवगाहना का हेतु है। आकाश सप्रदेशी है और ऊपर-नीचे, तिरछेह्रसब जगह फैला हुआ है।

अवगाहना शक्ति के कारण ही लोक में समस्त द्रव्य समा जाते हैं, जैसेह एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है अथवा दूध से भरे हुए घड़े में चीनी समा जाती है; उसीप्रकार आकाशद्रव्य में अनन्त द्रव्य समा जाते हैं, उनके रहने में कोई बाधा नहीं आती।

आकाशद्रव्य के दो भेद हैं ह **लोकाकाश** और **अलोकाकाश**।

जितने स्थान में सभी द्रव्य रहते हैं वह **लोकाकाश** है। लोक के तीन भाग हैं ह ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक। इन्हीं को तीन लोक कहते हैं और यही लोकाकाश है। लोक के बाहर अनन्त **अलोकाकाश** है।

यह लोक अनादि-अनन्त है। इसे किसी ने बनाया नहीं है, इसका कोई नाश नहीं कर सकता, न ही कोई इसकी रक्षा करता है, न धारण करता है।

इस लोक में जो जीवादि पदार्थ हैं वे पृथक्-पृथक् अनादिनिधन हैं। उनकी अवस्था में परिवर्तन होता रहता है, इस अपेक्षा से ही उन्हें उत्पन्न

होनेवाला और विनाश होनेवाला कहते हैं; कोई अलग से इस जगत् का कर्ता, हर्ता, धर्ता नहीं है।

कालद्रव्य

वस्तु के प्रतिसमय होनेवाले स्वाभाविक परिणामन को काल कहते हैं। सब द्रव्यों के परिवर्तन में कालद्रव्य निमित्त है। काल के दो भेद हैं ह **निश्चयकाल** और **व्यवहारकाल**। निश्चयकाल पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श रहित, अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षणवाला सूक्ष्म द्रव्य है, जिसके निमित्त से सारे द्रव्य परिणामन कर रहे हैं। यदि वह न हो तो द्रव्यों का परिणामन भी न हो। निश्चयकाल व्यवहारकाल का आधारभूत है।

‘समय’ नाम की क्रमिक पर्याय व्यवहार काल है। व्यवहारकाल निश्चयकाल का पर्यायरूप होने पर भी जीव-पुद्गलों के परिणाम से ज्ञात होता है; इसलिए ‘जीव-पुद्गलों के परिणाम से उत्पन्न होने वाला’ कहलाता है और जीव पुद्गलों के परिणाम बहिरंग-निमित्तभूत द्रव्य के सद्भाव में उत्पन्न होने के कारण ‘द्रव्यकाल से उत्पन्न होनेवाले’ कहलाते हैं। व्यवहारकाल क्षणभंगी है; क्योंकि वह मात्र सूक्ष्म पर्याय जितना ही है। इसप्रकार निश्चयकाल द्रव्यरूप होने से नित्य है, व्यवहारकाल पर्यायरूप होने से अनित्य है।

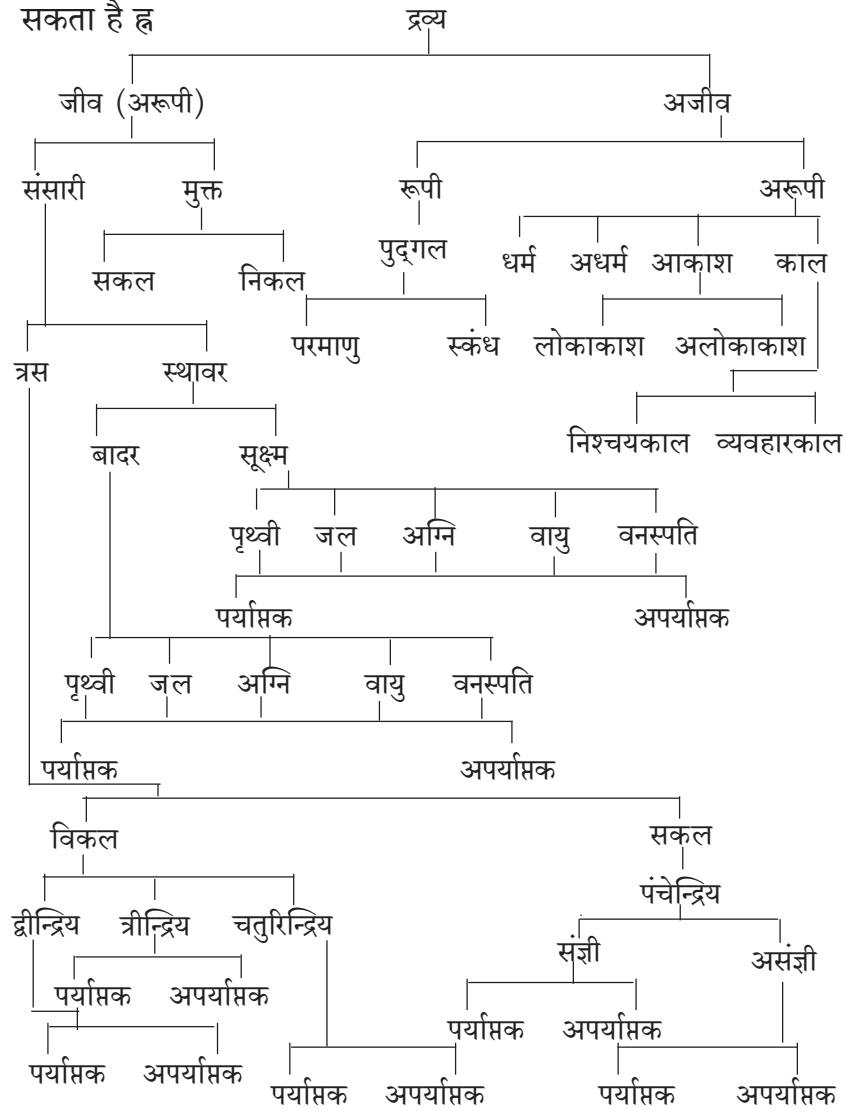
समय से छोटा काल संभव नहीं है; क्योंकि सूक्ष्मपर्याय भी एक समय से जल्दी नहीं बदलती।

लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की भाँति पृथक्-पृथक् कालाणु रहते हैं। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं, इसलिए कालाणु भी असंख्यात द्रव्य हैं। इन कालाणुओं के निमित्त से सभी द्रव्यों की अवस्था बदलती है। चूँकि कालाणु, एक-एक प्रदेश¹ वाला होता है अतः एकप्रदेशी होने के कारण उसकी काय संज्ञा नहीं है, इसलिए काल **अस्तिकाय** नहीं है।

1. काल के अणु एक-एक अलग रहते हैं, वे मिलकर स्कंध नहीं होते।

उक्त छहों द्रव्यों में जीव को छोड़कर पाँच द्रव्य अजीव हैं; अतः जीव-अजीवमय सारा विश्व¹ चिदचिदात्मक हैं।

द्रव्य के उक्त समस्त भेदों को निम्न चार्ट द्वारा भलिभाँति समझा जा सकता है ह



1. जैन मतानुसार छहों द्रव्यों के समूह को ही विश्व कहते हैं। विश्व का कभी नाश नहीं हो सकता है, क्योंकि द्रव्यों का कभी नाश नहीं होता है, मात्र पर्याय पलटती है।

जैनदर्शन में द्रव्यव्यवस्था सिद्धान्त का अंग है; अतः वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन के लिए द्रव्यव्यवस्था हैं व तत्त्वचर्चा अध्यात्म का अंग हैं; अतः आत्मकल्याण के लिए तत्त्वव्यवस्था है।

तत्त्व-व्यवस्था

तत्त्व माने वस्तु का सच्चा स्वरूप। जो वस्तु जैसी है, उसका जो भाव वही तत्त्व है अथवा सत्¹ ही तत्त्व है; इसलिए तत्त्व स्वभाव से ही सिद्ध है, अनादिनिधन है, स्वसहाय है, निर्विकल्प है अथवा वस्तु के असाधारणरूप स्वतत्त्व को तत्त्व कहते हैं अथवा प्रयोजनभूत वस्तु के स्वभाव को तत्त्व कहते हैं।

दुःख दूर करना और सुखी होना ही सच्चा प्रयोजन है और ऐसे तत्त्व, जिनकी सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान बिना हमारा दुःख दूर न हो सके और हम सुखी न हो सकें, उन्हें ही प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं। परमार्थ से एक शुद्धात्मा ही प्रयोजनभूत तत्त्व है।

भेद ह तत्त्व सात होते हैं ह जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

सामान्यरूप से तो जीव-अजीव दो ही तत्त्व नियम से धर्मी हैं। आस्रवादिक तो जीव-अजीव के ही विशेष धर्म हैं। इसप्रकार दो धर्मी और पाँच धर्म स्वरूप सात तत्त्व हैं।

सात तत्त्व जीव-अजीव में किसप्रकार गर्भित होते हैं ह इसे स्पष्ट करते हुए जैनागम में बताया गया है कि ह चैतन्य आस्रवादि तो जीव के अशुद्ध परिणाम हैं; अतः जीव के हैं और अचेतन कर्म पुद्गलों की पर्याय हैं, अतः वे अजीव के हैं। आस्रव-बंध, जीव और पुद्गल के संयोग परिणाम स्वरूप जो विभाव पर्याय हैं, उनसे उत्पन्न होते हैं तथा संवर, निर्जरा व मोक्ष ह ये तीन पदार्थ जीव व पुद्गल के संयोगरूप परिणाम के विनाश से उत्पन्न जो विवक्षित स्वभाव पर्याय है, उनसे उत्पन्न होते हैं; अतः मूलरूप से तो दो ही तत्त्व सिद्ध हुए, क्योंकि शेष पाँच तो जीव-अजीव की ही पर्यायें हैं।

1. सत् की चर्चा द्रव्यवर्णन में विस्तार से कर चुके हैं।

‘यदि मूलरूप से दो ही तत्त्व हैं तो इन्हें पृथक्-पृथक् रूप से क्यों कहा गया है?’ इसे स्पष्ट करते हुए जैनागम में कहा गया है कि ह

‘जीव-अजीव को जाने बिना अपने-पराये का भेदविज्ञान नहीं हो सकता? भेद-विज्ञान बिना मोक्ष नहीं हो सकता? अतः दोनों की जानकारी के लिए दोनों का कथन करना आवश्यक है। मोक्ष तो सब जीवों का प्रयोजन है, उसे पहिचाने बिना हितरूप माने बिना उसका उपाय नहीं कर सकते; अतः उसका कथन करना भी आवश्यक है। मोक्ष के प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं; अतः उनका जानना भी आवश्यक है।

मोक्ष संसारपूर्वक होता है। संसार के प्रधान कारण आस्रव-बंध हैं तथा आस्रव का अभाव संवर है और बंध का एकदेश अभाव निर्जरा है, इनका स्वभाव जाने बिना इनको छोड़ संवर-निर्जरा रूप प्रवृत्ति संभव नहीं? अतः आस्रव-बंध का कथन करना भी आवश्यक है।

संक्षेप में कहें तो संसार व मोक्ष के प्रधान हेतु, हेतुवाले और उनके फल दिखलाने के लिए तथा हेयोपादेय तत्त्वों की जानकारी के लिए सात तत्त्वों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है।

उक्त तत्त्वों में आकुलता उत्पन्न करनेवाले संसार के कारण आस्रव-बंध हेय तत्त्व हैं, अनन्त सुख के कारण मोक्ष उपादेय तत्त्व है, मोक्ष के कारण संवर-निर्जरा एकदेश उपादेय तत्त्व हैं, अन्य समस्त जीव-अजीव ज्ञेय तत्त्व हैं तथा आश्रय करने की अपेक्षा त्रिकाली ध्रुव शुद्ध जीव तत्त्व ही परम उपादेय है।

इसप्रकार जैनमतानुसार जीव को सुखी होने के लिए सात तत्त्वों का सही स्वरूप जानना आवश्यक है। उनके मतानुसार जो जीव सात तत्त्वों के सही स्वरूप को जानकर समस्त परपदार्थ और शुभाशुभ आस्रवादिक विकारीभाव तथा संवरादिक अविकारी भावों से भी पृथक् ज्ञानानन्दस्वभावी त्रिकाली-ध्रुव-आत्मतत्त्व पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करता है, वह कर्मसंयुक्त संसारावस्था से मुक्त हो सच्चा सुख प्राप्त करता है, जो कि प्रत्येक जीव का प्रयोजन है।

सात तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप क्या है? जीव उनके जानने में क्या-क्या और कौन-कौन सी भूलें करता है, उनका संक्षेप से पृथक्-पृथक् विवेचन अपेक्षित है।

1. जीव तत्त्व

ज्ञानदर्शन स्वभावी आत्मा को जीव तत्त्व कहते हैं। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख आदि अनन्त गुण होते हैं। सब गुणों में निरन्तर परिणमन हुआ करता है, जिसे पर्याय कहते हैं। ये पर्यायें दो प्रकार की होती हैं ह अविकारी (निर्मल) और विकारी। जैनदर्शन में जीव की उन विकारी व अविकारी पर्यायों को आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वों के रूप में पृथक्-पृथक् स्थान देकर जीव तत्त्व में विकारी-अविकारी पर्यायों से रहित दृष्टि के विषयभूत सामान्य जीवतत्त्व का कथन ही अभीष्ट है। पर्याय की दृष्टि से अवस्था की अपेक्षा आत्मा के तीन भेद किए जाते हैं ह

1. बहिरात्मा, 2. अंतरात्मा, 3. परमात्मा।

1. **बहिरात्मा** ह जिसे सात तत्त्वों का सही ज्ञान व श्रद्धान नहीं है, जिसे आत्मानुभूति प्राप्त नहीं हुई है तथा जो शरीर और आत्मा को एक मानता है या शरीर को ही आत्मा मानता है तथा जो अन्य पदार्थों व रागादिरूप आस्रवादि पदार्थों में अपनापन मानता है व उनका कर्ता बनता है, वह आत्मा ही बहिरात्मा है।

आत्मा को छोड़कर अन्य बाह्यपदार्थों में अपनापन मानने के कारण ही यह बहिरात्मा कहलाता है। अनादिकाल से ही यह आत्मा शरीर की उत्पत्ति में ही अपनी उत्पत्ति, शरीर के नाश में ही अपना नाश मानता आ रहा है। जबतक यह भूल न निकले तबतक जीव बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि रहता है।

2. **अंतरात्मा** ह जो आत्मा भेदविज्ञान के बल से, आत्मा को देहादिक और रागादिक से भिन्न ज्ञान-दर्शन स्वभावी जानता, मानता और अनुभव करता है; वह ज्ञाता-दृष्टा सम्यग्दृष्टि आत्मा ही अंतरात्मा कहा जाता है।

आत्मा में ही आत्मपन (अपनापन) मानने के कारण तथा आत्मा

के अतिरिक्त अन्य किसी में भी अपनापन की मान्यता छोड़ देने के कारण ही वह अंतरात्मा कहलाता है। अंतरात्मा तीन प्रकार के होते हैं ह

(ॐ) उत्तम अंतरात्मा, (ॐॐ) मध्यम अंतरात्मा, (ॐॐॐ) जघन्य अंतरात्मा।

अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित उत्कृष्ट शुद्धोपयोगी क्षीणकषाय मुनि (बारहवें गुणस्थानवर्ती) 'उत्तम अंतरात्मा' हैं। अवरित सम्यग्दृष्टि (चौथे गुणस्थानवर्ती) 'जघन्य अंतरात्मा' हैं। उक्त दोनों के मध्यदशावर्ती देशव्रती श्रावक और मुनिराज (पाँचवें से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती) 'मध्यम अंतरात्मा' हैं।

3. परमात्मा ह उक्त अंतरात्मा ही गृहस्थावस्था त्याग कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार कर, निज स्वभाव साधन द्वारा आत्म तल्लीनता की परम अवस्था में पूर्ण वीतरागी होकर सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेता है, तो परमात्मा बन जाता है। परमात्मा पूर्ण निराकुल होने से अनंतसुखी हैं।

परमात्मा दो प्रकार के होते हैं ह सकल परमात्मा और निकल परमात्मा, जिनकी चर्चा पूर्व में विस्तार से कर चुके हैं।

यह आत्मा बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मदशा में नित्य परिवर्तनशील, किन्तु सदा विद्यमान, देह से भिन्न एक चेतन तत्त्व है। इसमें जो परिवर्तनशील तत्त्व हैं; वे तो आस्रव-बंध, पुण्य-पाप, संवर-निर्जरा और मोक्ष तत्त्व हैं तथा जो तीनों अवस्थाओं में विद्यमान सामान्य ज्ञानादि स्थित तत्त्व हैं, वह जीव तत्त्व है। इसप्रकार यद्यपि यह आत्मा तत्त्वों में गया हुआ अनेक रूप दिखाई देता है; तथापि वह अपने चैतन्य स्वरूप को नहीं छोड़ता है। चैतन्यमयी इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना (श्रद्धा करना) ही नियम से सम्यग्दर्शन है। अतः दृष्टि की अपेक्षा से वह सामान्य जीव तत्त्व (आत्मा) ही उपादेय हैं। किन्तु प्रकट करने की दृष्टि से अंतरात्मा और परमात्म पद उपादेय हैं, संसारमार्गी होने से बहिरात्मपन सर्वथा हेय ही है।

परम उपादेय ज्ञान-दर्शन स्वभावी एक शुद्ध निजात्म तत्त्व में उपयोग को स्थिर करने से, उसमें लीन होने से सर्व विकारी भावों का अभाव होकर अनन्त आनन्दमय मोक्षदशा प्रकट होती है।

अजीवतत्त्व

ज्ञानदर्शन स्वभाव से रहित तथा आत्मा से भिन्न समस्त द्रव्य अजीव तत्त्व कहलाते हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अजीवतत्त्व हैं। अजीव द्रव्यों को सुख-दुःख का ज्ञान नहीं होता, वे न तो अहित से डरते हैं और न ही हितरूप कार्यों में उद्यमी होते हैं; क्योंकि वे चैतन्य से रहित हैं।

जिसमें जीव का संयोग नहीं है ऐसे अजीव पदार्थ, जैसे ह टेबिल, कुर्सी, कार, फोन आदि को तो अजीव सभी मान लेते हैं; किन्तु जीव के संयोग में जो शरीरादि-अजीव पदार्थ हैं, उन्हें प्रायः जीव ही मान लिया जाता है। मनुष्य, हाथी, शेर आदि को जीव ही कहा जाता है, जबकि मनुष्य, हाथी आदि असमानजातिपर्याय होने से जीव व पुद्गल (अजीव) का संयोगरूप हैं।

भेदविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर मनुष्यादि का शरीर स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाले पुद्गल से निर्मित होने से अजीव है और उस शरीर में विद्यमान ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा जीव है। किन्तु अनादिकाल से जीव अज्ञानवश देह को और जीव को एक मानता है, यही अज्ञान है तथा जीव और अजीव की भिन्नता जानना ही जीव-अजीव तत्त्व का सही ज्ञान है, इसे ही भेदविज्ञान भी कहते हैं; क्योंकि शरीरादि पर से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा को स्व मानना ही भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान स्व और पर के बीच किया जाता है, अतः इसे 'स्वपरभेदविज्ञान' भी कहा जाता है।

जैन विद्वानों¹ का स्पष्ट कहना है कि ह भेदविज्ञान में मूल बात स्व और पर को जानना मात्र नहीं है। स्व से भिन्न पर को जानना मात्र भी नहीं है; बल्कि पर से भिन्न स्व को जानना, मानना और अनुभवना है। पर को छोड़ने के लिए जानना है और स्व को पकड़ने के लिए; पर को मात्र जानना

है, हेयबुद्धि से जानना है, पर से भिन्न स्व की पहिचान के लिए जानना है तथा स्व को जानकर दृष्टि उस पर केन्द्रित करनी है, स्व में जमना है, रमना है। भेदविज्ञान में 'स्व' मुख्य होता है, 'पर' पूर्णतः गौण।

दृष्टि की अपेक्षा त्रिकाली ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुव चैतन्य निज तत्त्व ही स्व है। सब पुद्गलादि अचेतन पदार्थ, उनके गुण, उनकी पर्यायें तो पर हैं ही, साथ ही आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावरूप आस्रव-बंध, पुण्य-पाप तत्त्व भी 'पर' हैं; यहाँ तक कि संवर, निर्जरा और मोक्षरूप अविकारी पर्यायें भी 'पर' की ही कोटि में आती हैं; क्योंकि इन्हें जीव-तत्त्व में शामिल मान लेने पर संवरादि तत्त्व जुदे नहीं बनेंगे।

इसप्रकार जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि समस्त पर जीवद्रव्य, अजीवद्रव्य, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष पर्याय तत्त्वों से दृष्टि हटाकर इनसे भिन्न निजात्म ध्रुव तत्त्व में दृष्टि और ज्ञान को केन्द्रित करना ही 'स्वपर भेद विज्ञान' है।

अतः स्पष्ट है कि शरीरादि अजीव से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहिचान ही भेदविज्ञान है। शरीर से भिन्न आत्मा की प्रतीति, अनुभूति ही जीव-अजीव संबंधी सच्चा ज्ञान है। इसे पाना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा दुःखों से मुक्ति संभव नहीं।

3. आस्रव तत्त्व

कर्मों का आना मात्र आस्रव है। शरीर, वचन और मन के अवलंबन से आत्मा के प्रदेशों का कंपन होना योग है और वही आस्रव है।¹ विशेष इतना कि यहाँ योग गुण की कंपनरूप अशुद्धपर्याय को योग कहा है।

आत्मा के अनंत गुणों में एक योग गुण है, जो कि अनुजीवी गुण है। इस गुण की पर्याय दो प्रकार की होती है ह 1. परिस्पंदरूप अर्थात् आत्मप्रदेशों के कंपनरूप, 2. निष्कंपरूप अर्थात् आत्मप्रदेशों की निश्चलता रूप।

प्रथम प्रकार योग गुण की अशुद्ध पर्याय है और द्वितीय शुद्ध पर्याय है। योग गुण की यह अशुद्धपर्याय नवीन कर्म के आस्रव का निमित्त कारण है।

1. तत्त्वार्थसूत्र, सूत्र-1-2

आस्रव के भेद -

आस्रव दो प्रकार का होता है ह (७) भावास्रव, (७७) द्रव्यास्रव।

भावास्रव को जीवास्रव और द्रव्यास्रव को अजीवास्रव भी कहते हैं। पुण्यास्रव व पापास्रव के रूप में भी आस्रव के दो भेद किये जाते हैं।

योग के निमित्त से जीव में जो कुछ भी प्रतिक्षण शुभ या अशुभ प्रवृत्ति होती है, उसे भावास्रव कहते हैं अथवा जिन मोह-राग-द्वेष भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, कर्मरूप परिणमित होते हैं; उन मोह-राग-द्वेष भावों को तो भावास्रव या जीवास्रव कहते हैं। उसके निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का स्वयं आना द्रव्यास्रव या अजीवास्रव है। जीव के शुभ परिणाम पुण्य हैं और अशुभ परिणाम पाप हैं।

प्रशस्त राग¹ अनुकम्पापरिणति² और चित्त की अकलुषता³ ह यह तीन शुभभाव भाव पुण्यास्रव हैं और वे शुभभाव जिसका निमित्त हैं ऐसे जो योग द्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के शुभकर्म परिणाम द्रव्य पुण्यास्रव हैं।

अति प्रमाद से भरे हुए आचरण वाली परिणति, कलुषतारूप परिणति, विषय लोलुपरूप परिणति, पर को दुःख देनेरूप परिणति और पर के अपवाद रूप परिणति ह यह पाँच अशुभभाव भावपापास्रव हैं और वे अशुभभाव जिनका निमित्त हैं ह ऐसे योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलों के अशुभकर्मरूप परिणाम द्रव्यपापास्रव हैं।

इसके अतिरिक्त तीव्र मोह के विपाक से होनेवाली आहार-भय-मैथुन-परिग्रह-रूप चार संज्ञाएँ, तीव्रकषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप कृष्ण-नील-कापोत नाम की तीन लेश्याएँ; राग-द्वेष के उदय में उत्कर्ष के कारण वर्तता हुआ इन्द्रियाधीनपना; राग-द्वेष की अधिकता के कारण प्रिय

1. अर्हन्त, सिद्ध, साधुओं के प्रति भक्ति, धर्म में यथार्थतया चेष्टा और गुरुओं का अनुगमन-प्रशस्त राग कहलाता है।
2. भूख-प्यास आदि दुःखों से पीड़ित व्यक्ति को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतिकार करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना अज्ञानी की अनुकम्पा है। तथा स्वयं निचले गुणस्थानों में रहते हुए जब संसार सागर में डूबे हुए जगत् को देखने से मन में किंचित् खेद होना ज्ञानी की अनुकम्पा है।
3. क्रोधादि कषाय के उदय से चित्त का क्षोभ कलुषता है।

के संयोग की, अप्रिय के वियोग की, वेदना से छुटकारे की तथा निदान इच्छारूप आर्त्तध्यान; कषाय द्वारा क्रूर परिणाम के कारण होनेवाला हिंसानन्द, असत्यानन्द, स्तेयानन्द एवं विषय संरक्षणानन्दरूप रौद्रध्यान; निष्प्रयोजन शुभकर्म से अन्यत्र अशुभ कार्य में लगा हुआ ज्ञान और सामान्यरूप से दर्शनचारित्रमोहनीय के उदय से उत्पन्न अविवेकरूप मोह भी भावपापास्रवरूप है जो कि द्रव्यपापास्रव में निमित्तभूत हैं।

संक्षेप में कहें तो शुभराग से पुण्य का आस्रव होता है तथा अशुभ राग-द्वेष और मोह से पाप का आस्रव होता है; अतः शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार का राग अर्थात् पुण्य और पाप दोनों ही छोड़ने योग्य हैं; क्योंकि वे आस्रवतत्त्व हैं।

भावास्रव व द्रव्यास्रव के अतिरिक्त आस्रव के अन्य पाँच भेद हैं ह 1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. प्रमाद 4. कषाय और 5. योग। ये पाँचों भाव भी भाव व द्रव्य के रूप में दो-दो प्रकार के होते हैं। इनमें भावमिथ्यात्वादि आत्मा के विकारी परिणाम हैं और द्रव्यमिथ्यात्वादि कार्माणवर्गणा के कर्मरूप परिणामन तथा नोकर्मरूप शरीरादि की क्रियारूप होते हैं।

1. मिथ्यात्व ह

प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं।

जैनमतानुसार मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है। समस्त दुःखों का मूल कारण है। यह दो प्रकार का होता है ह (क) अगृहीत मिथ्यात्व (ख) गृहीत मिथ्यात्व।

(i) अगृहीत मिथ्यात्व ह जो पर उपदेश बिना ही मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का अश्रद्धानरूप भाव होता है, उसे अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। यह किसी के सिखाने से नहीं हुआ है, इसलिए अगृहीत है। अगृहीत मिथ्यात्व को 'निसर्गज मिथ्यात्व' भी कहते हैं। यह सर्व संसारी जीवों में अनादि से ही पाया जाता है।

(ii) गृहीत मिथ्यात्व ह संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय में दूसरों का उपदेश सुनकर जीवादि तत्त्वों के अस्तित्व में अश्रद्धा होती है, उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते

हैं। जिसके गृहीत मिथ्यात्व है, उसको अगृहीत मिथ्यात्व होता ही है। परोपदेश के निमित्त से होनेवाला गृहीत मिथ्यात्व पाँच प्रकार का है ह

(क) एकान्त मिथ्यात्व (ख) विपरीत मिथ्यात्व (ग) संशय मिथ्यात्व (घ) वैनयिक मिथ्यात्व (ङ) अज्ञानिक मिथ्यात्व।

(क) एकान्त मिथ्यात्व ह आत्मा, परमाणु आदि सर्व तत्त्वों का स्वरूप अनेकान्तमय (अनेक धर्मवाला) होने पर भी उसे सर्वथा एक ही धर्मवाला मानना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे ह जीव को सर्वथा नित्य या क्षणिक ही मानना; गुण-गुणी में सर्वथा भेद या अभेद मानना।

(ख) विपरीत मिथ्यात्व ह आत्मा तथा देव-गुरु-धर्म के स्वरूप को अन्यथा मानना विपरीत मिथ्यात्व है जैसे ह शरीर को ही आत्मा मानना।

(ग) संशय मिथ्यात्व ह धर्म का स्वरूप 'ऐसा है या ऐसा है' ऐसे परस्पर विरुद्ध दो रूप का श्रद्धान संशय मिथ्यात्व है। जैसे ह शुद्धात्मा के आलंबन से मोक्ष होगा या पूजा-पाठ आदि से।

(घ) वैनयिक मिथ्यात्व ह (i) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-संयम-ध्यानादि के बिना मात्र गुरु आदि की विनय से ही मुक्ति होगी ह ऐसा मानना विनय मिथ्यात्व है। (ii) सर्वदेव, सर्वशास्त्र, समस्त मत तथा समस्त भेष धारण करने वालों को समान मानकर उन सभी का विनय करना भी विनय मिथ्यात्व है। (iii) विनय मात्र से ही अपना कल्याण हो जाएगा ऐसा मानना विनय मिथ्यात्व है। (iv) संसार में जितने देव पूजे जाते हैं और जितने भी दर्शन या शास्त्र प्रचलित हैं वे सब सुखदाई हैं, उनमें भेद नहीं है, उन सबसे मुक्ति हो सकती है ह ऐसी मान्यता भी विनय मिथ्यात्व है।

गुण ग्रहण की अपेक्षा से अनेक धर्म में प्रवृत्ति करना, सत्-असत् का विवेक किए बिना सच्चे तथा खोटे सभी धर्मों को समान रूप से जानकर उनके सेवन करने में अज्ञान की मुख्यता नहीं है; किन्तु विनय के अतिरेक की मुख्यता है; इसलिए इसे विनय मिथ्यात्व कहते हैं।

(ङ) अज्ञानिक मिथ्यात्व ह जहाँ हित अहित का कुछ भी विवेक न हो या कुछ भी परीक्षा किए बिना धर्म की श्रद्धा करना अज्ञान मिथ्यात्व है। जैसे ह पशुवध रूप हिंसा में धर्म मानना।

2. अविरति

निर्विकार स्वसंवेदन से विपरीत अव्रत रूप विकारी परिणाम अविरति है तथा हिंसादि पाँच पापों में तथा पंचेन्द्रिय व मन के विषयों में प्रवृत्ति करना अविरति है। व्रत (विरति) का उल्टा अविरति है। अविरति को असंयम भी कहते हैं। जिसे मिथ्यात्व होता है, उसे अविरति होती ही है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद देशचारित्र के बल के द्वारा एकदेशविरति होती है, उसे अणुव्रत कहते हैं। क्रोधादि कषायों के कारण हिंसादि अविरति रूप कार्य होता है; अतः कषाय कारण हैं व अविरति कार्य हैं। अविरति पाँच प्रकार की है ह

(i) हिंसा (ii) झूठ (iii) चोरी (iv) अब्रह्म (v) परिग्रह।

(i) हिंसा ह प्रमाद के योग से जीवों के भावप्राणों व द्रव्यप्राणों का हरण हिंसा है।¹ यह हिंसा दो प्रकार की होती है ह भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। इन दोनों के स्व व पर की दृष्टि से दो-दो भेद होते हैं। इसप्रकार हिंसा के चार भेद हुए। (क) स्व-भावप्राणहिंसा (ख) स्व-द्रव्यप्राणहिंसा (ग) पर-भावप्राणहिंसा (घ) पर-द्रव्यप्राणहिंसा।

(क) स्व-भावप्राणहिंसा ह आत्मा में विकारी भाव राग-द्वेषादि की उत्पत्ति स्व-भावप्राणहिंसा है; क्योंकि इससे स्वात्मा के शुद्धोपयोगरूप भावप्राणों का घात होता है।

(ख) स्व-द्रव्यप्राणहिंसा ह प्रमाद के कारण अपने अवयवों को कष्ट देना, आत्महत्या आदि करना स्व-द्रव्यप्राणहिंसा है।

(ग) पर-भावप्राणहिंसा ह अन्य प्राणियों के अंतरंग को व्यंग्य, परिहास, कुवचनादि द्वारा पीड़ित करना पर-भावप्राणहिंसा है।

(घ) पर-द्रव्यप्राणहिंसा ह प्रमाद के वशीभूत होकर अन्य के प्राणों का घात करना, अंगपीड़ा आदि देना पर-द्रव्यप्राणहिंसा है।

पर जीव के घातरूप हिंसा दो प्रकार की होती है ह
परिणमन रूप, अविरमण रूप।

परिणमन रूप ह जब जीव परजीव के घात में मन से, वचन से या काय

1. 'प्रमत्तयोगप्राणव्ययरोपणं हिंसा' तत्त्वार्थसूत्र : अध्याय 7, सूत्र-13

से प्रवर्तन करे तब उसे परिणमनरूप हिंसा कहते हैं।

अविरमणरूप ह जब कोई जीव यद्यपि पर जीव के घात में प्रवर्तन न भी कर रहा हो, तथापि यदि उसने हिंसा का त्याग न किया हो, तो उसे अविरमणरूप हिंसा कहते हैं।

जैनदर्शन में असत्यादि समस्त पाप तो हिंसा में शामिल हो ही जाते हैं, किन्तु जैनधर्म की सबसे बड़ी विशेषता है कि उन्होंने रागभाव (प्रेम भाव) को भी हिंसा ही कहा है। चूँकि रागभाव हिंसा है; अतः असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह भी रागादिभावरूप होने से हिंसा ही हैं।

जैन मतानुसार हिंसा-अहिंसा का संबंध सीधा आत्मपरिणामों से है। ये दोनों ही आत्मा के विकारी-अविकारी परिणाम हैं। हिंसा-अहिंसा न तो जड़ में होती हैं और न ही जड़ वस्तु के कारण ही। उनकी उत्पत्ति स्थान व कारण दोनों ही चेतन हैं। अतः हिंसा-अहिंसा का संबंध परजीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख से न होकर आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष-मोह परिणामों से हैं। पर के कारण भी आत्मा में हिंसा नहीं होती। जैनमत में हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि भावों को हिंसा का कारण नहीं, वरन् उन्हें हिंसा की पर्याय ही कहा है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनमत में हिंसा-अहिंसा की परिभाषा को बहुत व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(ii) झूठ - प्रमाद के योग से अन्यथारूप वचन कहना झूठ (असत्य) है।¹

जैनदर्शन की असत्य की उक्त परिभाषा में 'प्रमाद'² शब्द महत्वपूर्ण है। अन्यथा वचन को तो सभी असत्य मानते हैं। जो जैसा है, उसे वैसा न कहना ही अन्यथा वचन है, जैसे ह रस्सी को सर्प कहना; पर प्रमाद शब्द का प्रयोग असत्य की परिभाषा में एक नया ही मोड़ दे देता है। यही शब्द पाँचों पापों की परिभाषा की रीढ़ है। यदि असत्यादि की परिभाषा से यह शब्द निकाल दिया जाए तो फिर यह लक्षण आत्मा रहित देह के समान ही रह जाएगा।

1. तत्त्वार्थसूत्र : अध्याय 7; सूत्र-14

2. कषाय सहित अवस्था को प्रमाद कहते हैं।

(iii) चोरी ह्व प्रमाद के योग से बिना दिए किसी भी वस्तु को ग्रहण करना चोरी है।¹ यह दो प्रकार की होती है ह्व द्रव्यचोरी, भावचोरी।

किसी की पड़ी हुई, भूली हुई, रखी हुई वस्तु को बिना उसकी आज्ञा लिए उठा लेना या उठाकर किसी दूसरे को दे देना द्रव्यचोरी है।

परवस्तु का ग्रहण न भी हो परन्तु ग्रहण करने का भाव हो तो वह भाव भावचोरी है।

(iv) अब्रह्म ह्व प्रमाद व वेद के रागरूप योग से स्त्री-पुरुषों के सहवास को अब्रह्म कहते हैं।²

(v) परिग्रह ह्व मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं।³ मोह के उदय से ममत्व को प्राप्त परिणाम मूर्च्छा है। जैनमतानुसार जगत में जितनी भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं, उन सबके मूल में परिग्रह है। परिग्रह दो प्रकार का होता है ह्व (i) अंतरंग व (ii) बहिरंग।

(क) अंतरंग परिग्रह ह्व अंतरंग परिग्रह 14 प्रकार का है ह्व मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद का राग, पुरुषवेद का राग, नपुसंकवेद का राग।

(ख) बहिरंग परिग्रह ह्व बहिरंग परिग्रह दस प्रकार के हैं ह्व क्षेत्र, मकान, चाँदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, कपड़े और बर्तन।

इनमें अंतरंग परिग्रह तो मोहरूप है ही और बहिरंग परिग्रह भी मोह के कारण व मोह के सद्भाव में होते हैं; अतः प्रकारान्तर से परिग्रह भी हिंसा ही है; तथा मोह-राग-द्वेषमय होने से परिग्रह सबसे बड़ा पाप भी है।

3. प्रमाद ह्व

कषाय सहित अवस्था को प्रमाद कहते हैं। कषायों से पृथक् प्रमाद नहीं पाया जाता; अतः कषायों में प्रमाद का अर्न्तभाव कर लिया जाता है। प्रमाद अंतरंग में तो शुद्धात्मानुभव से डिगानेरूप है व बाह्य में मूलगुणों⁴ और उत्तर गुणों में मैल उत्पन्न करने वाला है।

1. तत्त्वार्थसूत्र; अध्याय-7, सूत्र-15, 2.वही; सूत्र-16, 3.वही; सूत्र-17
4.अनशनादि तप उत्तरगुण हैं ह्व उनके कारण होने में ब्रतों को मूलगुण कहते हैं।

जिसके मिथ्यात्व और अविरति हो उसके प्रमाद तो होता ही है, परन्तु मिथ्यात्व और अविरति दूर होने के बाद प्रमाद तत्क्षण दूर हो जाए ह्व ऐसा नियम नहीं है।

वैसे तो प्रमाद के 37,500 भेद हैं, पर मोटे तौर पर वह 15 प्रकार का है ह्व

(i) चार विकथा, (ii) चार कषाय, (iii) पाँच इंद्रिय, (iv) निद्रा और (iv) प्रणय।

(i) विकथा ह्व विकथा चार प्रकार की है ह्व स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, और भक्तकथा।

काम में अत्यधिक वृद्धि के कारण कामीजनों द्वारा की जाने वाली स्त्रियों की संयोग-वियोग जनित विविध वचन रचना स्त्रीकथा है।

राजाओं का युद्ध कथन राजकथा है।

चोरों के चौरप्रयोग कथन 'चोरकथा' है।

भोजन में अत्यन्त आसक्ति के कारण अनेक प्रकार से खाने-पीने की प्रशंसा 'भक्तकथा' (भोजनकथा) है।

(ii) कषाय ह्व मोह के उदय से मिथ्यात्व क्रोधादिक भाव होते हैं ह्व उन सबका सामान्यतः कषाय नाम है। निजपरमात्मस्वरूप में क्षोभ उत्पन्न करने वाले बाह्य विषयों में पर के प्रति क्रूरता आदि आवेगरूप क्रोधादि भाव कषाय हैं। मोटे तौर पर लोक में चार कषायें प्रसिद्ध हैं ह्व क्रोध, मान, माया, लोभ।

क्रोध ह्व गुस्सा को क्रोध कहते हैं। मुख्यतया जब हम ऐसा मानते हैं कि इसने मेरा बुरा किया तो आत्मा में क्रोध पैदा होता है।

मान ह्व घमण्ड को मान कहते हैं। जब हम यह मान लेते हैं कि दुनियाँ की वस्तुएँ मेरी हैं, मैं इनका स्वामी हूँ, तो मान हो जाता है।

माया ह्व छल-कपट को माया कहते हैं। मायाचारी के मन कुछ और होता है, वह कहता कुछ और है और करता उससे भी अलग है। मायाचारी मर कर पशु होते हैं। छल कपट लोभी जीवों को बहुत होता है।

लोभ ह्व किसी वस्तु को देखकर प्राप्ति की इच्छा होना ही लोभ है। लोभ खतरनाक कषाय है। इसे तो पाप का बाप कहा जाता है।

ये कषायें प्रत्येक संसारी के मुख्य-गौणरूप से पाई जाती है। विशेष इतना कि प्रथम समय में नरकगति में क्रोध का उदय, मनुष्यगति में मान का उदय, तिर्यचगति में माया का उदय और देवगति में लोभ का उदय ही नियम से होता है।

कोई कषाय एक जीव में अंतर्मुहूर्त से अधिक काल उदय में नहीं रह सकती है।

(iii) इन्द्रियाँ ह्व संसारी आत्मा को ज्ञान में निमित्त शरीर के चिह्न विशेष ही इन्द्रियाँ हैं। वे पाँच होती हैं ह्व स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। ये पाँचों भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय के भेद से 2-2 प्रकार की हैं।

जीव के ज्ञान का क्षयोपशम व उपयोग भावेन्द्रिय है, जो साक्षात् जानने का साधन है।

ऊपर दिखाई देने वाली बाह्य इन्द्रियाँ द्रव्येन्द्रियाँ हैं।

जैनदर्शन में मन को भी ईषत् इन्द्रिय स्वीकार किया गया है। इन इन्द्रियों में चक्षु और मन अपने विषय को स्पर्श किए बिना ही जानती हैं, इसलिए वे अप्राप्यकारी हैं, शेष इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं।

जिससे छू जाने पर हल्का-भारी, रूखा-चिकना, कड़ा-नरम और ठंडा-गरम का ज्ञान होता है, उसे स्पर्शन-इन्द्रिय कहते हैं। स्पर्शन तो सारा शरीर है।

जिससे खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला और चरपरा स्वाद जाना जाता है, उस जीव को ही रसना इन्द्रिय कहते हैं।

सुगन्ध और दुर्गन्ध जानने में निमित्त रूप नाक को ही घ्राण इन्द्रिय कहते हैं।

रंगों के ज्ञान में निमित्त रूप आँख को ही चक्षु इन्द्रिय कहते हैं।

आवाज के ज्ञान में निमित्त रूप कान को ही कर्ण इन्द्रिय कहते हैं।

उक्त इन्द्रियाँ मात्र पुद्गल के ज्ञान में ही निमित्त हैं, आत्मज्ञान में नहीं।

(iv) निद्रा ह्व निद्रा पाँच प्रकार की है ह्व निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि।

मद, खेद और परिश्रमजन्य थकावट को दूर करने के लिए नींद लेना निद्रा है। निद्राप्रकृति के तीव्र उदय से जीव अल्पकाल सोता है, उठाये जाने पर जल्दी उठ बैठता है और अल्प शब्द के द्वारा भी सचेत हो जाता है।

निद्रा की उत्तरोत्तर पुनः पुनः प्रवृत्ति होना निद्रानिद्रा है। निद्रा-निद्रा प्रकृति के तीव्र उदय से जीव गहरी नींद सोता है, दूसरों के द्वारा उठाए जाने पर भी नहीं उठता है। तथा चाहते हुए भी आँखें खोलने में समर्थ नहीं होता है।

मद, शोक, श्रम आदि के कारण उत्पन्न हुई तथा बैठे हुए प्राणी के भी नेत्र-गात्र की विक्रिया की सूचक क्रिया जो आत्मा को चलायमान करती है, वह प्रचला है। प्रचला प्रकृति के तीव्र उदय से जीव किंचित् नेत्र खोलकर सोता है। बार-बार सोता व जागता रहता है, सोता हुआ भी कुछ जानता रहता है व सिर थोड़ा-थोड़ा हिलता रहता है।

प्रचला की पुनः पुनः प्रवृत्ति होना प्रचला-प्रचला है। इसके तीव्र उदय से बैठा हुआ भी सो जाता है, मुख से लार बहती है और हाथ-पैर भी चलते हैं।

जिसके निमित्त से स्वप्न में वीर्य विशेष का आर्विभाव होता है, आत्मा रौद्र बहुलकर्म करता है वह स्त्यानगृद्धि है। इसके तीव्र उदय से उठाया गया भी जीव पुनः सो जाता है, सोते हुए कुछ भी क्रिया करता रहता है, बड़बड़ाता है, दांतों को कड़कड़ाता है, बोलता है; पर उसे कुछ भी चेत नहीं रहता है।

(v) प्रणय ह्व बाह्यपदार्थों में ममत्वरूप भाव प्रणय (स्नेह) है।

4. कषाय

जो आत्मा को कसे अर्थात् दुःख दे उसे कषाय कहते हैं। आत्मा के भीतरी कलुष परिणाम ही कषाय हैं। आत्मा में उत्पन्न होने वाले विकार राग-द्वेष ही आत्मा के कलुष परिणाम हैं। कषायों से संसार की प्राप्ति होती है। मिथ्यात्व सबसे बड़ी कषाय है। आत्मा के स्वरूप का घात करने के कारण कषाय ही हिंसा है।

मुख्यतया जब मिथ्यात्व के कारण परपदार्थ इष्ट और अनिष्ट भासित होते हैं तब कषाय उत्पन्न होती है।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जब परपदार्थ इष्ट और अनिष्ट भासित नहीं होते तब मुख्यतया कषाय भी उत्पन्न नहीं होती।

तीव्र कषाय के उदय से मूल शरीर को न छोड़कर परस्पर में एक-दूसरे का घात करने के लिए आत्मप्रदेशों के बाहर निकलने को **कषाय-समुद्घात** कहते हैं।

जैनदर्शन में मोटे तौर पर कषाय के दो भेद किए गए हैं ह

(क) नोकषाय (ख) कषाय

(क) नोकषाय ह नोकषाय अर्थात् किंचित् कषाय। किंचित् कषाय को अकषाय भी कहते हैं। कषायों की अपेक्षा नोकषाय में स्थिति, अनुभाग और उदय की अपेक्षा अल्पता पाई जाती है। नोकषाय के नौ भेद हैं ह हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसंकवेद।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनमत में हंसना भी एक कषाय है, आत्मा का विकारी परिणाम है; अतः **जैनप्रतिमाएँ भी हंसमुख नहीं, वीतरागी होती हैं।**

(ख) कषाय ह आसक्ति की अपेक्षा कषाय के 4 भेद हैं ह अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन।

उक्त भेदों में कषायों की तीव्रता-मंदता से कोई संबंध नहीं है, अपितु ये भेद आसक्ति की तीव्रता-मंदता दर्शाते हैं। हो सकता है कि किसी व्यक्ति में क्रोधादि की मंदता हो और आसक्ति की तीव्रता अथवा क्रोधादि की तीव्रता है और आसक्ति की मंदता। चूँकि आसक्ति क्रोधादि द्वारा ही व्यक्त होती है; इसलिए उक्त चारों में क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से चार-चार भेद होकर कुल मिलाकर 16 भेद कषाय के हो जाते हैं।

अनंतानुबंधी कषाय ह अनंतानुबंधी कषाय चौकड़ी (क्रोध, मान, माया, लोभ) आत्मा के सम्यक्त्व परिणाम को घातती है, अनन्त संसार

का बंधन कराने वाली है, मिथ्यात्व के साथ रहती है तथा पत्थर पर उकेरी गई रेखा के समान होती है।

अप्रत्याख्यानानावरण कषाय ह अप्रत्याख्यानानावरण कषाय चौकड़ी मिट्टी की रेखा के समान है। यह श्रावकों के अणुव्रतरूप परिणामों को घातती है।

प्रत्याख्यानानावरण कषाय ह प्रत्याख्यानानावरण कषाय चौकड़ी धूलि की रेखा के समान होती है तथा जीवों के सकलचारित्ररूप महाव्रत के परिणामों को घातती है।

संज्वलन कषाय ह संज्वलन कषाय चौकड़ी पूर्ण चारित्र में किंचित् दोष उत्पन्न करने वाली, जल की रेखा के समान है। इसके उदय से यथाख्यात चारित्र नहीं हो पाता है।

आसक्ति की तीव्रता-मंदता को जैनदर्शन में उक्त अनंतानुबंधी आदि कषायों द्वारा बताया गया है तथा क्रोधादि की तीव्रता-मंदता को लेश्या द्वारा बतलाया गया है।

लेश्या ह कषायानुविद्ध योग प्रकृति लेश्या है अथवा जो आत्मा व कर्म का संबंध कराती है, उसे लेश्या कहते हैं।

कषाय का उदय छह प्रकार का होता है ह तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। इन छह प्रकार के उदय से उत्पन्न हुई परिपाटी क्रम से लेश्या भी छह हो जाती है ह (i) कृष्ण लेश्या (ii) नील लेश्या (iii) कापोत लेश्या (iv) पीत लेश्या (v) पद्म लेश्या और (vi) शुक्ल लेश्या।

आगम में कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल इन छह रंगों द्वारा ही उक्त छह लेश्याओं का निर्देश दिया गया है। इनमें से प्रथम तीन अशुभ व अन्तिम तीन शुभ लेश्याएँ हैं।

(i) कृष्ण लेश्या ह कृष्ण लेश्या वाला जीव दया धर्म से रहित, तीव्र क्रोध करने वाला, वैर को न छोड़ने वाला, प्रचण्ड कलह करने वाला होता है। लड़ना ही उसका स्वभाव होता है। वह किसी के वश में नहीं होता है। पंचेन्द्रिय के विषयों में लम्पट, मानी, मायावी, आलसी और

भीरू होता है। कलाचातुर्य से रहित वह वर्तमान कार्य भी विवेक रहित होकर करता है।

(ii) **नील लेश्या** ह्व नील लेश्या वाला जीव विवेक बुद्धि से रहित मतिहीन होता है। विषयों में आसक्त, प्रचुर माया में संलग्न वह धन-धान्य के संग्रहादि में तीव्र लालसा वाला होता है। वह आलसी, कायर और बहुत निद्रालु होता है। परवंचन में अति दक्ष वह दूसरों को ठगने में तत्पर रहता है।

(iii) **कापोत लेश्या** ह्व कापोत लेश्या वाला जीव दूसरों के ऊपर रोष करता है, दूसरों की निन्दा करता है; अपनी प्रशंसा करता है, दूसरों से ईर्ष्या करता है, पर का विश्वास नहीं करता, पर का पराभव करता है, शोक बहुल होता है, रण में मरण का इच्छुक भी होता है, अपनी हानि-वृद्धि को नहीं जानता है ह्व कर्तव्य-अकर्तव्य को भी कुछ नहीं गिनता तथा स्तुति या प्रशंसा किए जाने पर बहुत धनादिक भी दे देता है।

(iv) **पीत लेश्या** ह्व पीत लेश्या वाला जीव अपने कर्तव्य-अकर्तव्य और सेव्य-असेव्य को जानता है, सबमें समदर्शी होता है। दया-दान में रत, मृदुस्वभावी वह ज्ञानी दृढ़ता, मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, स्वकार्यपटुता आदि गुणों से युक्त होता है।

(v) **पद्म लेश्या** ह्व पद्म लेश्या वाला जीव भद्र, त्यागी, सच्चा व उत्तम काम करने वाला होता है। साधुजनों के गुणों के पूजन में रत वह विद्वान दूसरों द्वारा बहुत अपराध या हानि करने पर भी क्षमा करने वाला होता है।

(vi) **शुक्ल लेश्या** ह्व शुक्ल लेश्या वाला जीव पापकार्यों से उदासीन रहता है, श्रेयमार्ग में रुचि रखता है, पक्षपात नहीं करता है, सबमें समान व्यवहार करता है। शत्रु के दोषों पर भी दृष्टि न देता हुआ वह पर में राग-द्वेष, वैर-स्नेह भाव न रखकर वीतराग होकर रहता है।

उक्त छहों लेश्या भाव व द्रव्य के भेद से दो-दो प्रकार की होती है।

भावलेश्या ह्व कषाय से अनुरंजित मन, वचन काय की प्रवृत्ति को 'भावलेश्या' कहते हैं। मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षय से उत्पन्न हुआ जीव का स्पन्द 'भावलेश्या' है। भावलेश्या जीवों के परिणामों के अनुसार बराबर बदलती रहती है।

वैमानिक सौधर्मादि देवों के भाव व द्रव्य लेश्याएँ समान होती हैं अन्य में नियम नहीं है। नारकियों में छहों भावलेश्याएँ होती हैं और वे अंतर्मुहूर्त में बदलती रहती हैं।

द्रव्यलेश्या ह्व वर्ण नामकर्म के उदय से उत्पन्न शरीर के रंग (वर्ण) को द्रव्यलेश्या कहते हैं। देव व नारकियों में द्रव्य भाव लेश्या समान होती है; किन्तु अन्य जीवों में इनकी समानता का नियम नहीं है। द्रव्य लेश्या आयुपर्यन्त एक ही रहती है।

नरकगति में द्रव्य से कृष्ण आदि तीन द्रव्य लेश्या ही होती है। अपर्याप्त अवस्था में शरीर संबंधी शुक्ल व कापोत दो ही लेश्याएँ होती हैं। जब जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करते समय जबतक पर्याप्तियों को पूर्ण करता है, तबतक छह वर्ण वाले परमाणुओं के पुंज से शरीर की उत्पत्ति होती है, उस शरीर को कापोत लेश्या होती है तथा विग्रहगति में सब जीवों के शरीर की शुक्ल लेश्या ही होती है।

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषीदेवों के द्रव्य की अपेक्षा छहों लेश्या होती हैं और भवनत्रिक से ऊपर वालों के पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है।

आहारक शरीर की शुक्ल लेश्या होती है।

द्रव्य की अपेक्षा सयोग केवली के छहों लेश्याएँ होती हैं तथा अयोग केवली के योग प्रवृत्ति नहीं है; इसलिए वे लेश्या रहित हैं। मुक्त सिद्ध जीव भी लेश्या रहित होते हैं।

5. योग : कर्म के संयोग के कारण शरीर, वचन व मन के अवलंबन से आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन (हलन-चलन) योग है।¹ इससे आत्मा को पुद्गलवर्गणा से एक बंधान होने की शक्ति होती है। योग के निमित्त से नवीन कर्मों का आगमन होता है। इसलिए योग आस्रव है।²

आत्मा के अनंतगुणों में योग एक गुण हैं; यह अनुजीवी गुण हैं। इस गुण की पर्याय में दो भेद होते हैं। (क) परिस्पंदरूप अर्थात् आत्म-प्रदेशों का कंपनरूप और (ख) आत्मप्रदेशों की निश्चलतारूप-निष्कंपरूप। प्रथम प्रकार योग गुण की अशुद्धपर्याय हैं और दूसरा भेद योग गुण की शुद्ध पर्याय है। यहाँ योग गुण की कंपनरूप अशुद्धपर्याय को 'योग' कहा है।

योग तीन प्रकार का है ह (i) मनोयोग (ii) वचनयोग (iii) काययोग
 (i) **मनोयोग** ह मन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है, उसे मनोयोग कहते हैं अथवा बाह्य पदार्थ के चिंतन में प्रवृत्त हुए मन से उत्पन्न हुए जीव प्रदेशों के परिस्पन्द को मनोयोग कहते हैं अथवा मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्यमन के अवलंबन से जो जीव का संकोच-विकोच होता है, वह मनोयोग है।

जब योग मन की ओर झुकता है तब उसमें मन निमित्त होने से, योग व मन का निमित्त-नैमित्तिक संबंध दर्शाने के लिए उस योग को मनोयोग कहते हैं। मनोयोग 4 प्रकार का है ह

सत्यमनोयोग, मृषामनोयोग, सत्यमृषामनोयोग, असत्यमृषामनोयोग।

समीचीन पदार्थ को विषय करने वाले मन को सत्य मन कहते हैं; और उसके द्वारा जो योग होता है उसे “सत्य मनोयोग” कहते हैं। जहाँ जिस प्रकार की वस्तु विद्यमान हो वहाँ उसीप्रकार से प्रवृत्ति करने वाले मन को सत्य मन कहते हैं।

इसके विपरीत योग को ‘मृषा मनोयोग’ कहते हैं।

सत्य और मृषा योग को ‘सत्यमृषामनोयोग’ कहते हैं।

जो मन न तो सत्य हो और न मृषा हो उसे असत्यमृषामन कहते हैं। उसके द्वारा जो योग होता है, उसे ‘असत्यमृषामनोयोग’ कहते हैं।

(ii) **वचनयोग** ह वचन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है, उसे वचन योग कहते हैं अथवा भाषा वर्गणा से बँधी पुद्गल स्कंधों के अवलंबन से जो जीव-प्रदेशों का संकोच-विकोच होता है, उसे वचन योग कहते हैं अथवा जब योग वचन की ओर झुकता है, तब उसे वचन योग कहते हैं। यह भी चार प्रकार का होता है ह

सत्यवचनयोग, असत्य (मृषा) वचनयोग, उभयवचनयोग और अनुभयवचनयोग।

वचन वर्गणा के निमित्त से योग होता है, उसे ‘सत्यवचनयोग’ कहते हैं। इससे विपरीत वचन योग को ‘मृषावचनयोग’ कहते हैं। सत्य और मृषा वचनरूप योग को ‘उभयवचनयोग’ कहते हैं। जो वचन योग न तो

सत्यरूप हो न मृषा रूप ही हो, उसे ‘अनुभयवचनयोग’ कहते हैं। असंज्ञी जीवों की जो अनक्षररूप भाषा है, वह अनुभय भाषा है।

(iii) **काययोग** – चतुर्विध शरीरों के अवलंबन से जो जीव प्रदेशों का संकोच-विकोच होता है, वह काययोग है अथवा वातपित्त, कफ आदि के द्वारा उत्पन्न परिश्रम से जो जीवप्रदेशों का परिस्पन्द होता है, वह काययोग कहा जाता है। अथवा जब योग काय की ओर झुकता है तब उसे काययोग कहते हैं। यह 7 प्रकार का है ह **औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियक मिश्रकाययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्रकाययोग और कार्माण काययोग।**

संक्षेप में कहें तो 4 मनोयोग, 4 वचनयोग और 7 काययोग मिलाकर भावयोग कुल 15 भेद-प्रभेद वाला है।

मन, वचन व काय ह तीनों योग क्रमपूर्वक ही प्रवृत्त हो सकते हैं, युगपत् नहीं; अतः एक काल में जीव के एक ही योग होता है, दो या तीन नहीं। यह तीनों योग शुभ भी होते हैं और अशुभ भी।

शुभयोगों से पुण्य का आस्रव होता है, अशुभ योगों से पापकर्म का आस्रव होता है।

दूसरों का भला सोचना शुभमनोयोग है तथा किसी को मारने का विचार करना, किसी से ईर्ष्या रखना अशुभमनोयोग है।

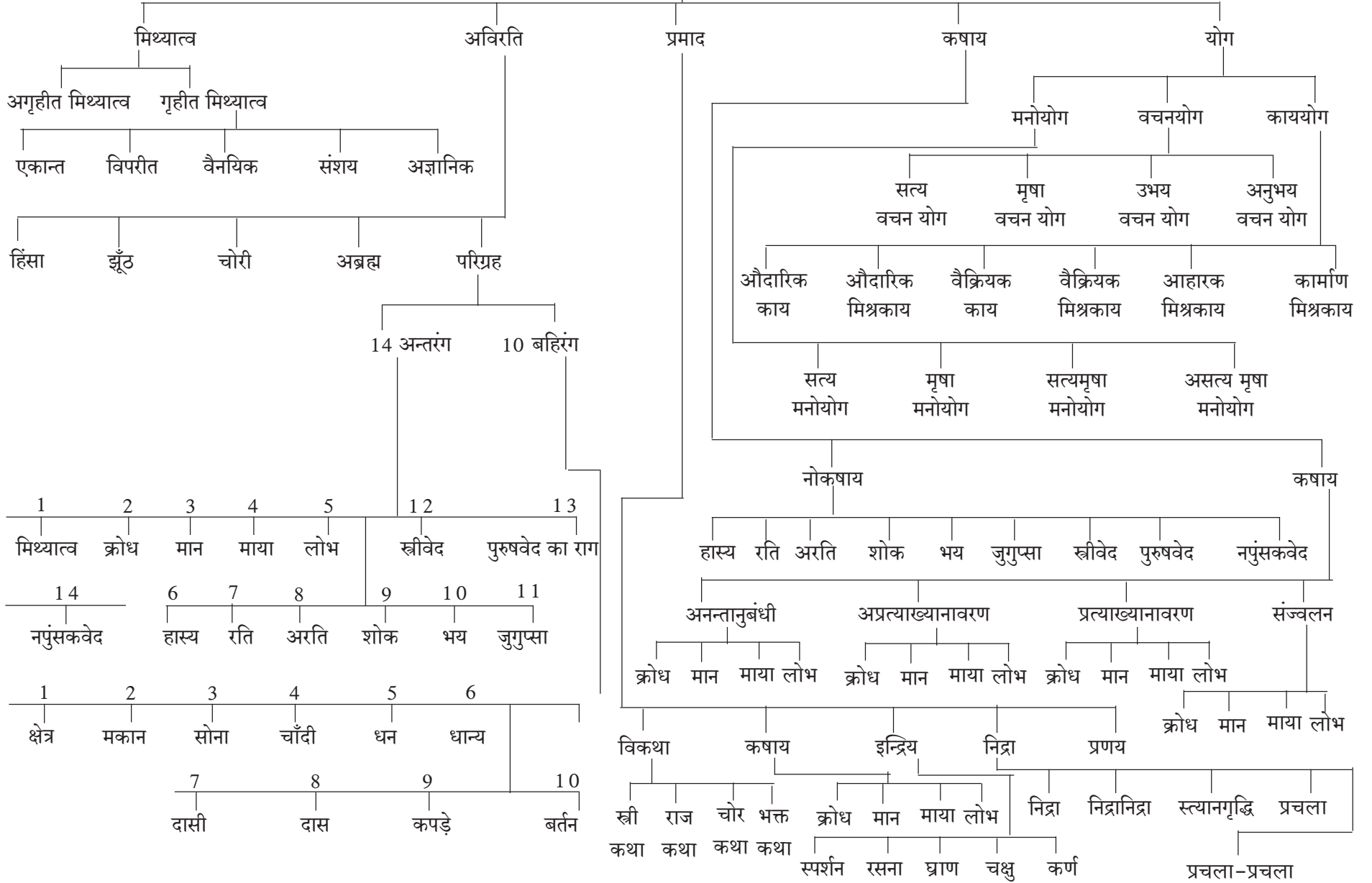
हित-मित-प्रिय वचन बोलना शुभवचनयोग है तथा झूठ बोलना, कठोर असत्य वचन बोलना अशुभवचनयोग है।

प्राणियों की रक्षा करना शुभकाययोग है तथा किसी के प्राणों का घात करना अशुभकाययोग है।

यहाँ विशेष बात यह है कि योग में शुभ या अशुभ ऐसा भेद नहीं है; किन्तु आचरण रूप उपयोग में (चारित्र गुण की पर्याय में) शुभोपयोग और अशुभोपयोग ह ऐसा भेद होता है, इसीलिए शुभोपयोग के साथ के योग को उपचार से शुभयोग कहते हैं और अशुभोपयोग के साथ के योग को उपचार से अशुभयोग कहा जाता है।

भावास्त्रव के उक्त भेद-प्रभेदों को निम्न चार्ट द्वारा समझा जा सकता है ह

भावास्त्रव के भेद-प्रभेद



बंध की अपेक्षा आस्रव के भेद

बंध की अपेक्षा से आस्रव दो प्रकार का होता है ह्र साम्परायिक और ईर्यापथ ।

कषाय सहित योग से होनेवाले आस्रव को साम्परायिक आस्रव कहते हैं । कषाय सहित होने के कारण साम्परायिक आस्रव बंध का कारण होता है ।

कषाय रहित योग से होने वाले आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं ।

आस्रव जड़स्वभावी हैं, जीव के साथ निबद्ध हैं, आकुलता उत्पन्न करने वाले अशुचि हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं और दुःखमय हैं तथा दुःख ही उनका फल है ।

4. बंधतत्त्व

कर्म प्रदेशों का आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना बंध है । जब जीव कषाय करता है तब उस कषाय का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूप से परिणमती है और जीव के साथ संबंध प्राप्त करती है, इसे बंध कहा जाता है । जब जीव पराश्रय द्वारा अपनी अवस्था में विकार भाव करता है, तब उस भाव के अनुसार नवीन कर्म बंधते हैं ह्र ऐसा जीव और पुद्गल का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है ।

बंध के भेद ह्र

बंध दो प्रकार का होता है ह्र भावबंध और द्रव्यबंध । आत्मा का अज्ञान, मोह-राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विभाव भावों में रुक जाना भावबंध है और उसके निमित्त से पुद्गल का आत्म प्रदेशों के साथ स्वयं कर्मरूप बंधना द्रव्यबंध है ।

शुभराग से पुण्य का बंध होता है तथा अशुभ राग, द्वेष और मोह से पाप का बंध होता है; अतः शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार का राग अर्थात् पुण्य और पाप दोनों ही छोड़ने योग्य हैं; क्योंकि वे आस्रव व बंध तत्त्व हैं ।

बंध के कारण ह्र

बंध के पाँच कारण हैं ह्र मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ।¹ बंध के उपर्युक्त कारणों में से सबसे पहिले मिथ्यादर्शन दूर होता है, तत्पश्चात् अविरति आदि दूर होते हैं । इनका क्रम भंग नहीं होता, क्योंकि मिथ्यादर्शन चौथे गुणस्थान में दूर होता है, अविरति पाँचवें-छठवें गुणस्थान में दूर होती है, प्रमाद सातवें गुणस्थान में दूर होता है, कषाय बारहवें गुणस्थान में नष्ट होती है और योग चौदहवें गुणस्थान में नष्ट होता है ।

कर्मबंध के विशेष

कर्मबंधपर्याय के चार विशेष हैं ह्र (i) प्रकृतिबंध, (ii) प्रदेशबंध, (iii) स्थितिबंध और (iv) अनुभाग बंध ।

प्रकृति और प्रदेशबंध योग से तथा स्थिति और अनुभागबंध मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषायों के निमित्त से होते हैं ।

(i) प्रकृतिबंध ह्र कर्मों के स्वभाव को प्रकृतिबंध कहते हैं । राग-द्वेषादि के निमित्त से जीव के साथ पौद्गलिक कर्मों का बंध निरन्तर होता है । जीव के भावों की विचित्रता के अनुसार वे कर्म भी विभिन्न प्रकार की फलदान शक्ति को लेकर आते हैं, इसी से वे विभिन्न स्वभाव या प्रकृतिवाले होते हैं । प्रकृति की अपेक्षा उन कर्मों के 8 मूल भेद हैं और 148 उत्तर भेद हैं । उत्तरोत्तर भेद असंख्यात हो जाते हैं । सर्व प्रकृतियों में कुछ पापरूप होती हैं, कुछ पुण्यरूप ।

प्रकृतिबंध के आठ भेदों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार घातिया कर्म कहलाते हैं, क्योंकि वे जीव के अनुजीवी गुणों की पर्याय के घात में निमित्त हैं और शेष वेदनीय, आयु, नाम व गोत्र इन चार को अघातिया कर्म कहते हैं, क्योंकि ये जीव के अनुजीवी गुणों की पर्याय के घात में निमित्त नहीं है । इसप्रकार कुलकर्म 8 होते हैं ।

(ii) **प्रदेशबंध** ह्म ज्ञानावरणादि कर्मरूप से होनेवाले पुद्गलस्कन्धों के परमाणुओं की संख्या ही प्रदेशबंध है अथवा योग से बंधे हुए कर्म परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों के साथ एकक्षेत्र में अवगाहपूर्वक रहना प्रदेशबंध है।

(iii) **स्थितिबंध** ह्म अवस्थान काल का नाम स्थिति है। कर्मरूप से परिणत हुए पुद्गलकर्म स्कन्धों के कर्मपने को न छोड़कर कषाय के वश से जीव में एकस्वरूप से रहने के काल को स्थिति कहते हैं।

बंधकाल से लेकर आबाधकाल छोड़कर प्रतिसमय एक-एक करके कर्म उदय में आ-आकर खिरते रहते हैं। प्रतिसमय खिरनेवाला कर्म निषेक कहलाता है। सम्पूर्ण स्थिति में कर्म एक-एक के पीछे एक स्थित रहता है। सबसे पहिले निषेक में सबसे अधिक कर्म हैं, पीछे क्रमपूर्वक घटते-घटते अन्तिम निषेक में सर्वत्र कम कर्म होते हैं। कषाय आदि की तीव्रता के कारण संक्लेश परिणामों से अधिक और विशुद्ध परिणामों से हीन स्थिति बंधती है।

(iv) **अनुभाग बंध** ह्म कर्मों के अपना कार्य करने (फल देने) की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। अतः ज्ञानावरणादि कर्मों का कषायादि परिणामजनित शुभ अथवा अशुभ रस अनुभागबंध है। शुभाशुभ कर्म की निर्जरा के समय अनुभागबंध सुख-दुःखरूप फल देने की शक्तिवाला होता है।

जीव के रागादि भावों की तरतमता के अनुसार उसके साथ बंधनेवाले कर्मों की फलदान शक्ति में भी तरतमता होनी स्वाभाविक है। मोक्ष के प्रकरण में यह शक्ति ही अनुभाग है। जिसप्रकार गर्म तेल की एक बूँद भी शरीर को जलाने में समर्थ है और मन भर ठंडे तेल में शरीर को जलाने की सामर्थ्य नहीं है; उसीप्रकार अधिक अनुभाग युक्त थोड़े भी कर्मप्रदेश जीव के गुणों का घात करने में समर्थ हैं, परन्तु अल्प अनुभागयुक्त अधिक भी कर्मप्रदेश उसका पराभव करने में समर्थ नहीं हैं। अतः कर्मबंधन के प्रकरण में कर्मप्रदेशों की गणना प्रधान नहीं है, बल्कि अनुभाग ही प्रधान

है। हीनशक्तिवाला अनुभाग केवल एकदेशरूप से गुण का घात करने के कारण देशघाती और अधिक शक्तिवाला अनुभाग पूर्णरूपेण गुण का घातक होने के कारण सर्वघाती कहलाता है।

शुभ प्रकृतियों का विशुद्ध परिणामों से तीव्र (उत्कृष्ट) एवं संक्लेश परिणामों से मंद अनुभागबंध होता है। इससे विपरीत अर्थात् शुभप्रकृतियों का संक्लेश से और अशुभ प्रकृतियों का विशुद्धि से जघन्य अनुभाग बंध होता है।

शुभ प्रकृतियों के अनुभाग गुड़, मिश्री और अमृत के समान उत्तरोत्तर मिष्ट होते हैं तथा पाप प्रकृतियों का अनुभाग नीम, विष व हलाहल के समान उत्तरोत्तर कडुवे होते हैं।

प्रशस्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग विशुद्धिगुण की उत्कृष्टता वाले जीव के होता है। अप्रशस्त प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध उत्कृष्ट संक्लेश वाले मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।

बंधों में अनुभाग बंध प्रधान हैं, क्योंकि यह सुख-दुःखरूप फल का निमित्त होता है।

5. संवरतत्त्व

आस्रव का निरोध संवर है; अतः जीव के मोहादि विकारीभावों को रोकना संवर है। आत्मा में जिन सम्यक्त्वादि भावों के होनेपर आस्रवभाव रुकें अर्थात् नवीन कर्म न बंधें वे सम्यक्त्वादि भाव संवरभाव हैं।

जब जीव का उपयोग शुद्धात्मा में रहता है, तब जीव को नवीन पुण्य-पाप भावों के अभाव में नवीन कर्मों का आस्रव नहीं होता ह्म यही संवर है। इसप्रकार जीव की शुद्धपर्याय होने पर अशुद्धपर्याय नहीं होती, अतः नवीन कर्मबंध भी नहीं होता ह्म इसे ही संवर कहते हैं। धर्म का प्रारंभ संवर से होता है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के साथ संवरतत्त्व की प्राप्ति होती है। शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के बिना न तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, न संवर की। भेदविज्ञान के बल से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती

है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से राग-द्वेष-मोह का अभाव जिसका लक्षण है, ऐसा संवर प्रगट होता है।

संवर के भेद ह् संवर दो प्रकार का है ह् **भावसंवर और द्रव्यसंवर।**

पुण्य-पाप के विकारी भाव (आस्रव) को आत्मा के शुद्ध (वीतरागी) भावों से रोकना भावसंवर है और तदनुसार नये कर्मों का स्वयं आना रुक जाना द्रव्यसंवर है।

संवर के कारण ह् तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय और पाँच चारित्र ह् इन छह कारणों से संवर होता है।¹

तीन गुप्ति ह् मन, वचन व काय की प्रवृत्ति का निरोध करके ज्ञाता-द्रष्टाभाव से निश्चय समाधि धारणा पूर्ण गुप्ति है और कुछ शुभराग मिश्रित विकल्पों व प्रवृत्तियों सहित यथाशक्ति स्वरूप में निमग्न रहना आंशिक गुप्ति है। पूर्णगुप्ति ही निवृत्तिरूप होने के कारण निश्चयगुप्ति है और आंशिक गुप्ति प्रवृत्ति अंश के साथ वर्तने के कारण व्यवहारगुप्ति है। यह तीन प्रकार की होती है ह् मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। जिसकी चर्चा सकलचारित्र के प्रकरण में की जाएगी।

पाँच समिति ह् निश्चय से अपने स्वरूप में सम्यक् प्रकार से गमन (परिणमन) समिति है। व्यवहार से गायन में, संभाषण में, आहार ग्रहण करने में, वस्तुओं को उठाने-धरने में और मल-मूत्र क्षेपण करने में विवेकपूर्वक सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करते हुए जीवों की रक्षा करना समिति है। यह पाँच प्रकार की होती है ह् ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापन समिति। इनकी चर्चा सकल चारित्र में की जाएगी।

दश धर्म ह् जैनदर्शन में (1) उत्तम क्षमा (2) उत्तम मार्दव (3) उत्तम आर्जव (4) उत्तम शौच (5) उत्तम सत्य (6) उत्तम संयम (7) उत्तम तप (8) उत्तम त्याग (9) उत्तम आकिंचन्य और (10) उत्तम ब्रह्मचर्य ह् इन

1. तत्त्वार्थसूत्र : अध्याय 9; सूत्र-2

दश गुणों को दश धर्म कहा गया है।¹ वस्तुतः ये दश धर्म नहीं, धर्म के दश लक्षण हैं, जिन्हें संक्षेप में 'दशधर्म' शब्द से अभिहित कर दिया जाता है।

जिस आत्मा में आत्मरुचि, आत्मज्ञान और आत्मलीनता रूप धर्म पर्याय प्रकट होती है, उसमें धर्म के ये दश लक्षण सहज प्रकट हो जाते हैं। ये आत्माराधना के फलस्वरूप प्रकट होनेवाले लक्षण हैं, चिह्न हैं, धर्म हैं।

यद्यपि उक्त दश धर्म चारित्र गुण की निर्मल पर्यायें हैं; तथापि प्रत्येक के साथ लगा हुआ 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की अनिवार्य सत्ता को सूचित करता है। तात्पर्य यह है कि ये चारित्र गुण की निर्मल दशाएँ सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा को ही प्रकट होती हैं, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को नहीं।

वस्तुतः चारित्र ही साक्षात् धर्म हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो चारित्ररूप वृक्ष की जड़ें (मूल) हैं। जैसे जड़ के बिना वृक्ष की सत्ता ही संभव नहीं; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी जड़ के बिना सम्यक्चारित्र की सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

यद्यपि लोक में बहुत से लोग आत्मश्रद्धान व आत्मज्ञान के बिना भी बंधन के भय एवं स्वर्ग-मोक्ष तथा मान-प्रतिष्ठा आदि के लोभ से क्रोधादि कम करते या नहीं करते से देखे जाते हैं; तथापि वे उत्तमक्षमादि दशधर्मों के धारक नहीं माने जा सकते हैं। अतः सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानपूर्वक क्रोधादि का नहीं होना ही उत्तमक्षमादि धर्म है।

यद्यपि उक्त दश धर्मों का वर्णन जैन शास्त्रों में मुख्यतः मुनिधर्म की अपेक्षा किया गया है, तथापि ये धर्म मात्र मुनियों को धारण करने के लिए ही नहीं हैं; ज्ञानी गृहस्थ के भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार ये होते ही हैं। जैसे ह् यदि मुनियों को अनन्तानुबंधी आदि तीन कषायों के अभाव रूप उत्तमक्षमादि धर्म होंगे तो पंचम गुणस्थानवर्ती ज्ञानी श्रावकों के

1. तत्त्वार्थसूत्र : अध्याय 9; सूत्र-6

अनन्तानुबंधी आदि दो कषायों के अभावरूप उत्तमक्षमादि धर्म होंगे। इसीप्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि के एकमात्र अनन्तानुबंधी कषाय के अभावरूप उत्तमक्षमादि धर्म प्रकट होंगे।

मिथ्यादृष्टि के उक्त दश धर्म नहीं होते। उसकी कषायें कितनी भी मंद क्यों न हों, उसके उक्त धर्म प्रकट हो ही नहीं सकते; क्योंकि उक्त धर्म कषाय के अभाव से प्रकट होने वाली पर्यायें हैं, कषाय की मंदता से नहीं, मंदता से जो तारतम्य रूप भेद पड़ते हैं, उन्हें जैनशास्त्रों में लेश्या संज्ञा दी है, धर्म नहीं। धर्म तो मिथ्यात्व व कषाय के अभाव का नाम है, मंदता का नहीं।

इन धर्मों की व्याख्या जैनदर्शन में अनेक पहलुओं (दृष्टिकोणों) से की गई है। जैसे ह्म मुनियों और श्रावकों की अपेक्षा, निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा, अन्तर और बाह्य की अपेक्षा आदि।

इनमें से प्रत्येक धर्म स्वतंत्ररूप से विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखता है, जो कि यहाँ संभव नहीं है फिर भी संक्षेप में वर्णन प्रसंग प्राप्त है। जैन शास्त्रों में उपलब्ध धर्म के दशलक्षण¹ का सार निम्न प्रकार है ह्म

उत्तम क्षमा ह्म क्षमा आत्मा का स्वभाव है। क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो क्रोध के अभावरूप शान्ति-स्वरूप पर्याय प्रकट होती है, उसे भी क्षमा कहते हैं। यद्यपि आत्मा क्षमा स्वभावी है, तथापि अनादि से आत्मा में क्षमा के अभावरूप क्रोध पर्याय ही प्रकटरूप से विद्यमान है।

क्रोधादि की उत्पत्ति का मूलकारण अपने सुख-दुःख का कारण दूसरों को मानना है; पर में कर्तृत्व बुद्धि से ही अनन्तानुबंधी क्रोध उत्पन्न होता है।

शास्त्रों में चार प्रकार का क्रोध कहा गया है (i) अनन्तानुबंधी (ii) अप्रत्याख्यान (iii) प्रत्याख्यान और (iv) संज्वलन।

1. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : धर्म के दशलक्षण

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरति सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबंधी क्रोध का अभाव हो जाता है, अतः उसे तत्संबंधी उत्तम क्षमाभाव प्रकट हो जाता है। पंचम गुणस्थानवर्ती अणुव्रती के अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यान संबंधी क्रोध के अभावजन्य उत्तमक्षमा विद्यमान होती है तथा छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती महाव्रती मुनिराजों के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान संबंधी क्रोध का अभाव होने से वे तीनों के अभाव संबंधी उत्तम क्षमा के धारक होते हैं। नौवें दसवें गुणस्थान से ऊपर वाले तो पूर्ण उत्तम क्षमा के धारक होते हैं।

संक्षेप में कहें तो जैनमतानुसार अनन्तानुबंधी क्रोध के अभाव से उत्तम क्षमा प्रकट होती है और अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान क्रोध का अभाव उत्तम क्षमा को पल्लवित करता है तथा संज्वलन क्रोध का अभाव उत्तम क्षमा को पूर्णता प्रदान करता है।

क्रोध का अभाव आत्मा के आश्रय से होता है। आत्मा का अनुभव ही उत्तम क्षमा की प्राप्ति का वास्तविक उपाय है। क्षमास्वभावी आत्मा का अनुभव करने पर, आश्रय करने पर ही पर्याय में उत्तम क्षमा प्रकट होती है।

आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव को उत्तमक्षमा प्रकट होती है, और आत्मानुभव की वृद्धिवालों को ही उत्तमक्षमा बढ़ती है, तथा आत्मा में ही अनन्तकाल तक समा जाने वालों में उत्तमक्षमा पूर्णता को प्राप्त होती है।

2. **उत्तम मार्दव** ह्म 'मृदोर्भाव : मार्दवम्' मृदुता-कोमलता का नाम मार्दव है। क्षमा के समान मार्दव भी आत्मा का स्वभाव है। मार्दव स्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो मान के अभावरूप शान्ति स्वरूप पर्याय प्रकट होती है, उसे भी मार्दव कहते हैं। यद्यपि आत्मा मार्दव स्वभावी है तथापि अनादि से आत्मा में मार्दव के अभावरूप मानकषायरूप पर्याय ही प्रकट रूप से विद्यमान है।

मान कषाय के कारण आत्मस्वभाव में विद्यमान कोमलता का अभाव हो जाता है।

मार्दवधर्म की प्राप्ति के लिए देहादि में एकत्व बुद्धि तोड़नी होगी। देहादि में एकत्व बुद्धि मिथ्यात्व के कारण होती है; अतः सर्वप्रथम मिथ्यात्व का ही अभाव करना होगा, तभी उत्तम क्षमा-मार्दवादि धर्म प्रकट होंगे, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

मिथ्यात्व का अभाव आत्मदर्शन से होता है, अतः आत्मदर्शन ही एकमात्र कर्तव्य है।

उत्तम आर्जव ह्व क्षमा और मार्दव के समान आर्जव भी आत्मा का स्वभाव है। आर्जव स्वभावी आत्मा के आश्रय को आत्मा में छलकपट मायाचार के अभावरूप शान्ति-स्वरूप जो पर्याय प्रकट होती है, उसे भी आर्जव कहते हैं। यद्यपि आत्मा आर्जव स्वभावी है, तथापि अनादि से ही आत्मा में आर्जव के अभावरूप मायाकषायरूप पर्याय ही प्रकटरूप से विद्यमान है।

‘ऋजोर्भावः आर्जवम्’ ऋजुता अर्थात् सरलता का नाम आर्जव है। आर्जव के साथ लगा ‘उत्तम’ शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली सरलता ही उत्तम आर्जव धर्म है। उत्तम आर्जव अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित वीतरागी सरलता।

आर्जव धर्म की विरोधी मायाकषाय है। मायाकषाय के कारण आत्मा में स्वभावगत सरलता न रहकर कुटिलता उत्पन्न हो जाती है।

आर्जव धर्म व मायाकषाय ये दोनों ही जीव के भाव हैं। आर्जवधर्म आत्मा का स्वभावभाव है तथा माया कषाय आत्मा का विभाव भाव है। माया कषाय के अभाव का नाम ही आर्जव धर्म है।

आर्जवस्वभावी आत्मा के आश्रय से ही मायाचार का अभाव होकर आर्जवधर्म प्रकट होता है।

4. उत्तम शौच ह्व ‘शुचेर्भावः शौचम्’ शुचिता अर्थात् पवित्रता का नाम शौच है। शौच के साथ लगा ‘उत्तम’ शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का

सूचक है। अतः सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली वीतरागी पवित्रता ही उत्तम शौच धर्म है।

शौचधर्म की विरोधी लोभकषाय मानी गई है।

लोभ कषाय सबसे मजबूत कषाय है। यही कारण है कि वह सबसे अंत तक रहती है। जब इसका भी अभाव हो जाता है, तब शौचधर्म प्रकट होता है, अतः वह महान धर्म है।

5. उत्तम सत्य ह्व सत् अर्थात् जिसकी सत्ता है। जिस पदार्थ की जिसरूप में सत्ता है, उसे वैसा ही जानना सत्यज्ञान है, वैसा ही मानना सत्यश्रद्धान है, वैसा ही बोलना सत्य वचन है; और आत्मस्वरूप के सत्यज्ञान-श्रद्धानपूर्वक वीतरागभाव की उत्पत्ति होना सत्यधर्म है।

द्रव्य का लक्षण ‘सत्’ है। आत्मा भी एक द्रव्य है; अतः वह सत्स्वभावी है। सत्स्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो शान्तिस्वरूप वीतराग परिणति उत्पन्न होती है, उसे निश्चय से सत्यधर्म कहते हैं। सच्ची श्रद्धा व सच्ची समझपूर्वक उत्पन्न हुई वीतराग परिणति ही निश्चय से उत्तम सत्यधर्म है।

उत्तम सत्य अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित वीतरागभाव।

सत्य के साथ लगा ‘उत्तम’ शब्द मिथ्यात्व के अभाव और सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। मिथ्यात्व के अभाव बिना तो सत्यधर्म की प्राप्ति ही संभव नहीं है।

अन्तर में विद्यमान ज्ञानानन्द स्वभावी त्रैकालिक ध्रुव आत्मतत्त्व ही परम सत्य है। उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ ज्ञान, श्रद्धान एवं वीतराग परिणति ही उत्तमसत्यधर्म है।

6. उत्तम संयम ह्व संयमन को संयम कहते हैं। संयमन अर्थात् उपयोग को परपदार्थ से समेट कर आत्मसन्मुख करना, अपने में सीमित करना, अपने में लगाना। उपयोग की स्वसन्मुखता, स्वलीनता ही निश्चयसंयम है। अथवा पाँच व्रतों को धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना,

क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, मन-वचन-कायरूप तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीतना संयम है।

संयम के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। जिसप्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम संभव नहीं, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन के बिना संयम की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि फलागम संभव नहीं है।

संयम मुक्ति का साक्षात् कारण है। दुःखों से छूटने का एकमात्र उपाय है। बिना संयम धारण किए तीर्थंकरों को भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

यह संयम स्वर्गों व नरकों में तो है ही नहीं, अपितु पूर्ण संयम तो तिर्यच गति में भी नहीं है। एकमात्र मनुष्य भव ही ऐसा है, जिसमें संयम धारण किया जा सकता है। मनुष्य जन्म की सार्थकता संयम धारण करने में ही है।

संयम दो प्रकार का होता है **ह्र प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम।**

छह काय के जीवों का घात एवं घात के भावों के त्याग को **प्राणी संयम** कहते हैं और पंचेन्द्रिय तथा मन के विषयों के त्याग को **इन्द्रिय संयम** कहते हैं।

संक्षेप में कहें तो जब सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई अनंतानुबंधी आदि तीन कषायों या दो कषायों के अभाव में प्रकट वीतराग परिणतिरूप उत्तमसंयम अन्तर में प्रकट होता है, तब उस जीव की परिणति भी पंचेन्द्रियों के विषयों एवं हिंसादि पापों के सर्वदेश या एकदेश त्यागरूप नियम से होती है, उसे व्यवहार से उत्तम संयम धर्म कहते हैं।

निश्चय संयम तो सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई परम पवित्र वीतराग परिणति ही है।

7. उत्तम तप ह्र समस्त रागादिभावों के त्यागपूर्वक अपने में लीन होना अर्थात् आत्मलीनता द्वारा विकारों पर विजय प्राप्त करना तप है। नास्ति से इच्छाओं का अभाव और अस्ति से आत्मस्वरूप में लीनता ही तप है। तप के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। सम्यग्दर्शन

के बिना किया गया समस्त तप निरर्थक है। उत्तम तप सम्यक्चारित्र का भेद है और सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं होता।

तप दो प्रकार का माना गया है ह्र (ॐ) बहिरंग और (ॐ) अंतरंग।

बहिरंग तप भी छह प्रकार का होता है¹ ह्र (क) अनशन (ख) अवमौदर्य (ग) वृत्तिपरिसंख्यान (घ) रसपरित्याग (च) विविक्त शय्यासन और (छ) कायक्लेश।

इसीप्रकार अन्तरंग तप भी छह प्रकार का होता है² ह्र (क) प्रायश्चित्त (ख) विनय (ग) वैयावृत्य (घ) स्वाध्याय (च) व्युत्सर्ग और (छ) ध्यान।

इस प्रकार कुल तप 12 प्रकार के होते हैं।

उक्त समस्त तपों में ह्र चाहे वे बाह्य तप हों या अंतरंग, एक शुद्धोपयोगरूप वीतरागभाव की ही प्रधानता है। इच्छाओं के निरोधरूप शुद्धोपयोगरूपी वीतरागभाव ही सच्चा तप है। प्रत्येक तप में वीतरागभाव की वृद्धि होनी ही चाहिए वही वह तप है, अन्यथा नहीं। यद्यपि अंतरंग तप ही वास्तविक तप हैं, बहिरंग तप को तो उपचार से तप कहा जाता है।

उक्त बारह तपों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा, इसीप्रकार अन्त तक उत्तरोत्तर तप अधिक उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण हैं। अनशन पहला तप है और ध्यान अन्तिम। ध्यान यदि लगातार अन्तर्मुहूर्त भी करें तो केवलज्ञान की प्राप्ति होती ही है, किन्तु उपवास वर्ष भर भी करें तो केवलज्ञान की गारन्टी नहीं। यह नकली उपवास की नहीं, असली उपवास की बात है। उपवास तो कभी-कभी किया जाता है, पर स्वाध्याय और ध्यान प्रतिदिन किये जाते हैं। स्वाध्याय व ध्यान अंतरंग तप हैं व तपों में सर्वश्रेष्ठ हैं।

(i) बहिरंग तप

पूर्णतः भोजन का त्याग **अनशन** है।

दिन में एक बार भूख से कम भोजन करना **अवमौदर्य** है। एक बार

करने के कारण इसे 'एकाशन' भी कहते हैं। तथा भरपेट न होने के कारण इसे 'ऊनोदर' भी कहते हैं।

भोजन को जाते समय अनेक प्रकार की अटपटी प्रतिज्ञाएँ ले लेना, उसकी पूर्ति पर ही भोजन करना; अन्यथा उपवास करना वृत्तिपरिसंख्यान है। षट्‌रसों में कोई एक, दो या छहों ही रसों का त्याग करना, नीरस भोजन लेना रसपरित्याग है।

निर्दोष एकान्त स्थान में प्रमाद रहित सोने-बैठने की वृत्ति। विविक्त शय्यासन है।

आत्मसाधना एवं आत्मारधना में होने वाले शारीरिक कष्टों की परवाह नहीं करना कायक्लेश तप है। इसमें काय को क्लेश देना तप नहीं है, वरन् कायक्लेश के कारण आत्मारधना में शिथिल नहीं होना मुख्य बात है।

इच्छाओं का निरोध होकर वीतरागभाव की वृद्धि होना तप का मूल प्रयोजन है। कोई भी तप जबतक उक्त प्रयोजन की सिद्धि करता है, तबतक ही वह तप है।

(ii) अंतरंग तप

(क) प्रायश्चित्त तप ह्व प्रमाद व अज्ञान से लगे दोषों की शुद्धि के लिए आत्म-आलोचना प्रतिक्रमणादि द्वारा प्रायश्चित्त करना प्रायश्चित्त तप है।

(ख) विनय तप ह्व ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रति अन्तर में अनन्त बहुमान के भाव विनय तप है।

विनय तप चार प्रकार का होता है ह्व (क) ज्ञान विनय (ख) दर्शन विनय (ग) चारित्र विनय और (च) उपचार विनय।

ज्ञान विनय निश्चय विनय है और ज्ञानी की विनय उपचार विनय है। दर्शन विनय निश्चय विनय हैं और सम्यग्दृष्टि की विनय उपचार विनय है, चारित्र की विनय निश्चय-विनय है और चारित्रवंतों की विनय उपचार विनय है। इसप्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विनय निश्चय विनय और इनके धारक देव-गुरुओं की विनय उपचार विनय है।

(ग) वैयावृत्ति तप ह्व शुद्धोपयोग रूप रहने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही वास्तविक वैयावृत्ति है। वैयावृत्ति का अर्थ है ह्व सेवा। वास्तविक सेवा तो स्व और पर को आत्महित में लगाना है। आत्महित एकमात्र शुद्धोपयोगरूप दशा में है।

(घ) स्वाध्याय तप ह्व आत्मज्ञान का प्राप्त होना ही वास्तविक स्वाध्याय है। 'स्व' माने निज का, 'अधि' माने ज्ञान और 'अय' माने प्राप्त होनाहइस प्रकार निज का ज्ञान प्राप्त होना ही स्वाध्याय है। आत्महितकारी शास्त्रों का अध्ययन-मनन-चिंतन भी उपचार से स्वाध्याय है। स्वाध्याय तप के पाँच भेद हैं ह्व (क) वांचन (ख) पृच्छना (पूँछना) (ग) अनुप्रेक्षा (चिंतन) (घ) आमनाय (पाठ) और (च) धर्मोपदेश।

इसमें स्वाध्याय की प्रक्रिया का क्रमिक विकास लक्षित होता है।

तत्त्वनिरूपक आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़ना और अपनी बुद्धि से जितना भी मर्म निकाल सकें, पूरी शक्ति से निकालना-बाँचना स्वाध्याय है।

उसके बाद भी यदि कुछ समझ में न आवे तो समझने के उद्देश्य से किसी विशेष ज्ञानी से विनयपूर्वक पूछनाह्वपृच्छना स्वाध्याय है।

जो पढ़ा है, उस पर तथा पूछने पर ज्ञानी महापुरुष से जो उत्तर प्राप्त हुआ हो, उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना, चिन्तन करनाह्वअनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

बाँचना, पृच्छना और अनुप्रेक्षा के बाद निर्णीत विषय को स्थिर धारणा के लिए बारम्बार घोखना, पाठ करनाह्वआमनाय स्वाध्याय है।

बाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और आमनाय के बाद जब विषय पर पूरा-पूरा अधिकार हो जावे, तब उसका दूसरे जीवों के हितार्थ उपदेश देना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है।

उक्त विवेचन से निश्चित होता है कि मात्र बाँचना ही स्वाध्याय नहीं, आत्महित की दृष्टि से समझने के लिए पूँछना भी स्वाध्याय है,

चिंतन और पाठ भी स्वाध्याय है, यहाँ तक कि यशादि के लोभ के बिना स्व-परहित की दृष्टि से किया गया धर्मोपदेश भी स्वाध्यायतप में आता है।

(च) व्युत्सर्ग तप ह्य बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्ग तप कहते हैं। इसकी विस्तृत चर्चा आकिंचन्य धर्म में की जाएगी।

(छ) ध्यान ह्य 'स्व' में एकाग्र होना ध्यान तप है। समस्त 'पर' एवं विषय-विकारों से चित्त को हटाकर एक आत्मा में स्थिर होना ही ध्यान तप है। यदि शुद्धोपयोगरूप ध्यान की दशा एक अन्तर्मुहूर्त भी रह जावे तो केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

ध्यान सर्वोत्कृष्ट तप है, समस्त तपों का सार है, इसकी सिद्धि के लिए ही शेष सब तप हैं।

8. उत्तम त्याग ह्य निज शुद्धात्मा के ग्रहणपूर्वक बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्ति त्याग है। त्याग ज्ञान में ही होता है अर्थात् पर को पर जानकर उनके प्रति ममत्व तोड़ना, राग का त्याग करना ही वास्तविक त्याग है। त्याग मोह-राग-द्वेष का ही होता है; पर पदार्थ तो मोह-राग-द्वेष के छूटने से स्वयं छूट जाते हैं।

इसप्रकार जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि त्याग परद्रव्यों का नहीं, अपितु अपनी आत्मा में परद्रव्यों के प्रति होनेवाले मोह-राग-द्वेष का होता है; क्योंकि परद्रव्य तो पृथक् ही हैं, उनका तो आजतक ग्रहण ही नहीं हुआ है, अतः उनके त्याग का प्रश्न ही कहाँ उठता है? उन्हें अपना जाना-माना है, उनसे राग-द्वेष किया है; अतः उन्हें अपना जानना-मानना (दर्शन मोह) एवं उनके प्रति राग-द्वेष करना (चारित्र्य मोह) छोड़ना है। यही कारण है कि वास्तविक त्याग पर में नहीं, अपने में अपने ज्ञान में ही होता है।

चार प्रकार के दान को भी व्यवहार से त्यागधर्म कहते हैं।

त्याग एक ऐसा धर्म है, जिसे प्राप्त कर आत्मा आकिंचन्य धर्म का धारी बन जाता है, पूर्ण ब्रह्म में लीन होने लगता है, हो जाता है और सारभूत आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

9. उत्तम आकिंचन्य ह्य ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को छोड़कर किंचित् मात्र भी परपदार्थ तथा पर के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष के भाव आत्मा के नहीं हैं ह्य ऐसा जानना, मानना और ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के आश्रय से उनसे विरत होना, उन्हें छोड़ना ही उत्तम आकिंचन्यधर्म है।

परिग्रह के अभाव को आकिंचन्य धर्म कहा जाता है। परिग्रह दो प्रकार का होता है ह्य आभ्यन्तर और बाह्य।

आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेषादि भावरूप आभ्यन्तर परिग्रह को निश्चय परिग्रह और बाह्य परिग्रह को व्यवहार परिग्रह भी कहा जाता है।

आभ्यन्तर परिग्रह 14 और बाह्य परिग्रह 10 प्रकार के होते हैं ह्य इसप्रकार कुल चौबीस परिग्रह के त्यागी मुनिराज उत्तम आकिंचन्य धर्म के धारी होते हैं।

शरीरादि परपदार्थों और रागादि चिद्विकारों में एकत्वबुद्धि, अहंबुद्धि ही मिथ्यात्व नामक प्रथम परिग्रह है। जबतक यह नहीं छूटता; तबतक अन्य परिग्रहों के छूटने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब परपदार्थों के प्रति ममत्व छूटता है तो तदनुसार बाह्य परिग्रह भी नियम से छूटता ही है। किन्तु बाह्य परिग्रह के छूटने से ममत्व के छूटने का नियम नहीं है; क्योंकि पुण्य के अभाव और पाप के उदय में परपदार्थ तो अपने आप ही छूट जाते हैं; पर ममत्व नहीं छूटता; बल्कि कभी कभी तो और अधिक बढ़ने लगता है।

परपदार्थ के छूटने से कोई अपरिग्रही भी नहीं होता, बल्कि उसके रखने का भाव, उसके प्रति एकत्वबुद्धि या ममत्व परिणाम छोड़ने से परिग्रह छूटता है ह्य आत्मा अपरिग्रही अर्थात् आकिंचन्य धर्म का धनी बनता है।

इसप्रकार जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि अंतरंग परिग्रह के त्याग के साथ-साथ बहिरंग परिग्रह का त्याग भी नियम से होता ही है। अपरिग्रह

का अन्तिम उद्देश्य भोगसामग्री और भोग के भाव का पूर्णतः त्याग है। पूर्णतः त्याग रूप आर्किंचन्य धर्मरूप अपरिग्रह मुनिराजों के ही होता है। सीमित परिग्रह रखना अपरिग्रह नहीं, वह तो 'परिग्रह परिमाण' है, जो कि चतुर्थ व पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक करते हैं।

ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के आश्रय से अंतरंग व बहिरंग परिग्रहों से विरत होना, उन्हें छोड़ना ही उत्तम आर्किंचन्य धर्म है।

10. उत्तम ब्रह्मचर्य ह्य ब्रह्म अर्थात् निज शुद्धात्मा में चरना, रमना ही ब्रह्मचर्य है। परद्रव्यों से रहित अपनी आत्मा में जो चर्या अर्थात् लीनता होती है, उसे ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचर्य के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की सत्ता को सूचित करता है।

आत्मलीनतापूर्वक पंचेन्द्रियों के विषयों का त्याग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक के अनन्तानुबंधी एवं अप्रत्याख्यानावरण कषायों के अभावपूर्वक सातवीं प्रतिमा के योग्य निश्चय ब्रह्मचर्य होता है एवं उसके साथ स्वस्त्री के सेवनादि के त्यागरूप बुद्धिपूर्वक जो प्रतिज्ञा होती है, वही व्यवहार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य साक्षात् धर्म है, सर्वोत्कृष्ट धर्म है।

बारह अनुप्रेक्षा ह्य

स्वरूप - अनुप्रेक्षा अर्थात् चिन्तन, बार-बार चिन्तन। किसी भी विषय की गहराई में जाने के लिए उसके स्वरूप का बार-बार विचार करना ही चिन्तन है। वैराग्योत्पादक तत्त्वपरक चिंतन ही अनुप्रेक्षा हैं। विषय-कषाय की पूर्ति से लक्ष्य से किया गया चिंतन अनुप्रेक्षा नहीं, चिन्ता है; जो चिन्ता से भी अधिक दाहक होती है। पंचेन्द्रिय संज्ञी प्राणी तो प्रत्येक पल विषय कषायों का चिंतन करते ही रहते हैं, यह चिंतन अनुप्रेक्षा नहीं है, अपितु चिन्तन किसी विषय को समझने के लिए भी होता है और समझे हुए विषय का भी। चिन्तन ध्यान का प्रारम्भिक रूप है। अनुप्रेक्षा चिन्तनस्वरूप होने से ज्ञानात्मक है, ध्यानात्मक नहीं।

चिन्तन की धारा का सम्यक् नियमन ही अनुप्रेक्षाओं का मूल प्रतिपाद्य है। संयोगों की क्षणभंगुरता, विकारों की विपरीतता, स्वभाव की सामर्थ्य एवं स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न पर्यायों की सुखकरता और दुर्लभता ही

अनुप्रेक्षाओं के प्रतिपादन का मूल केन्द्रबिन्दु है; क्योंकि इसप्रकार का चिन्तन ही वैराग्योत्पादक एवं तत्त्वपरक होने से सम्यक् दिशाबोध दे सकता है।

बारह प्रकार की होने से अनुप्रेक्षाओं को अधिकांशतः 'बारह भावना' के नाम से ही जाना जाता है। लोक में सर्वाधिक प्रचलित नाम भी यही है। बारह भावनाओं के नाम क्रमानुसार निम्नप्रकार हैं ह्य 1. अनित्य भावना 2. अशरण भावना 3. संसार भावना 4. एकत्व भावना 5. अन्यत्व भावना 6. अशुचि भावना 7. आस्रव भावना 8. संवर भावना 9. निर्जरा भावना 10. लोक भावना 11. बोधिदुर्लभ भावना 12. धर्मभावना।¹

उक्त बारह भावनाओं में आरंभ की छह भावनायें वैराग्योत्पादक और अन्त की छह भावनाएँ तत्त्वपरक हैं।

संसारीजीव को मुख्यरूप से स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा और शरीर का ही संयोग है; इनमें सर्वाधिक नजदीक का संयोगी पदार्थ शरीर ही है। अनित्यभावना में इनकी अनित्यता, अशरण भावना में इनकी अशरणता तथा संसार भावना में इनकी दुःखरूपता व निःसारता का चिन्तन किया जाता है। स्वयं में एकत्व और संयोगों से भिन्नत्व का विचार क्रमशः एकत्व और अन्यत्व भावना में होता है। संयोगों (शरीर) की मलिनता और अपवित्रता का चिन्तन ही अशुचिभावना है।

इसप्रकार उक्त छह भावनाओं के चिन्तन का विषय यद्यपि संयोग ही है, तथापि चिन्तन की धारा का स्वरूप इसप्रकार है कि विरक्ति हो, अनुरक्ति नहीं। अतः ये छह भावनायें मुख्यरूप से वैराग्योत्पादक हैं।

आस्रव, संवर और निर्जरा तो स्पष्ट रूप से तत्त्वों के नाम हैं; अतः इनका चिन्तन सहज ही तत्त्वपरक होता है। लोकभावना, बोधिदुर्लभ और धर्मभावना में भी लोक व रत्नत्रयादि धर्मों की चर्चा होने से चिन्तन तत्त्वपरक ही रहता है।

मानव मनोविज्ञान से परिचित जैनाचार्यों ने इन बारह भावनाओं में

1. तत्त्वार्थसूत्र : अध्याय 9; सूत्र-7

वैराग्योत्पादक चिन्तन के द्वारा जनमानस के मन को सरल-तरल करने के पश्चात् ही तत्त्व चिन्तन का बीज बोया है।

1. अनित्य भावना ह्म अनित्य भावना में यह बताया जाता है कि जिन संयोगों में तू सदा रहना चाहता है; वे क्षणभंगुर हैं, अनित्य हैं। पुत्र-परिवार और कंचन-कामिनी सदा साथ रहने वाले नहीं, या तो ये तुझे छोड़कर चले जायेंगे ह्म या तू ही जब मरण को प्राप्त होगा, तब ये सहज ही छूट जावेंगे।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनित्य भावना की चिन्तन प्रक्रिया का मूल प्रयोजन इष्ट-अनिष्ट पर्यायों के संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद न करके समताभाव धारण करने के लिए दृष्टि को पर और पर्यायों पर से हटाकर द्रव्यस्वभाव पर केन्द्रित करना है; क्योंकि समताभाव की प्राप्ति का एकमात्र उपाय वृत्ति का स्वभाव सन्मुख होना ही है।

2. अशरण भावना ह्म अशरण भावना में संयोगों और पर्यायों की क्षणभंगुरता का, अशरणता का गहराई से बोध कराया जाता है।

अशरण भावना में अनेक युक्तियों और उदाहरणों के माध्यम से यह स्पष्ट किया जाता है कि यथासमय स्वयं विघटित होने वाले संयोगों एवं पर्यायों की सुरक्षा संभव नहीं है, उनका विघटन अनिवार्य है; क्योंकि उनकी यह सहज परिणति ही है।

संयोगों और पर्यायों की सुरक्षा में किए गए अगणित प्रयत्नों में आज तक किसी का एक भी प्रयत्न सफल नहीं हुआ है और न कभी भविष्य में सफल होगा; अतः इन निरर्थक प्रयासों में उलझना ठीक नहीं है।

संयोगी पदार्थों में शरीर एक ऐसा संयोगी पदार्थ है, जिसकी सुरक्षा संबंधी विकल्प तरंगें चित्त को सर्वाधिक आन्दोलित करती हैं। देह की सुरक्षा के विकल्प में प्राणी अनेक प्रकार की भक्ष्याभक्ष्य औषधियों का सेवन करते हैं, कुदेवों की आराधना करते हैं, मंत्रों की साधना करते हैं, तंत्रों का प्रयोग करते हैं; पर जब काल आ जाता है तो ये सब कुछ काम नहीं आते। अन्ततोगत्वा इस नश्वर देह को छोड़ना ही पड़ता है। तब अशरण भावना में यह बताया जाता है कि वियोग होना संयोगों का सहज स्वभाव है, उन्हें रोकने का कोई उपाय नहीं है। कोई ऐसी दवा

नहीं, मणि-मंत्र-तंत्र नहीं; जो किसी को भी मरने से बचा लें। देह का वियोग ही मरण है; वह अनिवार्य है, क्योंकि कोई शरण नहीं है। बस, यही अशरण है; इसका चिन्तन ही मुख्यतः अशरण भावना है।

3. संसार भावना ह्म संसार भावना में यह चिन्तन किया जाता है कि संयोगों में सुख नहीं है, सभी संयोग दुःखरूप ही हैं, संयोगों में सुख की कल्पना ही दुःख का मूल है।

संयोग न सुखस्वरूप हैं और न सुख के कारण हैं; न दुःखस्वरूप हैं, न दुःख के कारण हैं; वे तो परपदार्थ हैं, निमित्त मात्र हैं। दुःख के मूल कारण तो संयोगी भाव हैं, संयोग के आश्रय से उत्पन्न हुए आत्मा के ही विकारी भाव हैं। संयोगीभाव विकारीभाव ही वस्तुतः संसार है।

परलक्ष्य से उत्पन्न आत्मा में ही उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेषभाव ही आत्मा के विकारीभाव हैं, दुःखस्वरूप अवस्थाएँ हैं। ये भाव ही संसार हैं, ये आत्मा की ही विकारी पर्यायें हैं।

संसार भावना की सीमा संयोग और संयोगीभाव तक ही है। संयोगों की निरर्थकता और संयोगीभावों की दुःखरूपता का चिन्तन ही संसारभावना की मर्यादा है। चूँकि चतुर्गति भी संयोगरूप ही है या फिर जीव के भावों की अपेक्षा संयोगीभावरूप हैं, अतः संसारभावना में उनका वर्णन सहज ही आ जाता है।

संक्षेप में कहें तो संसारभावना में संयोगों की निरर्थकता एवं स्वभाव की सार्थकता का ज्ञान कराया जाता है।

4. एकत्व भावना ह्म जीवन-मरण, सुख-दुःख आदि प्रत्येक स्थिति को जीव अकेला ही भोगता है; किसी भी स्थिति में किसी का साथ संभव नहीं है, वस्तु की इसी स्थिति का चिन्तन एकत्वभावना में गहराई से किया जाता है।

एकत्व भावना में इस तथ्य की ओर बार-बार ध्यान आकर्षित किया जाता है कि साथी की खोज कभी सफल होने वाली नहीं है; क्योंकि साथ की बात ही असंभव है, वस्तुस्थिति के विरुद्ध है। भले ही

क्षणभंगुर सही, अशरण सही, निरर्थक सही; पर संयोग है तो सही; किन्तु साथी तो जगत में कोई है ही नहीं। परद्रव्यों का संयोग है, पर साथ नहीं। परद्रव्य संयोगी है, परन्तु साथी नहीं।

संयोग और साथ में अंतर है। संयोग तो मात्र संयोग है, पर साथ में सहयोग अपेक्षित है। संयोग में सहयोग शामिल करने पर साथ होता है। गणित की भाषा में हम इसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं $ह संयोग + सहयोग = साथ$ । दो व्यक्तियों का एकस्थान पर एकत्रित होना संयोग है, उनमें परस्पर सहयोग होना साथ है। जब संयोग में सहयोग, अपनापन जुड़ जाता है तो साथ बन जाता है। किन्तु जब कोई अपना है ही नहीं, कोई किसी का सहयोग कर ही नहीं सकता है; तब साथ की बात ही व्यर्थ है।

जगत में संयोग हैं, पर साथ नहीं। संयोग से इन्कार करना भी भूल है और साथ मानना भी भूल है।

एकत्व (अकेलापन) आत्मा की मजबूरी नहीं, सहजस्वरूप है। एकत्व आत्मा का ऐसा स्वभाव है, जो अनादिकाल से प्रतिसमय उसके साथ है और अनन्तकाल तक रहेगा; क्योंकि वह आत्मा का द्रव्यगत स्वभाव है। निज में एकत्व के समान पर से अन्यत्व भी वस्तु की स्वभावगत विशेषताएँ हैं, इनके बिना वस्तु का अस्तित्व भी संभव नहीं। अतः अन्यत्व भी आत्मा का द्रव्यगत स्वभाव है।

5. अन्यत्व भावना ह एकत्व और अन्यत्व में अस्ति-नास्ति का ही अन्तर है। जिस बात का एकत्व भावना में अस्तिपरक चिन्तन किया जाता है, उसी बात का अन्यत्व भावना में नास्तिपरक चिन्तन होता है।

संयोगी परपदार्थों से निज परमात्मतत्त्व की पारमार्थिक अत्यन्त भिन्नता का अनेक प्रकार से किया गया चिन्तन ही अन्यत्व भावना है। जैसे ह्व जीव जीव है और शरीर शरीर, जीव कभी शरीर नहीं हो सकता है और न शरीर जीव। जीव और शरीर एक क्षेत्रावगाह हो जाने पर भी न तो जीव शरीर हो

जाता है और न शरीर जीव, संयोगी दशा में भी जीव जीव रहता है और शरीर शरीर। वस्तुतः वे मिलते ही नहीं, मात्र मिले दिखते हैं; क्योंकि किसी में मिलना उनका स्वभाव ही नहीं है। किसी में मिलने में स्वयं को मिटा देना पड़ता है और कोई वस्तु स्वयं को कभी मिटा नहीं सकती। वस्तु ही उसे कहते हैं, जो कभी मिटे नहीं, सदा सत् रूप ही रहे। अतः कोई वस्तु किसी में कभी मिलती नहीं, मात्र मिली कही जाती है। यही कारण है कि जीव में शरीर कभी मिलता नहीं, एकक्षेत्रावगाह रूप संयोग देखकर मात्र मिला कहा जाता है, हैं तो वे परस्पर अत्यन्त भिन्न-भिन्न ही।

उक्त सत्य के गहरे मंथन का नाम ही अन्यत्वभावना है। पर से भिन्न निज में समा जाना ही वास्तविक अन्यत्वभावना है। अन्यत्वभावना का मूलभूत प्रयोजन पर से अन्यत्व है, एकत्व नहीं।

पर से एकत्व-ममत्व तोड़ने का एकमात्र उपाय प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्र सत्ता का सम्यक् बोध ही है, स्वतंत्रता का अविराम चिन्तन-मनन है। निरन्तर चलने वाली यह चिन्तन प्रक्रिया ही अन्यत्व भावना है।

6. अशुचि भावना ह्व अशुचि भावना में देह संबंधी अशुचिता का चिन्तन किया जाता है; तथापि इसके चिन्तन की सीमा देह की अशुचिता तक ही सीमित नहीं है; अपितु इसमें आत्मा की पवित्रता का चिन्तन एवं रमणता भी समाहित हो जाती है।

यह शरीर स्वयं तो अशुचि है ही, इसके संसर्ग में आनेवाला प्रत्येक पदार्थ भी इसके संयोग से अपवित्र हो जाता है। शुद्ध, सात्विक, सुस्वादु, सुन्दरतम भोजन इसके संसर्ग में आते ही उच्छिष्ट हो जाता है, मुँह में डालते ही अपवित्र हो जाता है; चबाया हुआ ग्रास हाथ में लेते ही स्वयं को ग्लानि होती है। पेट में पहुँच जाने के बाद वमन हो जावे तो उसे कोई छूने को भी तैयार नहीं होता। अधिक काल तक देह के सम्पर्क में रहने पर तो वह मल-मूत्र में परिणमित हो ही जाता है।

देह संबंधी रागात्मक विकल्प तरंगों के शमन के लिए ज्ञानीजनों द्वारा

क्रिया जाने वाला उक्त देह संबंधी अशुचिता का बार-बार चिंतन ही अशुचिभावना है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिनागम में वर्णित अनित्य भावना से लेकर अशुचिभावना तक का सम्पूर्ण चिंतन संयोगी पदार्थों के इर्द-गिर्द ही घूमता रहा है। संयोगी पदार्थों में भी आत्मा के अत्यन्त निकटवर्ती संयोगी पदार्थ होने से शरीर ही केन्द्रबिन्दु बना रहा है।

अनित्यभावना में मृत्यु की चर्चा करके शरीर की ही क्षणभंगुरता का चिंतन किया गया है, अशरणभावना में 'मरने से कोई बचा नहीं सकता' की बात करके शरीर के संयोग को अशरण कहा जाता है। इस संसार में अनेक देहों को धारण किया, पर किसी देह के संयोग में सुख प्राप्त नहीं हुआ। शरीर के संयोग-वियोग का नाम ही तो जन्म-मरण है; जन्म-मरण के अनंत दुःख भी जीव अकेला ही भोगता है, कोई भी संयोग साथ नहीं देता; देहादि सभी संयोगी पदार्थ आत्मा से अत्यन्त भिन्न ही हैं ह्व यही चिन्तन एकत्व और अन्यत्व भावनाओं में होता है। स्व और पर शरीर की अशुचिता का विचार ही अशुचिभावना में किया जाता है।

इसप्रकार यह निश्चित है कि उक्त सम्पूर्ण चिंतन देह को केन्द्रबिन्दु बनाकर ही चलता है। उक्त सम्पूर्ण चिन्तन प्रक्रिया का एकमात्र प्रयोजन दृष्टि को देहादि संयोगी पदार्थों पर से हटाकर स्वभावसन्मुख ले जाना है। उक्त प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर ही अनित्यादि भावनाओं की चिंतन प्रक्रिया का स्वरूप निर्धारण हुआ है।

7. **आस्रवभावना** ह्व आस्रवभावना में आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वादि कषायभावों का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि आस्रव अनित्य हैं, आत्मा नित्य है; आस्रव अध्रुव हैं, आत्मा ध्रुव है; आस्रव अशरण हैं, आत्मा परमशरण है; आस्रव जड़ हैं, आत्मा चेतन है; आस्रव दुःखस्वरूप हैं, आत्मा सुखस्वरूप है; आस्रव दुःख के कारण हैं, आत्मा सुख का कारण है। यद्यपि ये आस्रवभाव आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं, आत्मा से निबद्ध हैं, तथापि आत्मस्वभाव से अन्य हैं, विपरीत

स्वभाववाले हैं; अतः हेय हैं; श्रद्धेय नहीं, उपादेय भी नहीं, मात्र ज्ञान के ज्ञेय हैं, और आस्रवभावों से अन्य यह आत्मा परमज्ञेय है, परमश्रद्धेय है, परमध्येय है, परम-उपादेय है।

इसप्रकार का सतत् चिंतन ही आस्रव भावना है। आस्रवभावना के चिंतन की विषयवस्तु संयोगीभाव हैं।

8. **संवरभावना** ह्व संवरभावना की चिन्तन प्रक्रिया में भेदविज्ञान व आत्मानुभूति की मुख्यता है। आत्मानुभव की भावना ही वास्तविक संवरभावना है। आत्मानुभव भेदविज्ञानपूर्वक होता है; अतः आत्मानुभव के साथ भेदविज्ञान की भावना भी संवरभावना में भरपूर की जाती है।

सम्पूर्ण जगत को दो भागों स्व व पर में विभाजित करके पर से विमुख होकर स्वसन्मुख होना ही भेदविज्ञान है, आत्मानुभूति है, संवर है; संवरभावना है, संवरभावना का फल है।

धर्म का आरंभ संवर से होता है। सुखस्वभावी आत्मा के आश्रय से मोह-राग-द्वेष का अभाव होकर जो अनाकुल आनन्द उत्पन्न होता है, वही संवर है; अतः संवर सुखरूप है तथा मोह-राग-द्वेष के अभावरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन ही संवर है। यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप परिणमन मोक्षमार्ग होने से सुख का कारण भी है। अतीन्द्रिय आनन्दमय होने से यही रत्नत्रय संवर भावना का सुमधुर फल भी है।

9. **निर्जरा भावना** ह्व निर्जरा भावना और निर्जरा तत्त्वज्ञानी के ही प्रकट होते हैं, अज्ञानी के नहीं। शुद्धोपयोग से समृद्ध तप ही निर्जरा के मुख्य हेतु हैं। निर्जरा संवरपूर्वक ही होती है। निर्जरा के कारणों में संवर के कारणों के अतिरिक्त बारह प्रकार के तप को विशेषरूप से गिनाया गया है।

शुद्धोपयोगरूप आत्मध्यान की निरन्तर वृद्धि ही भावनिर्जरा है और द्रव्यनिर्जरा का मूल है।

धर्म की उत्पत्ति संवर, वृद्धि निर्जरा और पूर्णता मोक्ष है। आत्मशुद्धि ही धर्म है; अतः इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि शुद्धि की उत्पत्ति संवर, शुद्धि की वृद्धि निर्जरा और शुद्धि की पूर्णता ही मोक्ष है।

भेदविज्ञान और आत्मानुभूति पूर्वक निश्चयरत्नत्रयरूप शुद्धि की उत्पत्ति व स्थिति भावसंवर है और उसके निमित्त से आते हुए कर्मों का रुकना द्रव्यसंवर; आत्मध्यानरूप शुद्धोपयोग से उक्त शुद्धि की वृद्धि होते जाना ह्व शुद्धि का निरन्तर बढ़ते जाना भावनिर्जरा है और उसके निमित्त से पूर्वबद्ध कर्मों का समय से पूर्व ही खिरते जाना द्रव्यनिर्जरा है; तथा पूर्णशुद्धि का प्रगट हो जाना ही भावमोक्ष है, तदनुसार सम्पूर्ण द्रव्यकर्मों से आत्मा का मुक्त हो जाना द्रव्यमोक्ष है।

जिसप्रकार वृक्ष की उत्पत्ति बिना उसकी वृद्धि और पूर्णता संभव नहीं है। उसीप्रकार आत्मशुद्धि की उत्पत्ति बिना उसकी वृद्धि और पूर्णता संभव नहीं है। यही कारण है कि निर्जरा संवरपूर्वक ही होती है।

संवर मोक्षमार्ग का आरंभ है और निर्जरा मोक्षमार्ग; अतः संवरपूर्वक निर्जरारूप परिणमन ही मोक्षमार्ग में आरूढ़ होना है। इसी दिशा में निरन्तर बढ़ते रहने की भावना ही निर्जराभावना है।

10. लोकभावना ह्व लोकभावना की विषयवस्तु अत्यन्त विस्तृत है। लोकभावना में छहद्रव्यों के समुदायरूप लोक की बात भी चिन्तन का विषय बनती है और लोक की भौगोलिक स्थिति भी; किन्तु इस भावना में मूलबात लोक के स्वरूप प्रतिपादन की नहीं, सम्यग्ज्ञान व समताभाव बिना जीव के अनादि परिभ्रमण की है; क्योंकि सम्यग्ज्ञान व समताभाव की तीव्रतम रुचि जाग्रत करना ही इस भावनाओं के चिन्तन का मूल प्रयोजन है।

लोकभावना की विषयवस्तु के विस्तार में जावें तो उसमें लगभग सम्पूर्ण लोकालोक ही समाहित हो जाता है; जो कुछ भी जिनागम में कहा गया है, वह सब कुछ आ जाता है। जिनागम में प्रतिपादित सम्पूर्ण विषय वस्तु का जो कुछ भी आत्मोन्मुखी वैराग्यप्रेरक, भेदविज्ञानपरक चिन्तन है, वह सब कुछ लोकानुप्रेक्षा का ही चिन्तन है।

निजतत्त्व की तीव्रतम रुचि जाग्रत करने के लिए निजतत्त्व की मुख्यता से किया गया लोक का चिन्तन ही लोकभावना है।

लोकभावना में लोक के स्वरूप, आकार-प्रकार एवं जीवादि पदार्थों का जो विस्तृत विवेचन किया जाता है; वह सब तो व्यवहार है, निश्चयलोक तो चैतन्यलोक ही है। उस चैतन्यलोक में रमण करना एवं रमण करने की उग्रतम भावना ही निश्चय-लोकभावना है; क्योंकि लोकभावना के चिन्तन का असली उद्देश्य तो आत्मारोधना की सकल प्रेरणा ही है।

11. बोधि दुर्लभभावना ह्व अपने को जानना, पहिचानना एवं अपने में लीन हो जाना ही बोधि है ह्व दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है। यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप बोधि ही जगत में दुर्लभ है, महादुर्लभ है और इस बोधि की दुर्लभता का विचार, चिन्तन, बार-बार चिन्तन ही बोधिदुर्लभ भावना है।

बोधिदुर्लभ भावना में संयोग की सुलभता और दुर्लभता एवं बोधिलाभ की सुलभता और दुर्लभता ह्व चारों का ही चिन्तन किया जाता है; क्योंकि बोधि की दुर्लभता के चिन्तन का यही वास्तविक स्वरूप है। इसमें उक्त चारों बिन्दुओं का गंभीर चिन्तन समाहित हो जाता है।

यह चित्त अनादिकाल से संयोगों में ही अनुरक्त है, अतः इस भावना में सर्वप्रथम संयोगों को अनेकों बार प्राप्त कर लेने के पक्ष को उजागर कर, उन्हें सुलभ बताकर, उच्छिष्ट बताकर; उनसे विरक्ति उत्पन्न की जाती है और आज तक प्राप्त न होने के आधार पर बोधिलाभ को दुर्लभ बताकर उसके प्रति अनुरक्ति उत्पन्न की जाती है।

तत्पश्चात् बोधिलाभ की अति दुर्लभता का भान कराने के लिए उन संयोगों को भी दुर्लभ बताया जाता है, जिन संयोगों में बोधिलाभ की प्राप्ति संभव होती है; किन्तु जब चित्त बोधिलाभ की दुर्लभता से आक्रान्त होकर शिथिल होने लगता है तो स्वाधीनता के आधार पर बोधिलाभ की सुलभता बताकर उसे प्राप्त कर लेने के लिए पुरुषार्थ को जाग्रत किया जाता है, उत्साह को बढ़ाया जाता है।

बोधि दुर्लभभावना के चिन्तन का वास्तविक स्वरूप यही है कि जब तक हम जाग्रत नहीं हुए, तब तक महादुर्लभ और आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ के लिए कसर कसकर सन्नद्ध लोगों के लिए महासुलभ है।

बोधिदुर्लभभावना में बोधि की दुर्लभता बताकर उनकी प्राप्ति के लिए सतर्क किया जाता है और सुलभता बताकर उसके प्रति अनुत्साह को निरुत्साहित किया जाता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि बोधिदुर्लभ भावना के चिंतन में दोनों पक्ष समानरूप से उपयोगी हैं, आवश्यक हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं।

लोकभावना व धर्मभावना के बीच समागत बोधिदुर्लभभावना का मूल अभिप्रेत यह है कि यह आत्मा षट्द्रव्यमयी विस्तृत लोक से दृष्टि हटाकर ज्ञानानन्द स्वभावी निज लोक को जानकर-पहिचानकर उसी में जम जाने, रम जाने रूप रत्नत्रय स्वरूप धर्मदशा को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर अनंतसुखी हो।

12. धर्मभावना ह्व धर्मभावना में धर्म की महिमा बताकर धर्म का स्वरूप स्पष्ट कर उसे धारण करने का मार्ग प्रशस्त किया जाता है।

धर्मभावना में निज भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का ही विचार किया जाता है, चिन्तन किया जाता है, धर्म की ही बारंबार भावना भाई जाती है। इसमें रत्नत्रय धर्म की अचिन्त्य महिमा बताकर जीवन को धर्ममय बना लेने की पावन प्रेरणा दी जाती है।

निज भगवान आत्मा की आराधना ही वास्तविक धर्म है; क्योंकि निजभगवान आत्मा की आराधना का नाम ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। पर और पर्याय से भिन्न निज आत्मा का अवलोकन ही सम्यग्दर्शन है, उसका परिज्ञान ही सम्यग्ज्ञान एवं उसमें ही लीनता-रमणता सम्यक्चारित्र है। इसे ही आत्मोपासना भी कहते हैं।

आत्मदर्शन-ज्ञान-ध्यानरूप आत्मोपासना ही साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, अतः यही परमधर्म है। इस परमधर्म की प्राप्ति के लिए बार-बार किया गया चिन्तन-मनन ही धर्मभावना है।

पर्याय की पामरता के नाश का उपाय पर्याय की पामरता का चिंतन नहीं, स्वभाव के सामर्थ्य का श्रद्धान है, ज्ञान है, ध्यान है। स्वस्वभाव के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान का नाम ही धर्म है, धर्म की साधना है, आराधना है, धर्म की भावना है, धर्मभावना है।

उक्त दशधर्मों और बारह भावनाओं के संबंध में विशेष जानने के लिए डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित 'धर्म के दशलक्षण' और 'बारह भावना : एक अनुशीलन' का अध्ययन करना चाहिए।

बाईस परीषहजय ह्व दुःख का कारण मिलने पर दुःखी न होना, सुख का कारण मिलने पर सुखी न होना, ज्ञेयरूप से उनका जाननेवाला रहना ही सच्चा परिषहजय है। अथवा सुख-दुःख के कारणों में, संयोगों में राग-द्वेष न करके वीतराग रहना ही परीषहजय है। यह सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होता है। परीषह बाईस हैं ह्व क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।¹

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य ह्व ये दोष तो शरीर व शरीर के साथ संबंध रखने वाले जड़ द्रव्यों की अवस्थाएँ हैं। अरति, स्त्री चर्या, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार चारित्रगुण की अशुद्ध अवस्था है और द्रव्यकर्म पुद्गल की अवस्था है। चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ह्व ये छह भी शरीर और उसके साथ संबंध रखनेवाले परद्रव्यों की अवस्था है, जो कि मात्र वेदनीय कर्म का उदय बतलाता है। प्रज्ञा का अपूर्ण विकास व ज्ञान की अनुपस्थिति ज्ञानावरणीयकर्म के उदय की उपस्थिति बतलाता है। अदर्शन दर्शनमोह की मौजूदगी तथा अलाभ अन्तराय कर्म की उपस्थिति बतलाता है।

चारित्र ह्व निःकषायभाव अर्थात् सकलकषाय रहित उदासीन भाव चारित्र है। इसके पाँच भेद हैं ह्व सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात।

(क) सामायिक ह्य सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, इष्ट-अनिष्ट आदि विषमताओं में राग-द्वेष न करना बल्कि साक्षी भाव से उनका ज्ञाता-दृष्टा बने हुए समता स्वभावी आत्मा में स्थित रहना अथवा सर्व सावद्य योग (मन-वचन-काय) से निवृत्ति सामायिक है।¹ यह चारित्र छठे से नववें गुणस्थान तक होता है।

(ख) छेदोपस्थापना ह्य छेद यानि व्रत के भंग होने पर निर्विकार निज आत्मानुभवरूप निश्चय प्रायश्चित्त के बल से निज आत्मा में स्थित होना छेदोपस्थापना है।

जब जीव एक ही समय में समस्त विकल्पों के त्यागरूप परम सामायिक में स्थित होने में असमर्थ होता हुआ निर्विकल्प दशा से च्युत हो जाता है, तब वह व्रत भंग हो जाने पर प्रायश्चितादि से शुद्धि कर पुनः आत्मा को संयम में स्थिर करता है उसे छेदोपस्थाना चारित्र कहते हैं। विकल्पात्मक व्यवहार चारित्र का नाम छेदोपस्थापना है तथा निर्विकल्प साम्य चारित्र सामायिक है।

छेदोपस्थापना चारित्र छठे गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है।

(ग) परिहारविशुद्धि ह्य मिथ्यात्व, रागादि विकल्प भावों के परिहार से जो सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है, वह परिहारविशुद्धिचारित्र है। यह अत्यन्त निर्मल चारित्र है, जो कि अत्यन्त कठोर आचरण करने वाले धीर, उच्चदर्शी साधुओं को ही होता है। जिनके यह संयम होता है उनके शरीर से जीवों की विराधना नहीं होती। यह छठे व सातवें गुणस्थान में ही होता है। गमनागमनरहित आठवें आदि गुणस्थानों में यह नहीं हो सकता; क्योंकि गमनागमन प्रवृत्ति करने वाला ही उसका परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करनेवाला नहीं। आठवें आदि गुणस्थानों में गमनादि प्रवृत्ति ही नहीं होती; अतः उसके परिहार का प्रश्न ही नहीं उठता।

1. श्रावक के सामायिक व्रत को प्रतिमा कहते हैं और साधु की सार्वकालिक समता को सामायिक चारित्र कहते हैं।

(घ) सूक्ष्मसांपराय ह्य जिस चारित्र में कषाय अति सूक्ष्म हो, वह सूक्ष्मसांपरायचारित्र है। यह चारित्र दशवें गुणस्थान में होता है।

(च) यथाख्यात ह्य सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के क्षय अथवा उपशम से आत्मा के शुद्धस्वरूप में स्थिर होना यथाख्यातचारित्र है। यह ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

6. निर्जरातत्त्व

आत्मा से बंधे कर्मों के बंध का एकदेश अभाव होना ही निर्जरा है। चैतन्यस्वभावी त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व के आश्रय से होनेवाली अकषाय भावरूप शुद्धि की वृद्धि ही निर्जरा तत्त्व है। निर्जरा संवरपूर्वक ही होती है।

निर्जरा के भेद ह्य निर्जरा दो प्रकार की होती है ह्य भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा।

ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के लक्ष्य के बल से स्वरूप स्थिरता की वृद्धि द्वारा आंशिक शुद्धि की वृद्धि और अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्था का आंशिक नाश करना भावनिर्जरा है; अर्थात् आत्मा के जो शुद्धभाव कर्मों के झड़ने में हेतु हैं, वे भाव ही भावनिर्जरा हैं और उसका निमित्त पाकर जड़कर्म का अंशतः खिर जाना द्रव्यनिर्जरा है।

निर्जरा तप से होती है। इच्छाओं के निरोध को तप कहते हैं। तप दो प्रकार का है ह्य अंतरंग और बहिरंग।

अंतरंग तपहृह प्रकार का हैह्यप्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

बहिरंग तप भी हृह प्रकार का है ह्य अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश।

इसप्रकार कुल मिलाकर तप 12 प्रकार के हैं। जिसका विवेचन उत्तम तप के वर्णन में किया जा चुका है।

संक्षेप में कहें तो आत्मा की वीतराग परिणतिरूप शुद्धभाव का नाम तप है। निर्जरा का कारण यही शुद्धभाव रूप तप ही है। सच्चा तप सम्यग्दृष्टि के ही होता है। निश्चय तप के साथ होनेवाली भोजनादिक के

त्यागरूप क्रियाओं और विकल्परूप शुभभाव भी व्यवहार से तप कहे जाते हैं, पर वह उपचार मात्र है।

कर्मों के झड़नेरूप निर्जरा ज्ञानियों के भी होती है और अज्ञानियों के भी। ज्ञानियों की निर्जरा को **अविपाक निर्जरा** कहते हैं तथा अज्ञानियों की निर्जरा को **सविपाक** और **अकाम निर्जरा** कहते हैं।

तप द्वारा समय से पूर्व कर्मों का झड़ना **अविपाक निर्जरा** है। अतः अविपाक निर्जरा केवल तपस्वियों के ही होती है। अविपाक निर्जरा सब कर्मों की होती है। यही मोक्ष का कारण है।

समय संपूर्ण होने पर या मंद कषायादि का कारण पाकर कर्मों का झड़ना **सविपाक निर्जरा** है। यह निर्जरा चतुर्गति के सभी जीवों को निरंतर होती रहती है। सविपाक निर्जरा मात्र उदयगत कर्मों की ही होती है।

अपने अभिप्राय से न किया गया विषयों का त्याग तथा परतंत्रता के कारण भोग-उपभोग का निरोध होने पर उसे शान्ति से सह जाना **अकाम निर्जरा** है।

यद्यपि सविपाक निर्जरा व अकाम निर्जरा को निर्जरा कहा गया है, तथापि मोक्षमार्ग में जो निर्जरातत्त्व आता है, उसका इनसे कोई संबंध नहीं है; क्योंकि उनसे आत्मा के मुक्तिरूपी कार्य में कोई सहयोग नहीं मिलता।

7. मोक्षतत्त्व

मोह-राग-द्वेष आदि समस्त विकारों, दुःखों, ज्ञानावरणादि कर्मों और देहादिक नोकर्मों से पूर्णतः मुक्त हो जाना ही मोक्ष है।

मोक्ष के भेद हूँ यह दो प्रकार का होता है हूँ **भावमोक्ष** और **द्रव्यमोक्ष**।

आत्मा के जो शुद्धभाव, कर्मबंधन और मोह-राग-द्वेष आदि विकारीभावों से पूर्णतः मुक्त होने में हेतु हैं, वे भाव; भावमोक्ष हैं अर्थात् अशुद्धदशा का सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर आत्मा के ज्ञानादि गुणों का पूर्ण विकास, पूर्ण शुद्ध पर्याय का प्रकट होना ही **भावमोक्ष** है और निमित्तकारण ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों एवं देहादि नोकर्मों से सर्वथा छूट जाना **द्रव्यमोक्ष** है।

भावमोक्ष केवलज्ञान प्रकट होने पर चार घातिकर्मों के नाश होने पर तेरहवें गुणस्थान में प्रकट होता है। केवलज्ञान होने पर भावमोक्ष हुआ कहलाता है।

शेष चार अघाति कर्मों का अभाव होने पर द्रव्यमोक्ष होता है, यही सिद्धदशा है। मोक्ष केवलज्ञानपूर्वक ही होता है। अर्थात् भावमोक्ष के बल से द्रव्यमोक्ष होता है।

मोक्ष, संवर-निर्जरापूर्वक होता है। निर्जरा की पूर्णता होने पर ही जीव मुक्ति पद प्राप्त करता है। आत्मा की मुक्तदशा सिद्ध दशा है। सिद्धदशा अनन्त-अतीन्द्रिय आनन्दरूप है।

संसार के सभी जीव मोक्ष चाहते हैं अतः मोक्ष साध्य है। मोक्ष के साधक होने से संवर निर्जरा मोक्षमार्ग हैं; क्योंकि संवर-निर्जरा ही मोक्ष प्राप्ति के उपाय हैं। अतः संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व उपादेय तत्त्व हैं।

आस्रव-बंध, पुण्य-पाप संसारमार्ग होने से हेयतत्त्व हैं। आश्रय करने की अपेक्षा से त्रिकाली ध्रुव शुद्ध एक जीव तत्त्व ही परम उपादेय है एवं इसके अतिरिक्त समस्त जीव-अजीव न तो हेय हैं, न उपादेय। वे ज्ञेय हैं, मात्र जानने योग्य हैं।

निजात्म तत्त्व के ज्ञान, श्रद्धान और लीनता से उपादेय तत्त्व-संवर, निर्जरा और मोक्ष यथाक्रम प्रकट होते हैं। आस्रव, बंध, पुण्य-पाप यथाक्रम छूटते जाते हैं, सारा जगत् **ज्ञानी का ज्ञेय** मात्र बनकर रह जाता है।

सात तत्त्व संबंधी भूल

जैनशास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी मिथ्यादृष्टि जीव को तत्त्व का सही भावभासन नहीं होता। जबतक जीवादि सात तत्त्वों का विपरीताभिनिवेश रहित सही भावभासन (अंतरंगज्ञान) नहीं होता; तब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

अनादिकाल से जीव को सात तत्त्वों के संबंध में भ्रान्ति रही है। जिनका वर्णन पंडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में विस्तार से किया है। उसी के आधार पर यहाँ संक्षेप में उन भूलों को स्पष्ट किया जाता है।

जीव और अजीव तत्त्व संबंधी भूल हूँ जीव को अजीव मानना जीव तत्त्व संबंधी भूल है। जैसे हूँ अनादिकाल से यह जीव कर्म के निमित्त से अनेक शरीर (पर्यायों) धारण करता है, क्योंकि अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा की शरीर में 'यह मैं हूँ' ऐसी 'अहंबुद्धि' होती है। अतः अज्ञानीजीव शरीरादि की परिणति को अपनी परिणति मानकर मैं निर्बल हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं मनुष्य हूँ हूँ इत्यादिरूप से पर्याय में ही अहंबुद्धि करता है। जबकि जीव का स्वभाव तो त्रिकाल जानने-देखने रूप ज्ञान-दर्शनमय है और पुद्गल से बने शरीरादि मूर्तिक अचेतन हैं।

इसीप्रकार जीव बाह्य सामग्री का संयोग होने पर उन्हें अपनी मानता हुआ उनमें 'ममत्वबुद्धि' करता है, जैसेहपत्नी मेरी है, पैसा मेरा है आदि।

जीव की पुत्रादिक में 'ये हैं सो मैं ही हूँ' ऐसी 'भ्रमबुद्धि' भी होती है।

जीव और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, इसलिए जो क्रिया होती है, उसे जीव अपनी मानकर ऐसा मानता है कि हूँ हाथ आदि से मैंने स्पर्श किया, जीभ से स्वाद लिया, कानों से सुना आदि। इसप्रकार जीव व पुद्गल के परस्पर निमित्त से होनेवाली क्रियाओं को दोनों की सम्मिलित क्रिया मानता हुआ अनेक प्रकार से जीव अपने को और शरीर को एक ही मानता है।

जैनशास्त्रों में वर्णित जीव के त्रस-स्थावरादि तथा गुणस्थान, मार्गणा आदि भेदों को तथा अजीव के पुद्गलादि भेदों व वर्णादि पर्यायों को जान लेने पर भी अध्यात्म शास्त्रों में वर्णित भेदविज्ञान और वीतरागदशा होने के कारणभूत कथन को नहीं पहिचानता है अतः उसे सच्चा श्रद्धान नहीं होता है।

वह यह अनुभव नहीं करता कि मैं आत्मा हूँ और शरीरादि मुझसे भिन्न हैं।

इसप्रकार जब जीव अनेक प्रकार से अजीव व अजीव की क्रियाओं में अपनापन स्थापित करता है, तब वह जीव तत्त्व संबंधी भूल करता है।

अजीव को जीव मानना अजीव तत्त्व संबंधी भूल है। जैसे शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति मानना, शरीर के बिछुड़ने पर अपना मरण मानना, शरीर की सुन्दरता से अपने को सुन्दर और कुरूपता से कुरूप मान लेना या शरीराश्रित उपदेशादि व उपवासादि क्रियाओं में भी अपनापन अनुभव करना।

इसप्रकार जीव और शरीर को यह आत्मा भिन्न-भिन्न नहीं पहिचान पाता, यही अज्ञान है तथा शरीर से भिन्न आत्मा की प्रतीति और अनुभूति ही जीव और अजीव तत्त्व संबंधी सच्चाज्ञान है।

आस्रव तत्त्व संबंधी भूल हूँ राग-द्वेष-मोहादि विकारी भाव प्रकट में दुःख को देने वाले है, उन्हें सुखकर मानना ही आस्रवतत्त्वसंबंधी भूल है। जैसे हिंसादि पापास्रवों को हेय और अहिंसादि पुण्यास्रवों को उपादेय मानना; जबकि दोनों बंध के कारण होने से हेय ही हैं। निर्बंधदशा तो वीतरागरूप होकर ज्ञातादृष्टा रूप रहना है, वही उपादेय हैं। जब तक ऐसी दशा नहीं होती तब तक प्रशस्त राग (शुभराग) रूप प्रवर्तन होता है; परन्तु श्रद्धा तो ऐसी ही होना चाहिए कि यह भी बंध का कारण है, हेय है।

आस्रव तत्त्व समझने में अज्ञानी यह भूल करता है कि कर्मास्रव से बचने के लिए बाह्य क्रिया पर ही दृष्टि रखता है, पर अन्तर में उठनेवाले मोह-राग-द्वेष भावों से बचने का उपाय नहीं करता है। आस्रव की भूल को बताते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं कि हूँ

“यह जीव आस्रवों के कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के बाह्य रूप को तो मानता है; परन्तु अंतरंग इन भावों की जाति को नहीं पहिचानता। जैसे हूँ अन्य देवादि के सेवनरूप गृहीत मिथ्यात्व को जानता है, परन्तु अनादि अगृहीत मिथ्यात्व है उसे नहीं पहिचानता। बाह्य त्रस-स्थावर की हिंसा तथा इन्द्रिय-मन के विषयों में प्रवृत्ति को अविरति जानता है किन्तु हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है और विषयसेवन में अभिलाषा मूल है हूँ इस पर ध्यान नहीं जाता। बाह्य क्रोधादि को कषाय

जानता है, अभिप्राय में राग-द्वेष रहते हैं उनको नहीं पहिचानता तथा बाह्य चेष्टा को योग जानता है, शक्तिभूत योगों को नहीं जानता।”¹

इसप्रकार जीव आस्रव तत्त्व के संबंध में भूल करता है।

बंधतत्त्व संबंधी भूल ह्य शुभकर्मों के फल में राग करना और अशुभकर्मों के फल में द्वेष करना ही बंध तत्त्व संबंधी भूल है क्योंकि शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म संसार का कारण होने से हानिकारक ही हैं; मोक्ष तो शुभ-अशुभ बंध के नाश से ही होता है।

आस्रव-बंध के सर्वथा अभाव का नाम ही मोक्ष है। यद्यपि मोक्षमार्ग में इन दोनों का स्थान अभावात्मक ही है; किन्तु इन्हें छोड़ने के लिए भी इनका सही ज्ञान आवश्यक ही है।

संवरतत्त्व संबंधी भूल ह्य आत्मज्ञान और आत्मज्ञान सहित वैराग्य संवर है और वे ही आत्मा को सुखी करनेवाले हैं, उन्हें कष्टदायी मानना ही संवर तत्त्वसंबंधी भूल है; क्योंकि ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति आनन्दमयी होती है, कष्टमयी नहीं। एक ही कारण से पुण्यबंध और संवर माननेरूप भूल अज्ञानी जीव करता है, इसे बताते मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है कि ह्य

“अज्ञानी जीव शास्त्र में कहे संवर के कारण गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र को भी यथार्थ नहीं जानता। जैसे ह्य

(क) पाप चिंतवन न करे, मौन धारण करे, गमनादि न करे, उसे गुप्ति मानता है पर भक्ति आदि रूप प्रशस्त राग से नाना विकल्प (राग-द्वेष युक्त विचार) होते हैं, उनकी तरफ लक्ष्य नहीं। वीतराग भाव होने पर मन-वचन-काय की चेष्टा न हो, वही सच्ची गुप्ति है।

(ख) इसीप्रकार यत्नाचार प्रवृत्ति को समिति मानता है, पर उसे यह पता नहीं कि हिंसा के परिणामों से पाप होता है और रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्य बंध किससे होगा? मुनियों के किंचित् राग होने पर गमनादि क्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओं में अत्यासक्ति के अभाव में

प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती तथा अन्य जीवों को दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, अतः स्वयमेव दया पलती है, यही सच्ची समिति है।

(ग) बंधादिक के भय से, स्वर्ग-मोक्ष के लोभ से क्रोधादि न करे, क्रोधादि का अभिप्राय मिटा नहीं पर अपने को क्षमादि धर्म का धारक मानता है। तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जब कोई पदार्थ इष्ट और अनिष्ट रूप भासित नहीं होते तब स्वयमेव ही क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते, तब सच्चा धर्म होता है।

(घ) अनित्यादि भावना के चिन्तवन से शरीरादिक को बुरा जान उदास होने को अनुप्रेक्षा कहता है पर उसकी उदासीनता द्वेष रूप होती है। वस्तु का सही स्वरूप पहिचान भला जान राग नहीं करना, बुरा जान द्वेष नहीं करना, सच्ची उदासीनता है।

(च) क्षुधादिक होने पर उसके नाश का उपाय नहीं करने को परिषहजय जानता है, अंतर में क्लेशरूप परिणाम रहते हैं, उन पर ध्यान नहीं देता। इष्ट-अनिष्ट में सुखी-दुखी नहीं होना व ज्ञाता-दृष्टा रहना सच्चा परिषहजय है।

(छ) हिंसादि के त्याग को चारित्र मानता है तथा महाव्रतादि शुभयोग को उपादेय मानता है पर तत्त्वार्थ सूत्र में आस्रवाधिकार में अणुव्रत-महाव्रत को आस्रवरूप कहा है। वे उपादेय कैसे हो सकते हैं? तथा बंध का कारण होने से महाव्रतादि को चारित्रपना संभव नहीं। सकल कषाय रहित उदासीन भाव का नाम चारित्र है। मुनिराज मन्द कषायरूप महाव्रतादि का पालन तो करते हैं, पर उन्हें मोक्षमार्ग नहीं मानते।”¹

आस्रव को रोकना ही संवर है, अतः मोक्षमार्ग संवर से ही प्रारंभ होता है। मोक्षप्राप्ति के लिए मोक्षमार्ग की सही जानकारी भी आवश्यक है।

निर्जरा तत्त्व संबंधी भूल ह्य अज्ञानी जीव वीतरागभावरूप तप को

जानता नहीं है, बाह्य क्रिया में ही लीन रहता है, उसे ही तप मान उससे ही निर्जरा मानता है; जबकि जितना शुभभाव है वह बंध का कारण है, निश्चय धर्म तो वीतराग भाव है, शुद्धभाव है; वही निर्जरा का कारण है।

आत्मज्ञानपूर्वक इच्छाओं का अभाव ही निर्जरा है और वही आनंदमय है। उसे न जानकर एवं आत्मशक्ति को भूलकर इच्छाओं की पूर्ति में ही सुख मानना और इच्छाओं के अभाव को सुख नहीं मानना ही निर्जरा तत्त्व संबंधी भूल है।

पुराने (पूर्वबद्ध) कर्मों का नष्ट होना निर्जरा है, अतः यह भी मोक्षमार्ग ही है; इसलिए इसकी सही जानकारी भी अत्यन्त आवश्यक है।

मोक्षतत्त्वसंबंधी भूल ह्व स्वर्ग का कारण शुभभाव है और मोक्ष का कारण शुद्धभाव ह्व यह न जानकर स्वर्ग व मोक्ष के कारण को एक मानना इन्द्रियजन्य स्वर्ग सुख व अतीन्द्रिय मोक्षसुख को एक जाति का मानना मोक्ष तत्त्व संबंधी भूल है। तथा मुक्ति में पूर्ण निराकुलतारूप सच्चा सुख है, उसे तो जानना नहीं और भोग संबंधी सुख को ही सुख मानना तथा मुक्ति में भी इसी जाति के सुख की कल्पना करना मोक्षतत्त्व संबंधी भूल है।

मोक्ष अर्थात् परिपूर्ण आनन्दमय अवस्था, निराकुल सुख की प्राप्ति। अपना ध्येय, अपना उद्देश्य, साध्य को प्राप्त करने के लिए उसकी सही पहिचान आवश्यक है।

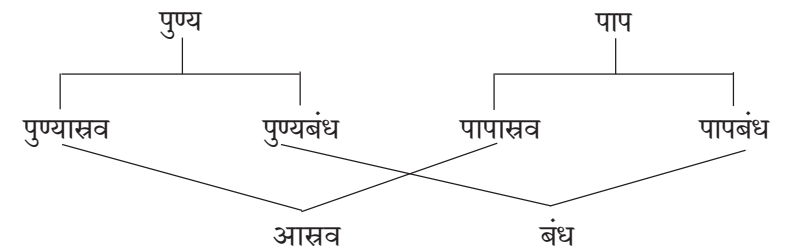
जिस जीव की एक तत्त्व की श्रद्धा में भूल हो उसकी समस्त तत्त्वों की श्रद्धा में भूल होती है। जबतक जीव इन सातों तत्त्वों संबंधी भूलों को दूर नहीं करेगा, तबतक उसे सच्चा सुख प्राप्त करने का मार्ग प्राप्त नहीं हो सकता।

नवपदार्थ

जैनदर्शन में जीवादि सप्त तत्त्वों में पुण्य और पाप को मिलाकर नवतत्त्व भी कहे गए हैं। जहाँ तत्त्वों की संख्या सात बताई गई है, वहाँ

पुण्य-पाप को आस्रव-बंध में सम्मिलित कर लिया गया है। वस्तुतः ये आस्रव-बंध के ही अवान्तर भेद हैं। इन्हें पृथक् से कथन करने का एकमात्र उद्देश्य इनकी ओर ध्यान आकर्षित करना ही है, कारण कि सामान्यजन इसके समझने में विशेष गलतियाँ करते हैं। वे पुण्य को भला और पाप को बुरा समझ लेते हैं, क्योंकि मुख्यतः पुण्य से मनुष्य और देवगति की प्राप्ति होती है और पाप से नरक व तिर्यच गति की। पर उनका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि चारों गतियाँ संसार ही हैं और संसार दुःखरूप ही है। संसार में प्रवेश कराने वाले पुण्य-पाप भले कैसे हो सकते हैं? पुण्य और पाप दोनों ही बंधरूप हैं; क्योंकि शुभभावों से पुण्यास्रव और पुण्यबंध होता है तथा अशुभभावों से पापास्रव और पापबंध होता है। बंध चाहे पुण्य का हो या पाप का, वह है तो आखिर बंध ही। उससे आत्मा बंधता ही है; मुक्त तो नहीं होता और आत्मा का हित अबंध (मोक्ष) दशा प्राप्त करने में है। यद्यपि पाप की अपेक्षा पुण्य को भला कहा गया है, किन्तु मुक्ति के मार्ग में उनका स्थान अभावात्मक ही है।

पुण्य और पाप का अन्तर्भाव आस्रव और बंध में किसप्रकार होता है, इसे निम्न चार्ट द्वारा आसानी से समझा जा सकता है ह्व



पुण्यभाव और पापभाव दोनों ही आत्मा के विकारी भाव हैं। देवपूजा, गुरु उपासना, दया, व्रत, शील, संयमादि के प्रशस्त परिणाम पुण्यभाव कहे जाते हैं, इनका फल अनुकूल संयोगों की प्राप्ति है।

हिंसा-झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह-संग्रह आदि के भाव पापभाव हैं और उनका फल लौकिक प्रतिकूलताएँ हैं। पुण्यभावों से पुण्यकर्म का

बंध होता है और पापभावों से पापकर्म बँधते हैं। इसप्रकार इनके भी द्रव्यपुण्य-भावपुण्य, द्रव्यपाप-भावपाप, ऐसे दो-दो भेद किए जा सकते हैं। जिनकी चर्चा आस्रव व बंध तत्त्व में कर चुके हैं। विशेष इतना कि भावास्रव, भावबंध, भावपुण्य और भावपाप ये सब आत्मा के विकारी भाव हैं और द्रव्यास्रव, द्रव्यबंध, द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप ये सब पुद्गल (कार्माणवर्गणा) के परिणामन हैं। इनके सर्वथा अभाव का नाम ही मोक्ष है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में द्रव्यव्यवस्था में जहाँ पुद्गलादि पाँच द्रव्यों को अजीव में शामिल किया है वहीं तत्त्वव्यवस्था में आस्रवादि तत्त्वों को अजीव में शामिल नहीं किया है; क्योंकि द्रव्यों में जो पुद्गलद्रव्य हैं, वह अजीव ही है, इसलिए उसको अजीव में शामिल किया जा सकता है; लेकिन आस्रव मात्र अजीव ही नहीं है, उनमें भावास्रव जीव का परिणाम हैं और द्रव्यास्रव पुद्गलरूप होने से अजीव है। अतः द्रव्यों की तरह तत्त्वों को बिना भेद किए अजीव में शामिल नहीं कर सकते।

यदि आस्रवादिक को अजीव में शामिल करना हो तो उनके जीवास्रव-अजीवास्रव, जीवबंध-अजीवबंध, जीवसंवर-अजीवसंवर, जीव-निर्जरा-अजीवनिर्जरा, जीवमोक्ष-अजीवमोक्ष हूँ ऐसे भेद करने पड़ेंगे और तभी जीवास्रव को जीव में, अजीवास्रव को अजीव में; जीवबंध को जीव में, अजीवबंध को अजीव में हूँ इसप्रकार शामिल कर सकते हैं।

यदि आस्रवादिक के जीवास्रव, अजीवास्रव उक्त भेद करके जीव-अजीव में शामिल करते हैं तो वह जीव दृष्टि का विषयभूत जीव नहीं रहेगा; जिसके आश्रय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, क्योंकि जीवास्रवादि जीव में शामिल करने से जीवास्रवादि में राग और मिथ्यात्व भी शामिल हो जाता है, पर्याय भी शामिल हो जाती हैं; इसलिए दृष्टि के विषयभूत जीव में से इन सभी को अलग रखने के लिए जैनदर्शन में आस्रवादिक जीव-अजीव से भिन्न तत्त्व कहे गए हैं।

आस्रव से लेकर मोक्ष तक हूँ इनमें जीव की सभी विकारी-अविकारी पर्यायें शामिल हैं। तत्त्व व्यवस्था में इन्हें अलग-अलग तत्त्व कहकर

जीव-अजीव से अलग-अलग कर दिया गया है। इसप्रकार समस्त विकारी-अविकारी पर्यायें आस्रवादि पाँच तत्त्वों में शामिल हैं, जीव में शामिल नहीं हैं। तथा समस्त विकारी-अविकारी पर्यायों से रहित जीव तत्त्व ही दृष्टि का विषय है।

दृष्टि के विषयभूत आत्मा में अपनापन स्थापित करना ही सम्यग्दर्शन हैं, उसे निजरूप जानना सम्यग्ज्ञान है और उसी आत्मा में रमण करना सम्यग्चारित्र है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र ही रत्नत्रय हैं। रत्नत्रय ही मुक्ति का मार्ग है।



आत्मा के अनन्त गुणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण श्रद्धा है। शेष समस्त गुण तो श्रद्धा का अनुसरण करते हैं। एक प्रकार से रुचि श्रद्धा का ही दूसरा नाम है। परपदार्थों से भिन्न अपनी आत्मा की रुचि ही सम्यक्-श्रद्धा है और निजात्मा से भिन्न परपदार्थों की रुचि ही मिथ्याश्रद्धा।

बल रुचि का अनुसरण करता है, अतः बल वहीं पड़ता है जहाँ रुचि होती है। अनन्त गुणों का बल उसी दिशा में कार्य करता है, जहाँ रुचि हो। यही कारण है कि आत्मरुचिवान व्यक्ति आत्मोन्मुखी हो जाता है और पर-रुचि वाला परोन्मुखी।

हूँ सत्य की खोज, पृष्ठ-54

चतुर्थ अध्याय सम्यग्ज्ञान

मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जीवादि सप्त तत्त्वों¹ का, विशेषकर आत्मतत्त्व का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

परस्पर विरुद्ध अनेक कोटि के स्पर्श करनेवाले ज्ञान को 'संशय' कहते हैं। जैसे ह्व वह सीप है या चाँदी?

विपरीत एक कोटि के निश्चय करनेवाले ज्ञान को 'विपर्यय' कहते हैं। जैसे सीप को चाँदी जान लेना।

'यह क्या है' या 'कुछ है' केवल इतना अरुचि और अनिर्णयपूर्वक जानने को 'अनध्यवसाय' कहते हैं। जैसे ह्व आत्मा कुछ होगा।

सम्यग्ज्ञान एक प्रकार से सच्चा तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान ही है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान में परद्रव्यों का जानना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि निज आत्मतत्त्व का। सम्यग्ज्ञान का मूल ज्ञेय 'पर' से विभक्त और 'निज' से अविभक्त आत्मा ही है। लौकिक पदार्थों के ज्ञान से इसका कोई प्रयोजन नहीं है।

मुक्ति के मार्ग में ह्व अप्रयोजनभूत लौकिक जानकारी सत्य या असत्य कैसी ही क्यों न हो ह्व आत्मानुभूति से सहित व्यक्ति का समस्तज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा अप्रयोजनभूत लौकिक जानकारी चाहे सत्य ही क्यों न हो, यदि उसे आत्मानुभूति प्रकट नहीं हुई है तो, उसका समस्त ज्ञान मिथ्याज्ञान ही कहा जाएगा।

सम्यग्ज्ञान में सम्यक् पद सम्यग्दर्शन की उपस्थिति का सूचक है और मिथ्याज्ञान में मिथ्या शब्द मिथ्यादर्शन की। अतः स्पष्ट ही है कि सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होता है। इसलिए ही जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन से युक्त

ज्ञान को 'सम्यग्ज्ञान' और मिथ्यादर्शन से युक्त ज्ञान को 'मिथ्याज्ञान' कहा है। उनके अनुसार ज्ञान के सम्यक् और मिथ्यापन का निर्णय लौकिक विषयों की सामान्य जानकारी की सच्चाई पर आधारित न होकर सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की उपस्थिति के आधार पर होता है।

जिसप्रकार दीपक और प्रकाश युगपत् होते हैं; तथापि दीपक हो तो प्रकाश होता है, इसलिए दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है; उसीप्रकार श्रद्धान और ज्ञान युगपत् होते हैं; तथापि श्रद्धान सम्यक् हो तो ज्ञान सम्यक् नाम पाता है; अतः श्रद्धान को कारण व ज्ञान को कार्य कहा है।

ज्ञान पाँच प्रकार का होता है ह्व मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान क्रमशः सुमति, सुश्रुत और सुअवधि कहे जाते हैं तथा मिथ्यादृष्टि के कुमति, कुश्रुत और कुअवधि। मनःपर्यय और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं, इसलिए उनमें इसप्रकार का भेद नहीं होता है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के पाँच और मिथ्यादृष्टि के तीन ह्व कुल ज्ञान आठ प्रकार के होते हैं। इनमें सम्यग्दृष्टि के होनेवाला पाँच प्रकार का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है और मिथ्यादृष्टि के होनेवाला तीन प्रकार का ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है।

सम्यग्ज्ञान का आधार स्याद्वाद की भाषा में निरूपित अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप है। यद्यपि वह आगम के माध्यम से और परम्परागुरु के उपदेश से जाना जाता है, तथापि उसमें अंधश्रद्धा के लिए कोई स्थान नहीं है; क्योंकि उसे तर्क की कसौटी पर पूरी तरह कसकर खरा उतरने पर ही स्वीकार करने की बात जैनागम में कही गई है।

तर्क की तुला का निर्णय करने के लिए प्रमाण व नयों की जानकारी आवश्यक है; क्योंकि निर्णय न्याय से ही संभव है और न्याय प्रमाण-नयात्मक होता है।

अनेकान्त और स्याद्वाद ह्व अनेकान्त स्वभाववाली होने से सभी वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं। अनन्तधर्मात्मक वस्तु ही अनेकान्त हैं। अथवा एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का युगपत् प्रकाशित

1. जीवादि सप्त तत्त्वों का विस्तृत वर्णन पूर्व में किया गया है।

होना अनेकान्त है। जैसे ह्व जो वस्तु नित्य है, वही अनित्य है; जो सत् है वही असत् है आदि।

अनेकान्त के स्वरूप को तर्कों व विभिन्न उदाहरणों द्वारा सरल, सहजबोधगम्य भाषा में 'अनेकान्त स्याद्वाद' नामक पुस्तक में डॉ. भारिल्ल ने विस्तार से स्पष्ट किया है जो कि मूलतः पठनीय हैं।

अनेकान्त शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि ह्व "अनेकान्त शब्द 'अनेक' और 'अन्त' दो शब्दों से मिलकर बना है। अनेक का अर्थ होता है ह्व एक से अधिक दो भी हो सकते हैं और अनन्त भी। दो और अनन्त के बीच में अनेक के अनेक अर्थ संभव हैं तथा अन्त का अर्थ है 'धर्म अर्थात् गुण।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान है; अतः जहाँ अनेक का अर्थ अनन्त होगा वहाँ अन्त का अर्थ गुण लेना चाहिए। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होगा **अनन्तगुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त** है। किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो लिया जाएगा वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा - परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना **अनेकान्त** है।¹"

इसप्रकार प्रत्येक वस्तु अनेक गुणों और धर्मों से युक्त है।

वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन पद्धति को **स्याद्वाद** कहते हैं। अनेकान्त और स्याद्वाद में द्योत्य-द्योतक संबंध है। स्याद्वाद को अनेकान्तवाद भी कहते हैं। अतः स्याद्वाद और अनेकान्तवाद पर्यायवाची हैं।

स्याद्वाद में 'स्यात्' पद का ठीक-ठीक अर्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि 'स्यात्' शब्द तिङन्त न होकर 'निपात' है। अव्यय है अतः वह संदेह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है। शायद, संशय और संभावना में एक अनिश्चय है; अनिश्चय अज्ञान का सूचक है।

1. अनेकान्त और स्याद्वाद; पृ.-5

स्याद्वाद में कहीं भी अज्ञान की झलक नहीं है। वह जो कुछ कहता है, दृढ़ता के साथ कहता है; वह कल्पना नहीं करता, संभावनाएँ व्यक्त नहीं करता। अतः स्याद्वाद शायदवाद, संशयवाद या संभावनाविद् नहीं है।

जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनेक युगल (जोड़े) पाए जाते हैं, अतः वस्तु केवल अनेक धर्मों (गुणों) का ही पिण्ड नहीं है ह्व किन्तु परस्पर विरोधी दिखनेवाले अनेक धर्म-युगलों का भी पिण्ड है; तथापि वस्तु में सम्भाव्यमान परस्पर विरोधी धर्म ही पाए जाते हैं, असंभाव्य नहीं। अन्यथा आत्मा में नित्यत्व-अनित्यवादि के समान चेतन-अचेतनत्व धर्मों की भी संभावना का प्रसंग आएगा।

जैनग्रन्थों में कहा गया है कि "अनेकान्त और स्याद्वाद का प्रयोग करते समय यह सावधानी रखना बहुत आवश्यक है कि हम जिन परस्पर विरोधी धर्मों के सत्ता वस्तु में प्रतिपादित करते हैं, उनकी सत्ता वस्तु में संभावित है भी या नहीं; अन्यथा कहीं हम ऐसा न कहने लगे कि कथंचित् जीव चेतन है और कथंचित् अचेतन भी।

वस्तुतः चेतन और अचेतन तो परस्पर विरोधी धर्म हैं और नित्यत्व-अनित्यत्व परस्पर विरोधी नहीं, विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म हैं, वे परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, हैं नहीं। उनकी सत्ता एक द्रव्य में एक साथ पाई जाती है। अनेकान्त परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्मों का प्रकाशन करता है।

जिन गुणों में परस्पर विरोध नहीं है, एक वस्तु में उनकी एक साथ सत्ता तो सभी वादी-प्रतिवादी सहज स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु जिनमें विरोध सा प्रतिभासित होता है, उन्हें स्याद्वादी ही स्वीकार करते हैं। इतर जन तो उनमें से किसी एक पक्ष को ग्रहण कर पक्षपाती हो जाते हैं। अतः अनेकान्त की परिभाषा में परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रकाशन पर विशेष बल दिया गया है।¹"

1. अनेकान्त और स्याद्वाद; पृ.-13

जैन मान्यता है कि “प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं। उन सबका कथन एक साथ तो संभव नहीं है ह्य क्योंकि शब्दों की शक्ति सीमित है, वे एक समय में एक ही धर्म को कह सकते हैं। अतः अनन्त धर्मों में एक विवक्षित धर्म मुख्य होता है, जिसका कि प्रतिपादन किया जाता है, बाकी अन्य सभी धर्म गौण होते हैं, क्योंकि उनके संबंध में अभी कुछ नहीं कहा जा रहा है। यह मुख्यता और गौणता वस्तु में विद्यमान धर्मों की अपेक्षा नहीं, किन्तु वक्ता की इच्छानुसार होती है। **विवक्षा-अविवक्षा वाणी के भेद हैं, वस्तु के नहीं।** वस्तु में तो सभी धर्म प्रतिसमय अपनी पूरी हैसियत से रहते हैं, उनमें मुख्य-गौण का कोई प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि वस्तु में तो उन परस्पर विरोधी धर्मों को अपने में धारण करने की शक्ति है, वे तो उस वस्तु में अनादिकाल से विद्यमान हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। उनको एक साथ कहने की सामर्थ्यवाणी में न होने से वाणी में विवक्षा-अविवक्षा और मुख्य-गौण का भेद पाया जाता है।

वस्तु तो पर निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्यदृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्यायदृष्टि से उसीसमय अनित्य भी है, वाणी से जब नित्यता का कथन किया जाएगा तब अनित्यता का कथन संभव नहीं है। अतः जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अतः हम ‘किसी अपेक्षा नित्य भी है’ ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज ही आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है। भले ही वाणी की असमर्थता के कारण वह बात कही नहीं जा रही है। अतः वाणी में स्याद्वपद का प्रयोग आवश्यक है, स्याद्वपद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।¹”

1. अनेकान्त और स्याद्वाद; पृ.-6-7

जैनग्रन्थों में स्याद्वाद शैली के प्रयोग में ‘भी’ और ‘ही’ का समान महत्त्व दर्शाया गया है। उनके अनुसार भी समन्वय की सूचक न होकर ‘अनुक्त’ की सत्ता की सूचक है और ‘ही’ आग्रह की सूचक न होकर ‘दृढ़ता’ की सूचक है।

‘भी’ व ‘ही’ के प्रयोग का तरीका बताते हुए जैनग्रन्थों में कहा गया है कि ‘जहाँ अपेक्षा न बताकर मात्र यह कहा जाता है कि ‘किसी अपेक्षा’ (स्यात् या कथंचित्) वहाँ ‘भी’ लगाना जरूरी है और जहाँ अपेक्षा स्पष्ट बता दी जाती है वहाँ ‘ही’ लगाना अनिवार्य है। जैसे ह्य प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी है। यदि इसी को हम अपेक्षा लगाकर कहेंगे तो इसप्रकार कहना होगा कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य ही है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य ही।

‘भी’ का प्रयोग यह बताता है कि हम जो कह रहे हैं, वस्तु मात्र उतनी ही नहीं है, अन्य भी है; किन्तु ‘ही’ का प्रयोग यह बताता है कि अन्य कोणों से देखने पर वस्तु और बहुत कुछ है, किन्तु जिस कोण से यह बात बताई गई है, वह ठीक वैसी ही है, इसमें कोई शंका की गुंजाइश नहीं है। अतः ‘ही’ और ‘भी’ एक दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं। ‘ही’ अपने विषय के बारे में सब शंकाओं का अभाव कर दृढ़ता प्रदान करती है और ‘भी’ अन्य पक्षों के बारे में मौन रहकर भी उनकी निश्चित सत्ता ही की सूचक है, संभावना की नहीं।

‘भी’ का अर्थ ऐसा करना कि जो कुछ कहा जा रहा है उसके विरुद्ध भी संभावना है, गलत है। संभावना अज्ञान की सूचक है अर्थात् यह प्रगट करती है कि मैं नहीं जानता और कुछ भी होगा। जबकि स्याद्वाद, संभावनाविवादा नहीं; निश्चयात्मक ज्ञान होने से प्रमाण है। ‘भी’ में से यह अर्थ नहीं निकलता कि इसके अतिरिक्त क्या है, मैं नहीं जानता; बल्कि यह निकलता है कि इस समय उसे कहा नहीं जा सकता अथवा उसके कहने की आवश्यकता नहीं है। अपूर्ण को पूर्ण न समझ लिया जाए इसके लिए

‘भी’ का प्रयोग है। दूसरे शब्दों में जो बात अंश के बारे में कही जा रही है, उसे पूर्ण के बारे में न जान लिया जाए, इसके लिए ‘भी’ का प्रयोग है, अनेक मिथ्या एकान्तों के जोड़-तोड़ के लिए नहीं।

इसीप्रकार ‘ही’ का प्रयोग ‘आग्रही’ का प्रयोग न होकर इस बात को स्पष्ट करने के लिए है कि अंश के बारे में जो कहा गया है, वह पूर्णतः सत्य है। उस दृष्टि से वस्तु वैसी ही है, अन्यरूप नहीं।

प्रमाण वाक्य में मात्र स्यात् पद का प्रयोग होता है, किन्तु नय-वाक्य में स्यात् पद के साथ-साथ ‘एव’ (ही) का प्रयोग भी आवश्यक है। ‘ही’ सम्यक् एकान्त की सूचक है और ‘भी’ सम्यक् अनेकान्त की।¹”

जैनदर्शन में अनेकान्त में भी अनेकान्त स्वीकार किया गया है; क्योंकि यदि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी मानें तो यह भी एकान्त हो जाएगा, अतः जैनदर्शन न सर्वथा एकान्तवादी है न सर्वथा अनेकान्तवादी, वह तो कथंचित् एकान्तवादी और कथंचित् अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त में अनेकान्त है।

अनेकान्त में अनेकान्त की सिद्धि करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि ‘यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जाए और एकान्त का सर्वथा लोप किया जाए तो सम्यक् एकान्त के अभाव में, शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह, तत्समुदायरूप अनेकान्त का भी अभाव हो जाएगा। अतः यदि एकान्त ही स्वीकार कर लिया जावे तो फिर अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्व लोप का प्रसंग प्राप्त होगा।²’

जैनदर्शन के अनुसार एकान्त भी दो प्रकार का होता है और अनेकान्त भी दो प्रकार का है सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त, सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। निरपेक्षनय मिथ्या एकान्त है और सापेक्षनय

1. अनेकान्त और स्याद्वाद; पृ. 8-10

2. अकलंक देखें, राजवार्तिक, अ.1, सूत्र 6 की टीका

सम्यक् एकान्त है तथा सापेक्ष नयों का समूह अर्थात् श्रुतप्रमाण सम्यक् अनेकान्त है और निरपेक्ष नयों का समूह अर्थात् प्रमाणाभास मिथ्या अनेकान्त है।

सम्यगेकान्त नय है और सम्यगनेकान्त प्रमाण। अनेकान्तवाद सर्वनयात्मक है। उसमें एकान्तों के विरोध को समाप्त करने की सामर्थ्य है; क्योंकि विरोध वस्तु में नहीं, अज्ञान में है।

जो वस्तु श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्तरूप है, वही नयों की अपेक्षा सापेक्ष दृष्टि से एकान्तरूप भी है। बिना अपेक्षा के वस्तु का रूप नहीं देखा जा सकता है। जैसे ह्व एक हाथी को अनेक जन्मांध व्यक्ति छूकर जानने का यत्न करें ह्व और जिसके हाथ में हाथी का पैर आ जाए वह हाथी को खम्भे के समान, पेट पर हाथ फेरने वाला दीवाल के समान, कान पकड़ने वाला सूप के समान कहे तो वह सम्पूर्ण हाथी के बारे में सही नहीं होगा; क्योंकि देखा है अंश और कहा गया सर्वांश को।

यदि अंश देखकर अंश का ही कथन करे तो गलत नहीं होगा। जैसे ह्व यदि यह कहा जाए कि हाथी का पैर खम्भे के समान है, कान सूप के समान है, पेट दीवाल के समान है तो कोई असत्य नहीं, क्योंकि यह कथन सापेक्ष है और सापेक्ष नय सत्य होते हैं; अकेला पैर हाथी नहीं, अकेला पेट भी हाथी नहीं है, इसीप्रकार कोई भी अकेला अंग, अंगी को व्यक्त नहीं कर सकता है।

स्यात् पद के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ जो कथन किया जा रहा है, वह अंग के संबंध में हैं, पूर्ण वस्तु के संबंध में नहीं। हाथी और हाथी के अंगों के कथन में ‘ही’ और ‘भी’ का प्रयोग इसप्रकार होगा ह्व

हाथी किसी अपेक्षा खम्भे के समान भी है, किसी अपेक्षा दीवाल के समान भी है और किसी अपेक्षा सूप के समान भी है। यहाँ अपेक्षा बताई नहीं गई है, मात्र इतना कहा गया है कि ‘किसी अपेक्षा’, अतः ‘भी’ लगाना आवश्यक हो गया है। यदि हम अपेक्षा बताते जावें तो ‘ही’

लगाना अनिवार्य हो जाएगा, अन्यथा कथन में दृढ़ता नहीं आएगी। जैसे ह्व हाथी का पैर खम्भे के समान ही है, कान सूप के समान ही है और पेट दीवाल के समान ही है।

उक्त कथन अंश के बारे में पूर्ण सत्य है; अतः 'ही' लगाना आवश्यक है तथा पूर्ण के बारे में आंशिक सत्य है; अतः 'भी' लगाना जरूरी है।

जैनाचार्यों का तो यहाँ तक कहना है कि ह्व 'स्यात्' शब्द के प्रयोग का अभिप्राय रखनेवाला वक्ता यदि स्यात् शब्द का प्रयोग न भी करे तो विवेकी जनों को यह समझना चाहिए कि वह अनुक्त (साइलेन्ट) है। अतएव स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं करने पर भी कोई दोष नहीं है।

जैनदर्शन में प्रतिपादित अनेकान्त और स्याद्वाद का उक्त सिद्धान्त वस्तुस्वरूप के सही रूप का दिग्दर्शन करनेवाला होने से आत्मशान्ति के साथ-साथ विश्व शान्ति का भी प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है। इस संबंध में राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं ह्व

“इसमें कोई संदेह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनाएगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।”¹

अनेकान्त और स्याद्वाद सिद्धान्त इतना गूढ़ व गंभीर है कि इसे गहराई से और सूक्ष्मता से समझे बिना इसकी तह तक पहुँचना असंभव है। जैसा कि हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीजी लिखते हैं ह्व

“प्राचीन दर्जे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है।”²

इसीप्रकार का भाव व्यक्त करते हुए श्री महामहोपाध्याय सत्य सम्प्रदायाचार्य पं. स्वामी राममिश्रजी शास्त्री, प्रोफेसर संस्कृत कॉलेज, वाराणसी लिखते हैं ह्व

1. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 137
2. तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ-92

“मैं कहाँ तक कहूँ, बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो जैनमत का खण्डन किया है वह ऐसा किया है जिसे सुन-देख हँसी आती है, स्याद्वाद यह जैनधर्म का अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के मायामयी गोले नहीं प्रवेश कर सकते।

जैनधर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।”¹

संस्कृत के उद्भट विद्वान् डॉ. गंगानाथ झा तो 'आचार्य का नामोल्लेखपूर्वक अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए लिखते हैं ह्व

“जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खण्डन पढ़ा है, तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है, जिसे वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा और जो अबतक जैनधर्म को जान सका हूँ उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैनधर्म को उसके मूल ग्रन्थ से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।”²

इसीप्रकार का भाव व्यक्त करते हुए हिन्दु विश्वविद्यालय, काशी दर्शनशास्त्र के भूतपूर्व प्रधानाध्यापक श्री फणिभूषण अधिकारी ने लिखा है कि ह्व

“जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं, उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शन-शास्त्र के मूलग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।”³

1. तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ-92
2. वही, पृष्ठ - 94
3. वही, पृष्ठ-92

इस संदर्भ में जैनागम में कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान का स्याद्वादा रूपी नयचक्र अत्यन्त पैनीधारवाला है। इसे अत्यन्त सावधानी से चलाना चाहिए, अन्यथा धारण करनेवाले का ही मस्तक भंग हो सकता है। अतः इसे चलाने के पूर्व नयचक्र चलाने में चतुर गुरुओं की शरण लेना चाहिए, उनके मार्गदर्शन में जिनवाणी का मर्म समझना चाहिए।

सप्तभंगी ह्य

प्रमाणवाक्य से अथवा नयवाक्य से एक ही वस्तु में अविरोधरूप से जो सत्-असत् आदि विधि-प्रतिषेध धर्मों की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभंगी कहते हैं।¹

अथवा नयों के कथन करने की सात भंगों की शैली को सप्तभंगी कहते हैं। यहाँ भंग शब्द वस्तु के स्वरूप विशेष का प्रतिपादक है।

वस्तु को पूर्ण रूप से सात रूपों में कहा जा सकता है ह्य 1. स्यात् अस्ति, 2. स्यात् नास्ति, 3. स्यात् अस्ति-नास्ति, 4. स्यात् अवक्तव्य, 5. स्यात् अस्ति अवक्तव्य, 6. स्यात् नास्ति अवक्तव्य, 7. स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य। यहाँ पर 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'किसी अपेक्षा' (कथंचित्) इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; संशय या संभावना अर्थ में नहीं। यह स्यात् शब्द वस्तु में सर्वथापने का निषेध करने वाला और अनेकान्त को बताने वाला है; क्योंकि यह यहाँ अव्यय रूप में प्रयुक्त हुआ है।

1. स्यात् अस्ति - स्यात् अर्थात् किसी अपेक्षा से और अस्ति अर्थात् है। इसप्रकार वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से अस्तिरूप कही जाती है।

2. स्यात् नास्ति - 'स्यात्' अर्थात् 'किसी अपेक्षा से' और 'नास्ति' अर्थात् न होना। वस्तु परद्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वरूप से नहीं है; इसलिए पर अपेक्षा से वस्तु का नास्तित्व है।

3. स्यात् अस्ति-नास्ति ह्य वस्तु में अस्ति-नास्ति ह्य दोनों धर्म रहते हैं, उसे वचन द्वारा क्रम से कह सकते हैं।² अतः वस्तु स्यात् अस्ति-नास्तिस्वरूप है।

4. स्यात् अवक्तव्य - वस्तु में अस्ति-नास्ति दोनों धर्म एक ही समय में रहते हैं; किन्तु वचन के द्वारा दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते; इसलिए स्यात् वस्तु अवक्तव्य है।

1. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, पृ. 30 2. जैनसिद्धान्त कोष, भाग-4, पृ. 50

5. स्यात् अस्ति अवक्तव्य - स्वरूप अपेक्षा से वस्तु है और एक साथ कहना संभव नहीं है; इसप्रकार वस्तु है भी और अवक्तव्य भी है; इसकारण अस्ति-अवक्तव्य है।

6. स्यात् नास्ति अवक्तव्य - स्यात् नास्ति अवक्तव्य परद्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नहीं है और एक साथ कथन करना संभव नहीं है; इसप्रकार वस्तु नास्ति-अवक्तव्य है।

7. स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य - स्वद्रव्य की अपेक्षा से वस्तु है, परद्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नहीं है और एक साथ कथन करना संभव नहीं है; इसलिए वस्तु 'अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य' है।

इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य में उक्त सात भंग होते हैं।

उक्त सात रूपों को ही सप्तभंगी कहते हैं। मूल में तो दो ही भंग हैं - वक्तव्य और अवक्तव्य। उक्त सात भंगों में तीन भंग वक्तव्य के व चार भंग अवक्तव्य के हैं। अवक्तव्य का स्वतंत्र भंग संभव होने के कारण उसके चार भंग हुए एवं वक्तव्य का स्वतंत्र भंग संभव न होने के कारण उसके तीन भंग हुए।

सप्तभंगी 2 प्रकार की होती है ह्य नयसप्तभंगी और प्रमाणसप्तभंगी।

नयसप्तभंगी में अपेक्षा स्पष्ट कर दी जाती है और प्रमाण सप्तभंगी में अपेक्षा स्पष्ट न करके उसके स्थान पर 'स्यात्' या 'कथंचित्' पद का प्रयोग किया जाता है। अतः प्रमाण सप्तभंगी में 'भी' का प्रयोग किया जाता है और नयसप्तभंगी में 'ही' का प्रयोग किया जाता है।

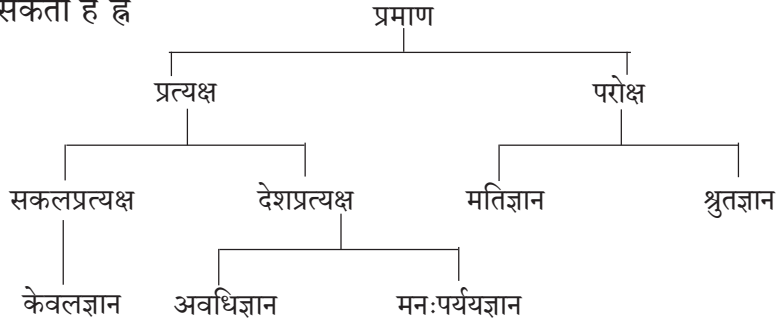
जैनदर्शन में सर्वत्र ही स्यात्कार का प्रयोग धर्मों के साथ किया है, कहीं भी अनुजीवी गुणों के साथ नहीं। यद्यपि 'धर्म' शब्द का सामान्य अर्थ गुण होता है तथापि गुण व धर्म में कुछ अन्तर है। प्रत्येक वस्तु में अनंत शक्तियाँ हैं, जिन्हें गुण या धर्म कहते हैं। उनमें जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं, उन्हें धर्म कहते हैं। जैसे-नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, सत्-असत्, भिन्नता-अभिन्नता आदि। जो शक्तियाँ विरोधाभास से रहित हैं, निरपेक्ष हैं, उन्हें गुण कहते हैं।

जैसेह्वात्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि; पुद्गल में रूप, रस, गंध आदि।

प्रमाण – जिससे वस्तु तत्त्व का निर्णय किया जाता है, सम्यक् रूप से जाना जाता है, ऐसा स्व-पर को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है; अतः स्व-परप्रकाशक सम्यग्ज्ञान प्रमाण है।

अनन्तधर्मात्मक वस्तु को प्रमाण द्वारा ही जाना जाता है। प्रमाण वस्तु के सर्वदेश को ग्रहण करता है। समस्त वस्तुएँ प्रमाण का विषय हैं। प्रमाण सच्चा ज्ञान है। प्रमाण के दो भेद हैं ह्य प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रमाण के भेद-प्रभेदों को निम्न चार्ट द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है ह्य



1. प्रत्यक्ष प्रमाण ह्य इन्द्रियों और मन के अवलंबन के बिना आत्मा अपने स्पष्ट ज्ञान से एकदेश या सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष जाने वह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का है ह्य सकलप्रत्यक्ष और देशप्रत्यक्ष।

(i) **सकलप्रत्यक्ष** ह्य केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है; क्योंकि केवलज्ञान तीन लोक व तीन कालवर्ती सर्वपदार्थों व उनके समस्त गुण तथा अपेक्षित धर्मों को प्रत्येक समय में स्पष्ट और एक साथ जानता है। केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है; अतएव क्षायिक हैं, इन्द्रियातीत है व अविनश्वर है। केवलज्ञान प्रकट होने पर वह सदा बना रहता है। केवलज्ञान होने पर शेष ज्ञान नहीं रहते; अतः किसी जीव को मात्र एक ज्ञान हो तो वह केवलज्ञान ही है।

(ii) **देशप्रत्यक्ष** ह्य जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए बिना सहायता के जानते हैं; वे अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं।

इन्द्रियों और मन के निमित्त बिना तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थ के स्पष्ट ज्ञान को **अवधिज्ञान** कहते हैं।

इन्द्रियों और मन के निमित्त बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा लिए हुए दूसरे के मन में स्थित रूपी विषय के स्पष्ट ज्ञान होने को **मनःपर्ययज्ञान** कहते हैं। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ह्य इन तीनों को **पारमार्थिक प्रत्यक्ष** भी कहते हैं।

2. परोक्षप्रमाण ह्य जो ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है, वह परोक्ष प्रमाण है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। जैनदर्शन में इन्द्रियज्ञान को **सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष** भी कहा गया है।

(i) **मतिज्ञान** ह्य मतिज्ञान के चार भेद हैं ह्य अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

(क) **अवग्रह** ह्य विषय और विषयी के योग्य स्थान में आ जाने के बाद होनेवाला आद्य ग्रहण अवग्रह है। स्व व पर दोनों का पहिले अवग्रह होता है। ऐसा जानना कि 'कुछ है' अवग्रह है। जैसे कि दूर से आती हुई रोशनी को देखकर यह जानना कि कोई वाहन है।

(ख) **ईहा** ह्य अवग्रह के द्वारा जाने गए पदार्थ को विशेषरूप से जानने की चेष्टा को (आकांक्षा को) 'ईहा' कहते हैं। जैसे ह्य दूर से आती रोशनी को देखकर 'यह कार है या स्कूटर' इसप्रकार की विशेष परीक्षा करना 'ईहाज्ञान' है। ईहाज्ञान संदेह रूप नहीं होता; क्योंकि ईहात्मक विचार बुद्धि से संदेह का नाश हो जाता है। संदेह से ऊपर और अवाय (निर्णय) से नीचे मध्य में प्रवृत्त होनेवाली विचार बुद्धि का नाम ईहा है।

(ग) **अवाय** ह्य ईहाज्ञान से जाने गए पदार्थ विषयक संदेह का दूर हो जाना 'अवाय' है। जैसे ह्य ईहा के द्वारा परीक्षा किए गए विषय के बारे में निर्णय करना कि यह 'दो स्कूटर की रोशनी है, कार की नहीं' ऐसे

निश्चयात्मक ज्ञान का नाम अवाय है। अवाय में विशेष चिह्न देखने से वस्तु का निश्चय हो जाता है।

(घ) धारणा ह्य अवाय से निर्णीत विषय को कालान्तर में न भूलना धारणा है। यहाँ विशेष इतना कि अप्रकटरूप शब्दादि पदार्थों का मात्र अवग्रह ज्ञान होता है, ईहादि तीन ज्ञान नहीं होते।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान मतिज्ञान प्रमाण के ही रूप हैं। इन सबका विस्तृत वर्णन जैनशास्त्रों में उपलब्ध है।

(ii) श्रुतज्ञान ह्य मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ के संबंध से अन्य पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान के भी अनेक भेद-प्रभेद हैं, जिनका जैन शास्त्रों में विस्तार से वर्णन मिलता है।

नय ह्य श्रुत प्रमाण का एक अंश नय है। जहाँ श्रुत प्रमाण नहीं होता, वहाँ नय नहीं होता, जहाँ नय होता है वहाँ श्रुतप्रमाण होता ही है। प्रमाण सर्वग्राही होता है और नय अंशग्राही। यद्यपि नय प्रमाण के ही भेद हैं, फिर भी जैनदर्शन में उन्हें प्रमाण से भिन्न माना गया है; क्योंकि नय प्रमाण से गृहीत वस्तु के एकदेश को ही ग्रहण करते हैं। नयों को श्रुतप्रमाण का भेद बताते हुए जैनागम में कहा गया है कि ह्य 'जिसप्रकार बिखरे हुए मोतियों को एक सूत्र में पिरो देने से मोतियों का सुन्दर हार बन जाता है, उसीप्रकार भिन्न-भिन्न नयों को स्याद्वाद रूपी सूत्र में पिरो देने से सम्पूर्णनय श्रुतप्रमाण कहे जाते हैं।' अतः जैनदर्शन की प्रमाण व्यवस्था में नयों का वर्णन न हो तो जैनदर्शन का प्रमाण वर्णन अधूरा ही है।

दूसरी बात जैनागम का रहस्य जानने के लिए भी नयों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि समस्त जिनागम नय रूप कथनों में ही निबद्ध है, अतः नयों के सही स्वरूप को समझे बिना अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

प्रमाण तो सभी दर्शन स्वीकार करते हैं; अतः उनकी चर्चा तो सब दर्शनों में मिलेगी, किन्तु 'नयविभाग' जैनदर्शन के अलावा अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। 'नयविभाग' जैनदर्शन की अनुपम देन है, वस्तुस्वरूप

के कथन करने का एक तरीका है, जिससे वस्तुस्वरूप यथार्थ समझ में आता है तथा समुचित रूप से कहा भी जा सकता है।

प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय में अर्थात् सामान्य या विशेष में वस्तु के निश्चय को नय कहते हैं। अतः नयों की प्रवृत्ति प्रमाण द्वारा जाने हुए पदार्थ के एक अंश में ही होती है। अनन्त धर्मात्मक पदार्थ के कोई एक धर्म को अथवा परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्म-युगलों में से कोई एक धर्म को नय अपना विषय बनाता है। वस्तु के किस धर्म को विषय बनाया जाए, यह ज्ञानी वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर करता है। ज्ञानी वक्ता जिसको विषय बनाता है, उसे विवक्षित कहते हैं। नयों के कथन में विवक्षित धर्म मुख्य होता है और अन्य धर्म गौण रहते हैं। नय गौण धर्मों का निराकरण नहीं करता, मात्र उनके संबंध में मौन रहता है। नय ज्ञानात्मक भी होते हैं और वचनात्मक भी।

नयों का कथन सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष नहीं; क्योंकि वे वस्तु के अंशनिरूपक हैं। नयों के कथन में यदि अपेक्षा न लगाई जावे तो जो बात वस्तु के अंश के बारे में कही जा रही है, उसे सम्पूर्ण वस्तु के बारे में समझ लिया जा सकता है, जो कि सत्य नहीं होगा। जैसे हम कहें 'आत्मा अनित्य है', यह कथन पर्याय की अपेक्षा तो सत्य है, पर यदि इसे द्रव्य-पर्यायात्मक आत्मवस्तु के बारे में समझ लिया जाए तो सत्य नहीं होगा क्योंकि द्रव्यपर्यायात्मक आत्मवस्तु तो नित्यानित्यात्मक है। इसलिए सापेक्षनय ही सम्यक्नय होते हैं, निरपेक्ष नहीं।

जिन नयों के प्रयोग में उक्त तथ्य न पाये जावें, वस्तुतः वे नय नहीं; नयाभास हैं।

अनन्त धर्मात्मक होने के कारण वस्तु बड़ी जटिल है; अतः नयचक्र भी उतना ही जटिल है जितनी कि उसकी विषयभूत अनन्तधर्मात्मक वस्तु। वस्तु को एक साथ जाना जा सकता है, पर एक साथ कहना कठिन है। अतः उसके एक-एक धर्म का क्रमपूर्वक निरूपण किया जाता है। कौन धर्म पहिले और कौन धर्म बाद में कहा जाय, इसका कोई नियम नहीं है। ज्ञानी वक्ता

अपने अभिप्रायानुसार जब एक धर्म का कथन करता है, उससमय अन्य धर्म कथन में गौण रहते हैं, निषिद्ध नहीं। अतः ज्ञाता अथवा वक्ता के अभिप्राय को 'नय' कहा जाता है।

नय तीन प्रकार के कहे गए हैं ह्य ज्ञाननय, शब्दनय और अर्थनय। ज्ञाननय की मुख्यता से ज्ञाता के अभिप्राय को और शब्दनय की मुख्यता से वक्ता के अभिप्राय को जैनागम में नय कहा है।

जितने वचन विकल्प हैं, उतने ही नय भी संभव हैं; अतः नय अनन्त हो सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ अनन्त हैं, अतः प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर नय अनन्त विकल्प रूप हो जाते हैं। मुख्य, गौण विवक्षा के कारण वक्ता के अभिप्राय भी अनेक प्रकार के होते हैं, इसकारण भी नय अनेक प्रकार के होते हैं। नयों के उन भेद-प्रभेदों में जाना यहाँ संभव नहीं है तथापि जिनागम के मर्म को समझने के लिए मूल नयों का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। मूलनय चार हैं ह्य 1. द्रव्यार्थिक, 2. पर्यायार्थिक, 3. व्यवहार, 4. निश्चय।

द्रव्यार्थिकनय-पर्यायार्थिकनय ह्य ज्ञान के जिस अंश का प्रयोजन पर्याय को गौण करके द्रव्य को जानना हो उसे **द्रव्यार्थिकनय** कहते हैं। यह द्रव्य के सामान्यांश को ग्रहण करता है।

ज्ञान के जिस अंश का प्रयोजन द्रव्य को गौण करके पर्याय को जानना हो उसे **पर्यायार्थिकनय** कहते हैं। यह द्रव्य के विशेषांश को ग्रहण करता है।

प्रत्येक वस्तु में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ह्य ये चार चीजें होती हैं। वस्तु द्रव्य की अपेक्षा सामान्य-विशेषात्मक, काल की अपेक्षा नित्यानित्यात्मक, भाव की अपेक्षा एकानेकात्मक और क्षेत्र की अपेक्षा भेदाभेदात्मक है। इसप्रकार एक-एक के दो-दो भेद होकर वस्तु की कुल आठ विशेषताएँ हैं अर्थात् वस्तु एक भी है, अनेक भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है, भेद भी है, अभेद भी है, सामान्य भी है और विशेष भी है।

उक्त आठ विशेषताओं से युक्त वस्तु प्रमाण की वस्तु है। इसमें से विशेष, भेद, अनित्य और अनेक ह्य ये पर्यायार्थिकनय के विषय हैं तथा सामान्य, अभेद, नित्य और एक ह्य ये द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं।

यद्यपि वस्तु तो एक है, लेकिन उसकी ये चार विशेषताएँ हैं। ये चार होने से भेद हो गया इसलिए ये 'चारपना' पर्यायार्थिकनय का विषय है और इन चारों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

इसप्रकार जैनदर्शन में द्रव्यभेद, गुणभेद, प्रदेशभेद और कालभेद को तो पर्यायार्थिकनय के विषय में शामिल किया है तथा द्रव्य का अभेद, प्रदेश का अभेद, गुण का अभेद और काल का अभेद को द्रव्यार्थिकनय का विषय कहा गया है।

पर्यायार्थिकनय का विषय भेदविकल्प का जनक होने से दृष्टि का विषय नहीं हो सकता है तथा द्रव्यार्थिक नय का विषय अभेद निर्विकल्पता का जनक होने से दृष्टि का विषय है।

दृष्टि के विषयभूत आत्मा को जानकर उसमें जमना-रमना है। सच्चासुख प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

व्यवहारनय ह्य व्यवहारनय का विषय भेद हैं, अतः व्यवहारनय वस्तु के अशुद्ध (संयोगी) स्वरूप का कथन करता है। एक द्रव्य के भाव को दूसरे द्रव्य का बताना, एक द्रव्य की परिणति को दूसरे द्रव्य की बताना, दो द्रव्यों की मिली हुई परिणति को एक द्रव्य की कहना, दो द्रव्यों के कारण-कार्यादिक में भी किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करना ह्य ये सब उपचरित कथन हैं। जीव व शरीर के संयोग को देखकर उन्हें एक कहना व्यवहारनय का कथन है, जैसेह्यजीव व देह एक हैं। इसप्रकार स्पष्ट है कि व्यवहारनय पराश्रित कथन ही करता है, अतः अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, हेय है।

यद्यपि व्यवहार कथन भेद कथन करने के कारण असत्यार्थ है, हेय है तथापि सत्य की प्रतीति में निमित्त है, निश्चय का प्रतिपादक है; अतः प्रारंभिक भूमिका में इसकी उपयोगिता है। तथापि यदि निश्चय को न जाननेवाला व्यक्ति व्यवहार को ही निश्चय मान ले तो उसके लिए यह

उपदेश नहीं है, जैसे ह्व जिसने शेर को नहीं जाना है, उसे बिल्ली के माध्यम से शेर को समझाया जाता है; किन्तु यदि बिल्ली के माध्यम से समझाये जाने पर वह बिल्ली को ही शेर मान ले तो वह गलती ही करेगा। उसीप्रकार व्यवहार के द्वारा निश्चय का प्रतिपादन किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति व्यवहार के द्वारा प्रतिपादन किए जाने पर व्यवहार को ही निश्चय मान लें तो वह वस्तु का सत्यस्वरूप नहीं समझ सकेगा।

व्यवहारनय मात्र दूसरों को ही समझाने के लिए उपयोगी नहीं है, वरन् जबतक स्वयं निश्चय द्वारा वर्णित वस्तु को न पहिचान सके तबतक व्यवहार द्वारा वस्तु को स्वयं समझना भी उपयोगी है। व्यवहार को उपचार मात्र मानकर उसके द्वारा मूलभूत वस्तु का निर्णय करना उपयोगी है पर व्यवहार को निश्चय के समान सत्य समझना उपयुक्त नहीं है।

निश्चयनय ह्व सच्चे निरूपण को निश्चयनय कहते हैं। निश्चयनय को शुद्धनय भी कहते हैं। निश्चयनय का विषय अभेद है। निश्चयनय वस्तु के शुद्धस्वरूप का यथावत् निरूपण करता है, असंयोगी कथन करता है, प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र कथन करता है, अर्थात् जिस द्रव्य का जो भाव होता है उसे उस रूप ही निरूपण करता है, द्रव्य की परिणति को भी उस ही की कहता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है, अतः निश्चयनय स्वाश्रित कथन ही करता है इसलिए यही भूतार्थ है, सत्यार्थ है, उपादेय है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चय-व्यवहार की विषयवस्तु और कथनशैली में मात्र भेद ही नहीं, अपितु विरोध दिखाई देता है; क्योंकि जिस विषयवस्तु को निश्चयनय अभेद-अखण्ड कहता है, व्यवहार उसी में भेद बताने लगता है और जिन दो वस्तुओं को व्यवहार एक बताता है, निश्चय के अनुसार वे कदापि एक नहीं हो सकती हैं। जैसे ह्व व्यवहारनय कहता है जीव और देह एक ही हैं और निश्चयनय कहता है कि जीव व देह कदापि एक नहीं हो सकते।

व्यवहारमात्र एक अखण्ड वस्तु में भेद ही नहीं करता, अपितु दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में अभेद भी स्थापित करता है। इसीप्रकार निश्चय

मात्र एक अखण्डवस्तु में भेदों का निषेध कर अखण्डता की ही स्थापना नहीं करता, अपितु दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में व्यवहार द्वारा प्रयोजनवश स्थापित एकता का खण्डन भी करता है।

इसप्रकार निश्चयनय का कार्य पर से भिन्नत्व व निज में अभिन्नत्व स्थापित करना है तथा व्यवहार का कार्य अभेदवस्तु को भेद करके समझाने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संयोग व तन्निमित्तक संयोगी भावों का ज्ञान कराना है। निश्चय का कार्य अभिन्न कर्ता-कर्मादि षट्कारक के साथ-साथ कर्ता-कर्म के भेद का निषेध भी है तथा व्यवहार का कार्य जहाँ एक ओर कर्ता-कर्म का भेद करना है, वहीं दूसरी ओर भिन्न-भिन्न द्रव्यों के बीच कर्ता-कर्म का संबंध बताना भी है। अतः स्पष्ट है कि व्यवहार का प्रतिषेध करना ही निश्चयनय का वाच्य है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि व्यवहारनय निषेध्य है और निश्चय उनका निषेधक हैं।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि निश्चय-व्यवहार के कथनों में जो परस्पर विरोध दिखाई देता है, वह मात्र विषयगत है।

जिस दृष्टि से निश्चय-व्यवहार एक-दूसरे का विरोध करते नजर आते हैं ह्व उसी दृष्टि से वे एक दूसरे के पूरक भी हैं; क्योंकि अनेकान्तात्मक वस्तु में जो परस्पर विरोधी धर्म युगल पाए जाते हैं उनमें से एक धर्म का कथन निश्चय और दूसरे धर्म का कथन व्यवहार करता है। यदि दोनों नय वस्तु के एक पक्ष को ही विषय करने लगे तो दूसरा पक्ष उपेक्षित हो जावेगा। अतः वस्तु के सम्पूर्ण प्रकाशन एवं प्रतिपादन के लिए दोनों नय आवश्यक हैं, अन्यथा वस्तु का समग्र स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पावेगा।

व्यवहारनय निश्चयनय का प्रतिपादक है, उसके बिना निश्चयनय का प्रतिपादन भी संभव नहीं है; क्योंकि व्यवहारनय अभेद अखण्ड वस्तु में भेद करके भी समझाता तो अभेद-अखण्ड को ही है, संयोग से भी समझाता असंयोगी तत्त्व को ही है, अतः व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक

है। तथा निश्चय का काम व्यवहार का निषेध करना है; निषेध करके अभेद, अखण्ड, असंयोगी तत्त्व की ओर ले जाना है।

अतः स्पष्ट है कि व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिए व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आवेगी, यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।

जिसप्रकार साबुन लगाए बिना कपड़ा साफ नहीं होता और साबुन लगा रहने पर भी कपड़ा साफ नहीं होता; साबुन लगाकर धोने से कपड़ा साफ होता है। साबुन लगाया ही धोने के लिए जाता है, उसकी सार्थकता ही लगाकर धो डालने में है। उसीप्रकार व्यवहार की सार्थकता भी उसके निषेध में है। व्यवहार के बिना निश्चय समझा नहीं जा सकता और व्यवहार को छोड़े बिना निश्चय पाया नहीं जा सकता। निश्चय को समझने के लिए व्यवहार को अपनाना होगा और निश्चय को पाने के लिए व्यवहार को छोड़ना ही होगा।

यद्यपि व्यवहारनय निषेध्य है और निश्चयनय निषेधक हैं; तथापि जैनदर्शन में पक्ष तो दोनों नयों का ही छोड़ाया है; क्योंकि उनके अनुसार उक्त नयवाद शुद्धात्म तत्त्व की खोज या प्रतिपादन के काल में ही चलता है, अनुभूति के काल में नहीं। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा का आश्रय लेना आवश्यक है। नयपक्षातीत जीव शुद्धात्मा का अनुभव करता हुआ दोनों नयों के कथन को जानता ही है, नयपक्ष को किंचित् भी ग्रहण नहीं करता।

यहाँ यह बात सावधानी से समझने की है कि यहाँ नयों का पक्ष छोड़ाया है, निश्चयनय का विषयभूत अर्थ नहीं। व्यवहारनय का मात्र पक्ष ही नहीं, विषयभूत अर्थ भी छोड़ने योग्य है। पर निश्चयनय का मात्र पक्ष

छोड़ना है, उसके विषयभूत अर्थ को तो ग्रहण करना है। इसप्रकार जो जीव नयपक्षातीत होकर शुद्धनय के विषयभूत अर्थ 'शुद्धात्मा' का आश्रय लेता है, वह सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करता है।

मुक्तिमार्ग के पथिक को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिन प्रयोजनभूत सात तत्त्वों, अनेकान्त-स्याद्वाद, निश्चय-व्यवहार, प्रमाणनय आदि को जानना आवश्यक है।

अनेकान्त, स्याद्वाद, प्रमाण और नयों की विस्तृत जानकारी के लिए जैन न्याय-शास्त्रों का अध्ययन किया जाना चाहिए।



वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्यदृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्याय दृष्टि से उसी समय अनित्य भी है, वाणी से जब नित्यता का कथन किया जाएगा, तब अनित्यता का कथन संभव नहीं है। अतः जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे, तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अतः हम "किसी अपेक्षा नित्य भी है", ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है, भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण वह बात कही नहीं जा रही है। अतः वाणी में स्यात् पद का प्रयोग आवश्यक है, स्यात्-पद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

ह्र अनेकान्त और स्याद्वाद, पृष्ठ-7

पंचम अध्याय सम्यक्चारित्र

आत्मस्वरूप में समा जाना ही सम्यक्चारित्र है। चारित्र के पूर्व सम्यक्पद का प्रयोग अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के लिए है। जैनमत में अज्ञानपूर्वक धारण किए गए चारित्र को सम्यक्चारित्र नहीं कहा जाता। अतः जीव को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बाद ही चारित्र धारण करना चाहिए।

वस्तुतः मोह-राग-द्वेष रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है, वही चारित्र है। वस्तु का स्वभाव होने से वही धर्म है। इसकी प्राप्ति आत्मस्वरूप में लीनता, स्थिरता और रमणता से होती है।

समता, मध्यस्थता, शुद्धोपयोग, धर्म, वीतरागता, स्वभाव की आराधना और चारित्र ये सब एकार्थवाची हैं।

यद्यपि जैनदर्शन में बाह्याचार की अपेक्षा भावशुद्धि पर विशेष बल दिया है। भावशुद्धि बिना मात्र बाह्याचार को निष्फल कहा है। उनकी दृष्टि में मात्र बाह्याचार शुद्ध होने पर भी यदि अभिप्राय में वासना बनी रहती है तो उसका आत्महित की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है किन्तु भावशुद्धि सहित बाह्य आचरण का महत्त्व भी उन्होंने मुक्तिमार्ग में बताते हुए कहा है कि ह्रस्वरूप स्थिरता में वृद्धि (भावशुद्धि की वृद्धि) के साथ-साथ विषय-कषाय की वासना का अभाव ही सच्चा चारित्र है और उसका क्रमशः कम होते जाना ही चारित्र की दिशा में क्रमिक विकास है। चारित्र की विकास की प्रक्रिया को जैनदर्शन में देशचारित्र और सकलचारित्र ह्रस्व इन दो भागों में बाँटा गया है ह्र

देशचारित्र

देशचारित्र दो प्रकार का है ह्रस्व निश्चय देशचारित्र और व्यवहार देशचारित्र। सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के ज्ञायक स्वरूप में पंचम

गुणस्थान योग्य स्थिरता ही निश्चय देशचारित्र है जो कि आत्मानुभव के बिना संभव नहीं।

जब साधक जीव स्वरूप स्थिरता की वृद्धि का पुरुषार्थ करता है व उसके अनुसार उसको वीतरागता की वृद्धि होती जाती है तब उसमें कुछ रागांश भी विद्यमान रहते हैं, तदनुकूल बाह्य क्रियायें होती हैं, उन्हें व्यवहारचारित्र कहते हैं।

ग्यारह प्रतिमा

साधक की अंतरंग शुद्धि व बाह्य दशा को जैनदर्शन में 11 दर्जे में बाँटा गया है, जिन्हें प्रतिमा कहते हैं।

आत्मा में स्वरूप स्थिरता की वृद्धि होकर, जो रागांश घटते हैं उसे निश्चय प्रतिमा कहते हैं। यही निश्चय देशचारित्र है।

निश्चय प्रतिमा के साथ जो कषाय मंदतारूप भाव रहते हैं; वह व्यवहार प्रतिमा या व्यवहार देशचारित्र है।

वे 11 प्रतिमाएँ निम्न हैं ह्रस्व दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषध प्रतिमा, सचित्तत्याग प्रतिमा, दिवामैथुनत्याग या रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरम्भत्याग प्रतिमा, परिग्रहत्याग प्रतिमा, अनुमतित्याग प्रतिमा और उद्दिष्टत्याग प्रतिमा।

1. दर्शन प्रतिमा ह्रस्व सम्यक्त्वपूर्वक भूमिका योग्य शुद्ध परिणति निश्चयदर्शन प्रतिमा है तथा उसके साथ सहज (हठ बिना) होनेवाला कषाय मंदतारूप भाव व बाह्याचार व्यवहार दर्शन प्रतिमा है। निरतिचार¹ सम्यग्दर्शन का होना ही दर्शन गुण की विशेषता है। कषाय मंदता के कारण ज्ञानी² श्रावक के अष्ट मूलगुण का धारण एवं सप्तव्यसन का त्याग सहज ही होता है।

यद्यपि अष्टमूलगुणों का धारण और सप्त व्यसनों का त्याग अब्रतियों के भी हो जाता है; तथापि यहाँ उनका पालन निरतिचार होता है।

1. अंतरंग स्थिरता में शिथिलताजन्य विकल्प ही व्रतों के अतिचार हैं। उनका न होना ही निरतिचार है।
2. जिसे यथार्थ सम्यग्दर्शन प्रकट हो चुका है उसे ही ज्ञानी कहते हैं।

अष्टमूलगुण ह्य समस्त परपदार्थों से दृष्टि हटाकर अपनी आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता ही मुमुक्षु श्रावक के निश्चय मूलगुण हैं; मद्यत्याग, माँसत्याग, मधुत्याग और पाँच उदुम्बर फलों के त्याग को व्यवहार से अष्ट मूलगुण कहते हैं।

(क) मद्यत्याग ह्य शराब वगैरह मादक वस्तुओं के सेवन करने का त्याग करना 'मद्यत्याग' है। शराब पदार्थों को सड़ा-गलाकर बनाई जाती है, अतः इसके सेवन से लाखों जीवों का घात होता है तथा नशा उत्पन्न करने के कारण विवेक समाप्त होकर आदमी पागल सा हो जाता है; अतः इसका त्याग करना अति आवश्यक है।

(ख) माँसत्याग ह्य त्रसजीवों के घात बिना माँस की उत्पत्ति नहीं होती है तथा माँस में निरन्तर त्रसजीवों की उत्पत्ति भी होती रहती है। अतः माँस खाने वाला अनन्त त्रसजीवों का घात करता है, उसके परिणाम क्रूर हो जाते हैं। अण्डा भी त्रसजीवों का शरीर होने से माँस ही है; अतः उसे भी नहीं खाना चाहिए।

(ग) मधुत्याग ह्य शहद के त्याग को मधुत्याग कहते हैं। बहुत त्रस जीवों के घात से उत्पन्न होने वाला, मधुमक्खियों का मल यह महान अपवित्र पदार्थ है; अतः इसे कदापि नहीं खाना चाहिए।

(घ) पंच उदुम्बर फल ह्य बड़ का फल, पीपल का फल, ऊमर, कठूमर (गूलर) और पाकर फल ह्य इन पाँच जाति के फलों को उदुम्बर फल कहते हैं। इनके मध्य में अनेक सूक्ष्म-स्थूल त्रसजीव पाए जाते हैं; अतः इनसे सेवन में भी त्रसहिंसा का दोष आता है।

मद्य, माँस, मधु और पाँच उदुम्बर फल खाने का राग उत्पन्न नहीं होना अर्थात् इन वस्तुओं का त्याग करना अष्ट मूलगुण धारण है।

सप्त व्यसन ह्य किसी भी विषय में लवलीन होने को अर्थात् आदत को व्यसन कहते हैं। यहाँ बुरे विषय में लीन होने को व्यसन कहा गया है। व्यसन जीवों में प्रमुख रूप से आकुलता पैदा करते हैं और दुराचारी बनाते हैं। जो

आत्मा के स्वरूप को भुला दें, वे मिथ्यात्व से युक्त राग-द्वेष परिणाम ही निश्चय से व्यसन हैं; राग-द्वेष और आकुलता उत्पन्न करने वाली सभी आदतें व्यवहार से व्यसन हैं।

इसके सात भेद कहे गए हैं ह्य

(i) जुआ खेलना (ii) माँस खाना (iii) मदिरापान (iv) वेश्यागमन करना (v) शिकार खेलना (vi) चोरी करना (vii) परस्त्रीरमण करना।

(i) जुआ खेलना ह्य शुभ (पुण्योदय) में जीत (हर्ष) तथा अशुभ (पापोदय) में हार (विषाद) मानना ही भाव जुआ है। इस भाव (मान्यता) का त्याग ही सच्चा जुआ त्याग है।

हार-जीत पर दृष्टि रखते हुए रुपये-पैसे या किसी प्रकार के धन से कोई भी खेल खेलना या शर्त लगाकर कोई काम करना या दाव लगाकर अधिक लाभ की आशा या हानि का भय होना द्रव्य-जुआ है।

(ii) माँस खाना ह्य देह में मगन रहना अर्थात् शरीर के पुष्ट होने पर अपना (आत्मा का) हित एवं शरीर के दुबले होने पर अपना (आत्मा का) अहित मानना भाव-माँस खाना व्यसन है।

मारकर या मरे हुए त्रस जीवों का कलेवर खाने में आसक्त रहना एवं भक्षण करना द्रव्य-माँस खाना व्यसन है।

(iii) मदिरा पान ह्य मोह में पड़कर आत्म स्वरूप से अन्जान रहना, भाव मदिरापान है। शराब, भाँग, चरस, गाँजा आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करना द्रव्य-मदिरापान है।

(iv) वेश्यागमन करना ह्य आत्मस्वभाव को छोड़कर विषयकषाय में बुद्धि रमाना ही भाव वेश्यारमण है।

वेश्या से रमना, उसके घर आना-जाना द्रव्य रूप से वेश्यागमन है।

(v) शिकार करना ह्य तीव्र रागवश हिंसक कार्य करने के भावों द्वारा अपने चैतन्य प्राणों का घात करना, भावरूप से शिकार करना है।

जंगल के रीछ, वाघ, हिरण, सुअर वगैरह स्वच्छन्द फिरने वाले जानवरों

को तथा छोटे-छोटे पक्षियों को निर्दय होकर बंदूक आदि किसी भी हथियार से मारना व मारकर आनन्दित होना **द्रव्यरूप से शिकार** करना है।

(vi) **चोरी करना** ह्व प्रीतिभाव (मोहभाव) से परवस्तु से साझेदारी की चाह करना (अपनी मानना) ही **भाव चोरी** है।

प्रमाद से बिना दी हुई किसी वस्तु को ग्रहण करना **द्रव्य चोरी** है।

(vii) **परस्त्रीरमण करना** ह्व तत्त्व को समझने का यत्न न करके दूसरों की बुद्धि की परख में ही ज्ञान का सदुपयोग मानना **भाव-परस्त्रीरमण** हैं।

अपनी धर्मानुकूल ब्याही हुई पत्नी को छोड़कर अन्य स्त्रियों के साथ रमण करना **द्रव्य-परस्त्रीरमण** व्यसन है।

उक्त सातों व्यसनों का त्याग ही 'सप्तव्यसनत्याग' है।

द्रव्य व्यसनों के त्याग की चर्चा तो सर्वत्र मिल जाएगी पर 'भावव्यसन' की जैसी चर्चा जैनदर्शन में मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। भावव्यसन की परिभाषाएँ जैनदर्शन की अनूठी परिभाषायें हैं। जैनदर्शन में इन्हीं भाव-व्यसनों के त्याग पर विशेष जोर दिया गया है। उनके अनुसार भावव्यसनों के त्याग होने पर द्रव्यव्यसन का त्याग तो जीवन में स्वतः ही हो जाएगा।

2. व्रत प्रतिमा ह्व पहली प्रतिमा में प्राप्त वीतरागता एवं शुद्धि को दूसरी प्रतिमाधारी श्रावक बढ़ाता रहता है तथा उसको निम्न कोटि के रागभाव नहीं होते; इसीलिए उनके त्याग की प्रतिज्ञा करता है। इस प्रतिमा के योग्य शुद्ध परिणति ही **निश्चय प्रतिमा** है और बारह व्रत के कषाय मंदतारूप भाव व्यवहार प्रतिमा है।

व्रत ह्व ज्ञानी श्रावक के जो आत्मशुद्धि प्रकट हुई, उसे निश्चयव्रत कहते हैं और उक्त आत्मशुद्धि के सद्भाव में जो हिंसादि पाँच पापों के त्याग तथा अहिंसादि पंचाणुव्रत आदि धारण करने रूप शुभभाव व्यवहार व्रत हैं। इसप्रकार के शुभभाव ज्ञानी श्रावक के सहज प्रकट होते हैं। ये व्रत बारह प्रकार के होते हैं ह्व पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।

1. अणुव्रत ह्व हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह ह्व इन पाँच पापों के एकदेश त्यागरूप पाँच अणुव्रत होते हैं।

(क) **अहिंसाणुव्रत ह्व हिंसाभाव के स्थूल रूप में त्याग को अहिंसाणुव्रत कहते हैं। इसे समझने के पहिले हिंसा को समझना आवश्यक है।**

कषाय भाव के उत्पन्न होने पर आत्मा के उपयोग की शुद्धता (शुद्धोपयोग) का घात होना **भावहिंसा** है। और उक्त कषायभाव निमित्त है जिसमें ऐसे अपने और पराये द्रव्यप्राणों का घात होना **द्रव्यहिंसा** है।

जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि हिंसा और अहिंसा का निर्णय प्राणी के मरने या न मरने से नहीं, रागादि भावों की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति से है। अतः यदि कोई व्यक्ति राग-द्वेषादि भाव न करके, योग्यतम आचरण करे तथा सावधानी रखने पर भी यदि किसी जीव का घात हो जाये, तो वह हिंसा नहीं है। इसके विपरीत कोई जीव अंतरंग में कषायभाव रखे तथा बाह्य में असावधान रहने पर भी उसके निमित्त से किसी जीव का घात न भी हुआ हो तो भी वह हिंसक है।

निमित्त भेद से हिंसा चार प्रकार की होती है ह्व 1. संकल्पी हिंसा, 2. उद्योगी हिंसा, 3. आरम्भी हिंसा, 4. विरोधी हिंसा।

केवल निर्दय परिणाम ही हेतु हैं जिसमें ऐसे संकल्प (इरादा) पूर्वक किया गया प्राणघात ही **संकल्पी हिंसा** है।

व्यापारादि कार्यों में गृहस्थी के आरंभादि कार्यों में सावधानी वर्तते हुए भी जो हिंसा हो जाती है, वह **उद्योगी और आरंभी हिंसा** है।

अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन आदि पर किए गए आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा **विरोधी हिंसा** है।

व्रती श्रावक उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में से संकल्पी हिंसा का तो सर्वथा त्यागी होता है अर्थात् सहजरूप से उसके इसप्रकार के भाव ही उत्पन्न नहीं होते हैं। अन्य तीन प्रकार की हिंसा से भी यथासंभव बचने का प्रयत्न रखता है।

हिंसाभाव का एकदेश त्याग होने से यह व्रत अहिंसाणुव्रत कहलाता है।

(ख) सत्याणुव्रत ह्व प्रमाद के योग से असत् वचन बोलना असत्य है, इसका एकदेश त्याग ही सत्याणुव्रत है। असत्य चार प्रकार का होता है ह्व

(i) सत् का आलाप, (ii) असत् का उद्भावन, (iii) अन्यथा प्ररूपण, (iv) गर्हित वचन, अवद्य संयुक्त वचन, अप्रिय वचन।

(i) विद्यमान पदार्थ को अविद्यमान कहना **सत् का आलाप** है।

(ii) अविद्यमान को विद्यमान कहना **असत् का उद्भावन** है।

(iii) कुछ का कुछ कहना अर्थात् वस्तु स्वरूप जैसा है वैसा न कहकर अन्यथा कहना **अन्यथा प्ररूपण** है। जैसे ह्व हिंसा में धर्म बताना।

(iv) निंदनीय, कलहकारक, पीड़ा कारक, शास्त्र विरुद्ध, हिंसापोषक, परापवादकारक आदि वचनों को **गर्हित वचन** कहते हैं।

छेदना, काटना, मारना, खींचना, परवस्तु के चोरी करने आदि के वचन 'अवद्य संयुक्त असत्य वचन' हैं। अवद्य से तात्पर्य पाप से है। उपर्युक्त वचन प्राणीहिंसादि पापरूप होने से **अवद्य संयुक्त असत्य वचन** में सम्मिलित हैं।

दूसरे जीवों को अप्रीतिकारक, भयकारक, खेदकारक, वैरकारक, शोककारक, कलहकारक तथा अन्य भी सन्तापकारक वचन **अप्रिय असत्य वचन** हैं।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रमाद सहित वचन ही अप्रिय असत्य वचन हैं। प्रमादरहित महामुनि के पापादि त्यागरूप वचन यद्यपि पापी को अप्रिय लगते हैं पर फिर भी ये असत्य वचन नहीं हैं, क्योंकि इनमें प्रमाद का योग नहीं है।

कषाय सहित अवस्था को प्रमाद कहते हैं। चूँकि प्रमाद की विद्यमानता हिंसा व असत्य दोनों में विद्यमान है; अतः एक हेतु होने के कारण असत्य भी हिंसारूप ही हैं।

यद्यपि समस्त ही असत्य त्यागने योग्य हैं; तथापि जो न्यायपूर्वक भोगोपभोग के कारणभूत सावद्य असत्य वचन त्यागने में असमर्थ हैं तो उन्हें शेष असत्य वचनों का त्याग अवश्य करना चाहिए।

(ग) अचौर्याणुव्रत ह्व जिस वस्तु में लेन-देन का व्यवहार है, ऐसी वस्तु को प्रमाद के योग से उसके स्वामी की अनुमति बिना ग्रहण करना चोरी है। ऐसी चोरी का त्याग अचौर्यव्रत है। चोरी का त्यागी होने पर भी गृहस्थ कूप, नदी आदि से जल एवं खान से मिट्टी आदि वस्तुओं को बिना पूछे भी ग्रहण कर लेता है, अतः एकदेश चोरी का त्यागी होने से उसका यह व्रत अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

(घ) ब्रह्मचर्याणुव्रत ह्व पूर्णतया स्त्री-सेवन का त्याग ब्रह्मचर्यव्रत है। जो गृहस्थ इसे धारण करने में असमर्थ हैं, वे स्वस्त्री में संतोष करते हैं और परस्त्रीरमण के भाव को सर्वथा त्याग देते हैं, उनका यह व्रत एकदेशरूप होने से ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।

(ङ) परिग्रहपरिमाणव्रत ह्व अपने से भिन्न पर-पदार्थों में ममत्वबुद्धि ही परिग्रह है। वह दो प्रकार का है ह्व अंतरंग और बहिरंग।

मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्यादि नव नोकषाय-ये चौदह **अंतरंग परिग्रह** हैं।

जमीन-मकान, सोना-चाँदी, धन-धान्य, नौकर-नौकरानी, बर्तन आदि अन्य वस्तुएँ बाह्य परिग्रह हैं। जब भी परिग्रह त्याग की चर्चा चलती है तो सबका ध्यान बाह्य परिग्रह की ओर ही जाता है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभादि भी परिग्रह हैं। इस ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। जबकि जैनदर्शन में परिग्रह को पापों में गिनाया गया है। तथा क्रोधादि कषायों को परिग्रह के भेद में गिनाया गया है; अतः प्रकारान्तर से हास्यादि भी पाप हैं।

उक्त परिग्रहों में गृहस्थ के मिथ्यात्व नामक परिग्रह का तो पूर्ण रूप से त्याग हो जाता है तथा बाकी अंतरंग परिग्रहों का कषायांश के सद्भाव के

कारण एकदेशत्याग होता है तथा वह बाह्यपरिग्रह की सीमा निर्धारित कर लेता है। इस व्रत को परिग्रहपरिमाणव्रत कहते हैं।

2. गुणव्रत ह्य अणुव्रतों में रक्षण और उनमें अभिवृद्धि रूप तीन गुणव्रत होते हैं ह्य दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड व्रत।

(i) दिग्व्रत ह्य कषायांश कम हो जाने से गृहस्थ दशों दिशाओं में प्रसिद्ध स्थानों के आधार पर अपने आवागमन की सीमा निश्चित कर लेता है और जीवन पर्यन्त उसका उल्लंघन नहीं करता, इसे दिग्व्रत कहते हैं।

(ii) देशव्रत ह्य दिग्व्रत की बाँधी हुई विशाल सीमा को घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, माह आदि काल की मर्यादापूर्वक और भी सीमित (कम) कर लेना देशव्रत है।

(iii) अनर्थदण्डत्यागव्रत ह्य बिना प्रयोजन हिंसादि पापों में प्रवृत्ति करना या उस रूप भाव करना अनर्थदण्ड है और उसके त्याग को अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं। व्रती श्रावक बिना प्रयोजन जमीन खोदना, पानी ढोलना, अग्नि जलाना, वायु संचार करना, वनस्पति छेदन करना आदि कार्य नहीं करता अर्थात् त्रसहिंसा का तो वह त्यागी है ही, पर अप्रयोजनीय स्थावर हिंसा का भी त्याग करता है। तथा राग-द्वेषादिक प्रवृत्तियों में भी उसकी वृत्ति नहीं रमती, वह इनसे विरक्त रहता है। इसी व्रत को अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।

इसके पाँच भेद हैं ह्य (a) अपध्यानत्यागव्रत, (b) पापोपदेशत्यागव्रत, (c) प्रमादचर्यात्यागव्रत (d) हिंसादानत्यागव्रत, (e) दुःश्रुतित्यागव्रत।

(a) शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि खोटे कार्यों का चिन्तवन अपध्यान है। जिस बात का विचार करने से केवल पाप का ही बंध होता है, उसे अपध्यान कहते हैं और इन विचारों के त्याग को ही 'अपध्यानाननर्थदण्डत्यागव्रत' कहते हैं।

(b) पापबंध करानेवाले कार्यों का उपदेश न देना ही 'पापोपदेश अनर्थदण्डत्यागव्रत' है।

(c) निष्प्रयोजन भूमि खोदना, वृक्ष उखाड़ना, घास रोंदना आदि कार्यों के त्याग को 'प्रमादचर्या अनर्थदण्डत्यागव्रत' कहते हैं।

(d) छुरी, धनुष आदि हिंसक उपकरणों के वितरण का त्याग करना ही 'हिंसादान अनर्थदण्डत्यागव्रत' है।

(e) रागादिवर्द्धक कथाओं को सुनने-सुनाने का त्याग ही 'दुःश्रुति अनर्थदण्डत्यागव्रत' है।

इन अनर्थदण्डों के त्याग से अहिंसादिक व्रतों में निरंतर वृद्धि होती है।

3. शिक्षाव्रत ह्य शिक्षाव्रत महाव्रतों के अभ्यास रूप होते हैं। ये चार हैं ह्य सामायिक व्रत, प्रोषधोपवासव्रत, भोगोपभोगपरिमाणव्रत और अतिथि-संविभागव्रत।

(i) सामायिकव्रत ह्य सम्पूर्ण द्रव्यों में राग-द्वेष के त्यागपूर्वक समताभाव का अवलम्बन करके आत्मभाव की प्राप्ति करना ही सामायिक है। व्रती श्रावकों द्वारा प्रातः, दोपहर, सायं ह्य कम से कम अंतर्मुहूर्त एकान्त स्थान में सामायिक करना सामायिक व्रत है।

(ii) प्रोषधोपवासव्रत ह्य कषाय, विषय और आहार का त्याग कर आत्मस्वभाव के समीप ठहरना उपवास है। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को सर्वारंभ छोड़कर उपवास करना ही प्रोषधोपवास है। यह तीन प्रकार से किया जाता है ह्य

उत्तम, मध्यम और जघन्य।

पर्व के एक दिन पूर्व व एक दिन बाद एकासन पूर्वक व पर्व के दिन पूर्ण उपवास करना 'उत्तम प्रोषधोपवास' है।

केवल पर्व के दिन उपवास करना 'मध्यम प्रोषधोपवास' है।

पर्व के दिन केवल एकासन करना 'जघन्य प्रोषधोपवास' है।

(iii) भोगोपभोगपरिमाण व्रत ह्य प्रयोजनभूत सीमित परिग्रह के भीतर भी कषाय कम करके भोग और उपभोग का परिमाण घटाना भोगोपभोग परिमाण व्रत है। पंचेन्द्रिय के विषयों में जो एक बार भोगने में आ सकें; उन्हें भोग और जो बार-बार भोगने में आवें उन्हें उपभोग कहते हैं।

(iv) अतिथिसंविभागव्रत ह्य मुनि और व्रती श्रावकों को अपने भोजन में से विभाग करके विधिपूर्वक दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है।

इसप्रकार जैनमतानुसार निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक उक्त बारह व्रतों को निरतिचार धारण करनेवाला श्रावक ही 'व्रती श्रावक' कहलाता है; क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के सच्चे व्रतादि होते ही नहीं हैं तथा निश्चय सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव होने पर प्रकट होनेवाली आत्मशुद्धि के साथ ही ज्ञानी श्रावक के उक्त व्रतादिरूप भाव होते हैं।

3. सामायिक प्रतिमा ह्य जो दूसरी प्रतिमा की अपेक्षा आत्मा में विशेष लीनता बढ़ जाने के कारण दिवस में तीन बार एक अंतमुहूर्त तक प्रतिज्ञापूर्वक सर्व सावद्ययोग का त्याग करके शास्त्रविदित द्रव्य व भाव सहित अपने ज्ञायक स्वभाव के आश्रयपूर्वक ममता को त्यागकर समता धारण करे (समता का अभ्यास करे) तथा अपने परिणामों को आत्मा में संयमन करने का अभ्यास करे, वह तीसरी सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक है। इस प्रतिमाधारी श्रावक को आत्मानंद में लीनता (शुद्ध परिणति) बढ़ जाने के कारण दूसरी प्रतिमा की अपेक्षा बाह्य में आसक्ति भाव कम हो जाते हैं।

4. प्रोषध प्रतिमा ह्य प्रोषध प्रतिमाधारी श्रावक ज्ञायकस्वभाव में श्रद्धा, ज्ञानपूर्वक लीनता पूर्वापेक्षा बढ़ जाने से कम से कम मास में 4 बार हर अष्टमी व चतुर्दशी को आहार आदि सर्व सावद्ययोग का त्याग करता है; उसे संसार, शरीर और भोगों से आसक्ति घट जाती है; अतः आहार आदि का त्याग करके उपवास की प्रतिज्ञा लेता है, वह प्रोषध प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

5. सचित्त त्याग प्रतिमा ह्य पाँचवी प्रतिमा धारक श्रावक की जो आन्तरिक शुद्धि है, वह निश्चय प्रतिमा है और मंदकषाय रूप भाव तथा सचित्त भोजनपान का त्याग व्यवहार प्रतिमा है। पाँचवीं प्रतिमा वाले साधक की आत्मलीनता चौथी प्रतिमा से भी अधिक होती है। अतः आसक्ति भाव भी कम हो जाता है। उसे शरीर की स्थिति के लिए भोजन को लेने का

भाव आता है, लेकिन सचित्त भोजनपान करने का विकल्प नहीं उठता; अतः वह सचित्त भोजन त्याग कर देता है और प्रासुक पानी काम में लेता है।

जिसमें उगने की योग्यता हो ऐसे अन्न एवं हरी वनस्पति को सचित्त कहते हैं।

6. दिवामैथुनत्याग या रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा ह्य इस प्रतिमा के योग्य यथोचित शुद्धि निश्चय प्रतिमा है। तथा त्यागरूप शुभभाव वह व्यवहार प्रतिमा है। साधक जीव ने दूसरी प्रतिमा में स्वस्त्री संतोषव्रत तो लिया था, लेकिन अब स्वरूप स्थिरता उसकी अपेक्षा बढ़ जाने से आसक्ति भी घट गई है; अतः छठवीं प्रतिमाधारी श्रावक नवबाढ़ सहित हमेशा दिवस के समय एवं अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथि पर्वों पर दिन व रात में ब्रह्मचर्यव्रत को पालता है और ऐसे अशुभ भाव नहीं उठने देने की प्रतिज्ञा करता है।

नवबाढ़ हैं ह्य 1. स्त्रियों के समागम में न रहना, 2. रागभरी दृष्टि से न देखना, 3. परोक्ष में (छुपाकर) संभाषण, पत्राचार आदि न करना, 4. पूर्व में भोगे भोगों का स्मरण नहीं करना, 5. कामोत्पादक गरिष्ठ भोजन नहीं करना, 6. कामोत्पादक श्रृंगार नहीं करना, 7. स्त्रियों के आसन, पलंग आदि पर न सोना, न बैठना, 8. कामोत्पादक कथा, गीत आदि नहीं सुनना, 9. भूख से अधिक भोजन नहीं करना।

इस प्रतिमा का दूसरा नाम रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा भी है; क्योंकि इसमें मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदनपूर्वक रात्रि में चार प्रकार के आहार का त्याग होता है।

7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा ह्य सातवीं प्रतिमाधारी श्रावक के स्वरूपानंद में विशेष लीनता (शुद्ध परिणति) बढ़ जाने से आसक्तिभाव और भी घट जाता है, अतः हमेशा के लिए दिन व रात में अर्थात् पूर्णरूप से नवबाढ़ सहित ब्रह्मचर्य व्रत पालता है और उपरोक्त प्रकार के भाव नहीं होने देने की प्रतिज्ञा लेता है, अतः उसकी प्रवृत्ति भी तदनुकूल ही होती है।

8. आरंभत्याग प्रतिमा ह्य आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक की यथोचित शुद्धि निश्चय प्रतिमा है। संसार, देह, भोगों के प्रति उदासीनता व राग

अल्प हो जाने के कारण उठनेवाले विकल्पों का मर्यादित होना और बाह्यारंभ का त्याग व्यवहार प्रतिमा है। आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक स्वरूपस्थिरता रूप धर्माचरण में विशेष सावधानी रखता हुआ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि पापारंभ करने के विकल्पों का त्याग कर देने से सभी प्रकार के व्यापार का त्याग कर देता है।

9. परिग्रह त्याग प्रतिमा ह्म नवमी प्रतिमाधारी श्रावक की शुद्धि और भी बढ़ जाती है, वह निश्चय परिग्रहत्याग प्रतिमा है। उसके साथ ही कषाय मंद हो जाने से अति आवश्यक सीमित वस्तुएँ रखकर बाकी सभी (दस) प्रकार के परिग्रह त्याग करने का शुभभाव व बाह्यपरिग्रहत्याग, व्यवहार परिग्रहत्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमाधारी का जीवन वैराग्यमय, संतोषी एवं साम्यभावधारी हो जाता है।

10. अनुमतित्याग प्रतिमा ह्म दशवीं प्रतिमाधारी की शुद्धि पहले से भी बढ़ गई है, वह शुद्ध परिणति निश्चय प्रतिमा है। उसकी सहज (बिना हठ के) उदासीनता अर्थात् राग की मंदता इतनी बढ़ गई होती है कि अपने कुटुम्बीजनों एवं हितैषियों को भी किसी प्रकार के आरंभ (व्यापार, शादी आदि) के संबंध में सलाह, मशविरा, अनुमति आदि नहीं देता है, यह व्यवहार अनुमतित्याग प्रतिमा है। इस श्रावक को उत्तम श्रावक कहा गया है।

11. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा ह्म ग्यारहवीं प्रतिमा श्रावक का सर्वोत्कृष्ट अंतिमदर्जा है।

इस प्रतिमावाले श्रावक की परिणति में वीतरागता बहुत बढ़ गई होती है व निर्विकल्पदशा भी जल्दी-जल्दी आती है और अधिक काल ठहरती है। उनकी यह अंतरंग शुद्ध परिणति निश्चय उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है तथा इसके साथ होने वाले कषाय मंदतारूप बर्हिमुख शुभभाव व तदनुसार बाह्य क्रिया व्यवहार उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है।

ऐसी दशा में पहुँचने वाले श्रावक की संसार देह आदि से उदासीनता

बढ़ जाती है। इस प्रतिमा के धारक श्रावक मुनि के समान नवकोटिपूर्वक उद्दिष्ट आहार के त्यागी व घर कुटुम्ब आदि से अलग होकर विहार करते हैं।

ये श्रावक दो प्रकार के होते हैं ह्म क्षुल्लक तथा ऐलक। इस प्रतिमा की उत्कृष्ट दशा ऐलक होती है।

ऐलक दशा में मात्र लंगोटी एवं पिच्छिकमण्डलु के अतिरिक्त समस्त बाह्य परिग्रह का त्याग हो जाता है। क्षुल्लक दशा में अनासक्ति भाव ऐलक के बराबर नहीं हो पाते; अतः उनकी आहार-विहार की क्रियायें ऐलक के समान होने पर भी लंगोटी के अलावा ओढ़ने के लिए खण्ड-वस्त्र (चादर) रखने का राग रह जाता है।

इस प्रतिमा के धारक श्रावक नियम से गृहविरत ही होते हैं।

पंचम गुणस्थान में ये 11 प्रतिमाएँ ग्रहण की जाती हैं। ये प्रतिमाएँ आरंभ से उत्तरोत्तर अंगीकार करना चाहिए। नीचे की प्रतिमाओं की दशा आगे की प्रतिमाओं में छूटती नहीं है, वृद्धि को ही प्राप्त होती है।

पहली से छठवीं प्रतिमा तक धारण करनेवाले जघन्यव्रतीश्रावक, सातवीं से नौवीं प्रतिमा तक धारण करनेवाले मध्यमव्रतीश्रावक एवं दशवीं व ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्टव्रतीश्रावक कहलाते हैं।

संक्षेप में कहें तो जैनदर्शन में देशचारित्र मात्र अणुव्रतादि के शुभभाव रूप या बाह्यक्रियारूप ही नहीं है, किन्तु वहाँ अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव के अनुपात में आंशिक शुद्ध वीतराग परिणति प्रकट हुई है, वह है। वस्तुतः वही चारित्र है। साथ में रहनेवाले शुभराग और बाह्यक्रिया को तो व्यवहार से चारित्र कहा जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में सकलचारित्र धारण करने के पूर्व देशचारित्र धारण करने की भी एक सहज, स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में कहीं भी त्याग को ऊपर से लादा नहीं गया है। स्थल-स्थल पर आंतरिक भावों की शुद्धि पर ही विशेष बल दिया गया है।

सकल चारित्र

सकल चारित्र पाँचों पापों के पूर्ण त्यागरूप होता है और यह मुनियों के ही होता है। हिंसादि पापों का मन, वचन, काय व कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करना ही मुनियों का महाव्रत है। सब पापों का त्याग होने से ये व्रत स्वतः महान् हैं, पूज्य हैं, इसलिए इनका नाम महाव्रत है।

यह चारित्र भी दो प्रकार का होता है ह्य शुद्धोपयोगरूप व शुभोपयोगरूप।

(i) शुद्धोपयोग चारित्र ह्य समस्त संकल्प-विकल्पों के त्याग द्वारा, रागादि दोषों से रहित होते हुए शुद्ध चैतन्य स्वभाव में अवस्थित रहना ही शुद्धोपयोग रूप चारित्र है। स्वात्मा में स्थिरता रूप होने से यही 'निश्चय चारित्र' है। यह ध्यान रूप ही होता है, वीतरागतारूप ही होता है। वीतरागभावरूप होने से उसे ही 'वीतराग चारित्र' भी कहते हैं। यही मुक्ति का कारण है।

(ii) शुभोपयोग चारित्र ह्य पाँचों पापों के पूर्ण त्यागरूप एवं महाव्रत, समिति, गुप्ति के धारण रूप समस्त शुभभाव शुभोपयोगरूप चारित्र हैं। शुभभावरूप होने से इन्हें व्यवहार से चारित्र कहा जाता है। विकल्प रूप होने से इन्हें सराग चारित्र भी कहा जाता है।

पाँच महाव्रत ह्य पाँचों पापों के पूर्ण त्यागरूप महाव्रत भी पाँच होते हैं ह्य अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत।

अहिंसादि पाँचों व्रतों की चर्चा अणुव्रतों में की जा चुकी है, विशेष इतना कि उन पाँचों का एकदेश त्याग तो अणुव्रत है व उन पाँचों का पूर्णतः त्याग ही महाव्रत है।

सर्वसंग रहित मुनिराज पाँच पापों का पूर्णतः त्याग कर अहिंसादि व्रत का पूर्ण पालन करते हैं, अतः उनके ये पाँच महाव्रत होते हैं।

पाँच समिति ह्य सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति समिति है। निश्चय से तो अपने स्वरूप में सम्यक् प्रकार से गमन अर्थात् परिणमन समिति है व व्यवहार से जैसी आगम में कही गई, वैसी प्राणियों को पीड़ा न होवे ऐसा विचार कर

दयाभाव से की गई गमनादि सारी प्रवृत्ति समिति है। वे पाँच हैं ह्य (i) ईर्या, (ii) भाषा, (iii) एषणा, (iv) आदाननिक्षेपण, (v) प्रतिष्ठापन।

(i) ईर्या समिति ह्य प्रासुक मार्ग से दिन में चार हाथ प्रमाण देखकर अपने कार्य के लिए प्राणियों को पीड़ा नहीं देते हुए संयमी का जो गमन है वह ईर्या समिति है। जब मार्ग पर घोड़ा गाड़ी, पथिक आदि चलने लगते हैं, तब वह सहज ही प्रासुक हो जाता है। मुनिराज को गीली व हरे तृण आदि से व्याप्त पृथ्वी पर गमन नहीं करना चाहिए। सूर्य के मंदप्रकाश में भी गमन नहीं करना चाहिए।

(ii) भाषा समिति ह्य स्व और पर को मोक्ष ले जाने वाले स्व पर हितकारक निरर्थक बकवास रहित असन्दिग्ध स्पष्ट वचन बोलना भाषा समिति है।

(iii) एषणा समिति ह्य 46 दोष, 32 अंतराय¹ टालकर उत्तम कुलीन श्रावक के घर विधिपूर्वक दिन में एक बार शुद्ध प्रासुक आहार लेना एषणा समिति है।

(iv) आदान-निक्षेपण समिति ह्य ज्ञान, संयम और शौच के उपकरण पुस्तक, पीछी, कमण्डलादि को यत्नाचार पूर्वक देखकर संभलकर उठाना तथा रखना आदान-निक्षेपण समिति है।

(v) प्रतिष्ठापन समिति ह्य यत्नपूर्वक दृष्टि से देखकर और पीछी से पोंछकर मल-मूत्र-कफ इत्यादि नवद्वार के मल प्रासुक (निर्जीव) भूमि पर त्याग करना प्रतिष्ठापन समिति है। जल में, गीली भूमि में, हरी घास में मल त्याग नहीं करना चाहिए। लोगों के आने-जाने के मार्ग से दूर निर्दोष भूमि में ही मलक्षेपण करना चाहिए।

उक्त पाँचों समितियाँ गुप्ति के पालन में सहायक होती हैं। पाँचों समितियों के वर्णन में हम देखते हैं कि इनमें उन आचरणों का वर्णन है,

1. मुनि, ऐलक व क्षुल्लक के निमित्त बनाई गई वस्तुएँ उद्दिष्ट की श्रेणी में आती हैं। उद्दिष्ट का शाब्दिक अर्थ उद्देश्य होता है।

जिनके करने में जीव हिंसा न हो, अहिंसा व्रत का विशेष पालन हो। अतः पाँच समितियों के पालन से पाँच महाव्रत सुदृढ़ होते हैं।

तीन गुप्ति हूँ जिसके कारण संसार के कारणों से रक्षा होती है, वह गुप्ति है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का निरोध करके मात्र ज्ञाता-दृष्टा भाव से निश्चय समाधि धारण करना पूर्ण गुप्ति है। यह निवृत्तिरूप होने के कारण **निश्चय गुप्ति** है। तथा कुछ शुभराग मिश्रित विकल्पों व प्रवृत्तियों सहित यथाशक्ति स्वरूप में निमग्न रहने का नाम आंशिकगुप्ति है। प्रवृत्तिरूप होने के कारण यह **व्यवहार गुप्ति** है। गुप्ति 3 प्रकार की है हूँ मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति।

(i) मन की चंचलता रोककर एकाग्रता कर लेना **मनोगुप्ति** है।

(ii) वचन का न बोलना अर्थात् मौन धारण करना **वचनगुप्ति** है।

(iii) शरीर की क्रिया रोकना-निश्चल हो जाना **कायगुप्ति** है।

जहाँ तीनों गुप्तियाँ हो जाती हैं, वहाँ आत्मध्यान होता है।

पाँच इंद्रिय विजय हूँ संसारी आत्मा को ज्ञान में निमित्त शरीर के चिन्ह विशेष ही इंद्रियाँ हैं। ये पाँच होती हैं हूँ

(i) स्पर्शन, (ii) रसना, (iii) घ्राण, (iv) चक्षु, (v) कर्ण।

(i) जिससे छू जाने पर हल्का, भारी, रुखा-चिकना, ठंडा-गरम और कड़ा-नरम का ज्ञान हो, वही **स्पर्शन इंद्रिय** है।

(ii) जो खट्टा, मीठा, खारा, चरपरा आदि स्वाद जानने में निमित्त हो, वह जीभ ही **रसना इंद्रिय** कहलाती है।

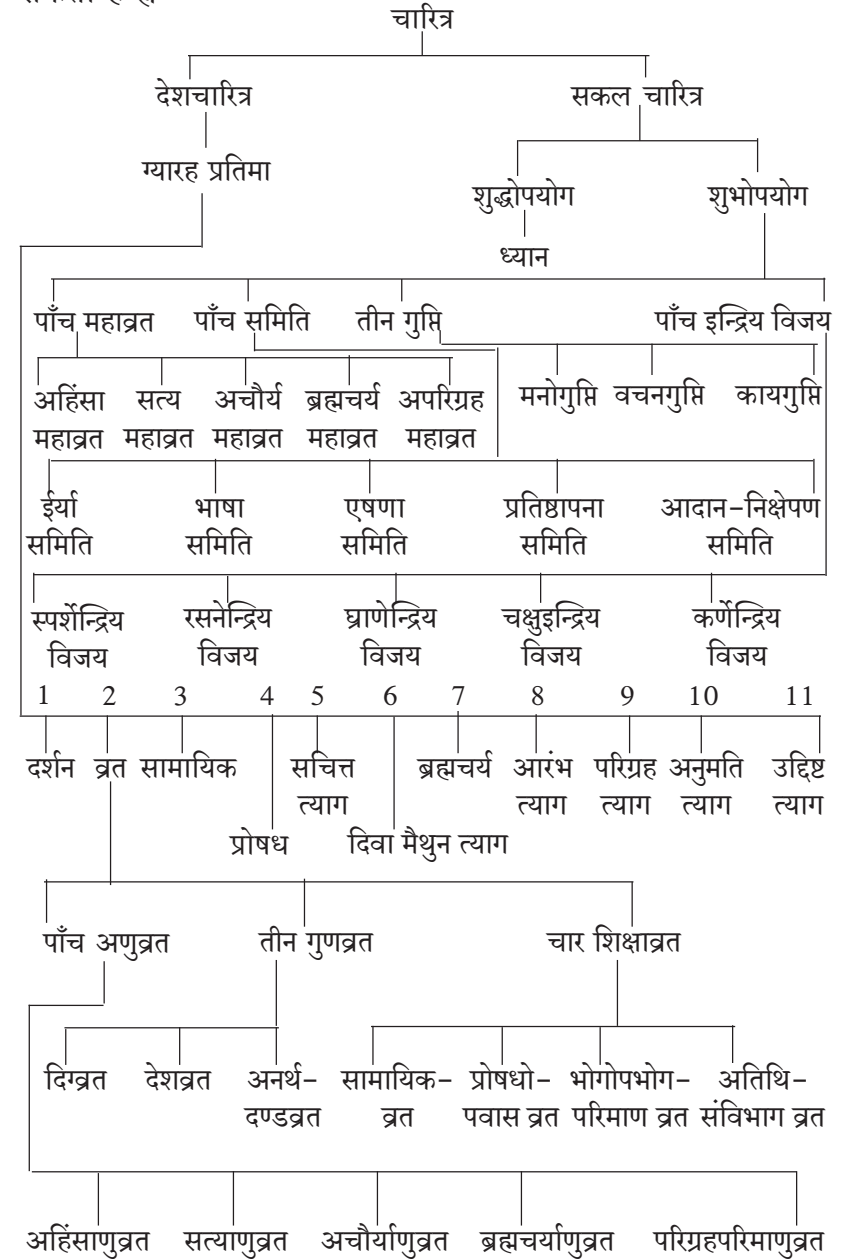
(iii) सुगंध और दुर्गंध जानने में निमित्त रूप नाक ही **घ्राण इंद्रिय** है।

(iv) रंगों के ज्ञान में निमित्त रूप आँख ही **चक्षु इंद्रिय** है।

(v) जो आवाज के ज्ञान में निमित्त हो, वह **कर्ण इंद्रिय** है।

ये इंद्रिय मात्र पुद्गल के ज्ञान में ही निमित्त हैं, आत्मज्ञान में नहीं। अतः आत्महित के इच्छुक मुनिराजों को पाँच इंद्रियों पर विजय प्राप्त करना ही उपादेय है।

उक्त चारित्र के भेदों को निम्न चार्ट द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है हूँ



संक्षेप में कहें तो जैन मतानुसार कषाय के वश होनेवाले भाव असंयत भाव हैं। जब कषाय का अभाव होता है, तब जीव संयत होता है। अकषाय भाव को ही चारित्र कहते हैं। चारित्र दो प्रकार का है ह

निश्चय व व्यवहार।

शुभभावरूप अणुव्रत और महाव्रत को व्यवहार से चारित्र कहा गया है तथा वीतराग भाव को निश्चय चारित्र।

व्यवहार चारित्र हेय है, क्योंकि जिसप्रकार हिंसादि पाँच अव्रतों से पाप का बंध होता है; उसीप्रकार अहिंसादि पाँच व्रतों से पुण्य का बंध होता है। चूँकि पुण्य और पाप दोनों कर्मों का विनाश मोक्ष है; अतः मोक्षार्थी को अव्रतों के समान व्रतों को भी छोड़ने की प्रेरणा जैनदर्शन में दी गई है। इसप्रकार हेयपने की दृष्टि से व्रत व अव्रत दोनों समान हैं।

यद्यपि प्रथम अवस्था में अव्रतों को छोड़कर अहिंसादि व्रतों को धारण करने की बात जैनदर्शन में कही गई है; किन्तु मुक्ति प्राप्ति में दोनों हेय हैं। व्रत-अव्रत से परे जो वीतराग भाव है, वही एकमात्र उपादेय है।

अतः जिन्हें संसार दुःखों से मुक्ति चाहिए, उन्हें जैसे भी बने सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करके वीतराग चारित्र धारण करना चाहिए। संसार दुःखों से छूटने का यही एकमात्र उपाय है।

निश्चय-व्यवहार के उक्त भेदों की गहराई से अनभिज्ञ कुछ लोग अहित कार्यों के वर्जन व हित कार्यों में आचरण को ही सम्यक्चारित्र मानकर इससे ही मुक्ति की पुष्टि करते हैं। जबकि जैनदर्शन में हिताहित दोनों कार्यों के वर्जनपूर्वक आत्मलीनता रूप सम्यक्चारित्र को मुक्ति का मार्ग कहा है।

जैनमतानुसार मुक्ति प्राप्ति के लिए पुण्यबंध के कारण व्यवहार चारित्र को छोड़कर मात्र निश्चय चारित्र ही अंगीकार किए जाने से, आत्मा का आश्रय लेने से ही जीव कर्मों से मुक्त हो सकता है, दुःखों से छूट सकता है। व्यवहार चारित्र रूप शुभोपयोग से कर्मों का बंध (पुण्यबंध) होता है, बंध का अभाव नहीं।

नए कर्मों को रोकने के लिए, पुराने कर्मों को नष्ट करने के लिए एक मात्र आत्मस्वरूप में स्थिरता रूप शुद्धोपयोग ही उपादेय है।

जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि अणुव्रत और महाव्रत शुभभावरूप ही हैं, बंध के कारण ही हैं; अतः उन्हें परंपरा मोक्ष के कारण होने से व्यवहार से ही चारित्र कहा जाता है।

मुक्ति का साक्षात् कारण वास्तविक चारित्र तो वीतरागभावरूप शुद्धोपयोग ही है। आत्मलीनता की अवस्था ही शुद्धोपयोग है।

अतः मोक्षार्थी को आत्म श्रद्धान, ज्ञान, लीनतारूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति का ही प्रयास करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है।



श्रद्धा और ज्ञान तो क्षणभर में परिवर्तित हो जाते हैं, पर जीवन में संयम आने में समय लग सकता है। संयम धारण करने की जल्दी तो प्रत्येक ज्ञानी धर्मात्मा को रहती ही है, पर अधीरता नहीं होती; क्योंकि जब सम्यग्दर्शनज्ञान और संयम की रुचि (अंश) जग गई है तो इसी भव में, इस भव में नहीं तो अगले भव में, उसमें नहीं तो उससे अगले भव में, संयम भी आयेगा ही; अनन्तकाल यों ही जानेवाला नहीं है।

आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-87

षष्ठ अध्याय जैन सिद्धान्त और विज्ञान

किसी भी विषय का व्यवस्थित ज्ञान ही विज्ञान है। उक्त दृष्टिकोण से विचार किया जाए तो जैनदर्शन सम्पूर्णतः वैज्ञानिक ही है, क्योंकि जैनदर्शन की विश्व व्यवस्था, द्रव्य व्यवस्था, कर्म व्यवस्था, आचरण व्यवस्था (पद्धति), कथन व्यवस्था (पद्धति), यहाँ तक कि भक्ति भी वैज्ञानिक है, जिसकी चर्चा आगे विस्तार से की जाएगी।

गणितीय विज्ञान, रसायन विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान, शरीर विज्ञान, कर्म विज्ञान, ज्योतिष विज्ञान, गृह विज्ञान, मौसम विज्ञान, मनोविज्ञान आदि में भी उक्त अर्थ में ही विज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है।

आज मात्र इन्हीं भौतिक विषयों की शोध-खोज और प्रयोग के साथ किए गए अध्ययन विशेष को विज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है। अध्यात्म भी विज्ञान है ह्व इस ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता, जबकि आत्मिक आनन्द की दृष्टि से एक वीतराग विज्ञान ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि जो निराकुल अतीन्द्रिय आत्मिक आनन्द वीतराग विज्ञान में है, वह कहीं नहीं है।

जैनदर्शन के प्राचीन अर्वाचीन विभिन्न ग्रन्थों में प्रयुक्त विज्ञान शब्द के साथ वीतराग शब्द का प्रयोग विज्ञान के विशेषण के रूप में किया गया है। जैसे कि ह्व

“मंगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान।

नमो ताहि जातें भये, अरहंतादि महान् ॥”

यह वीतराग विशेषण ही जैनदर्शन के विज्ञान को अन्य विज्ञान से विभक्त करता है। जैन आचार्यों की तो शर्त ही यही रही कि ह्व हम जिनवाणी

ही उसे कहते हैं, जिसमें वीतरागता का पोषण हो, राग को धर्म बताए वह जिनवाणी ही नहीं है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए देव-शास्त्र-गुरु स्तुति में कहा है ह्व

“पर आज समझ में आया है, कि वीतरागता धर्म अहा।

रागभाव में धर्म मानना, जिनमत में मिथ्यात्व कहा ॥

वीतरागता की पोषक ही, जिनवाणी कहलाती है।”

यद्यपि जैनदर्शन में जीव विज्ञान, शरीर विज्ञान, कर्म विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि का वैज्ञानिक रीति से सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन किया गया है, तथापि इस सबके वर्णन का मूल उद्देश्य वीतराग विज्ञान की प्राप्ति ही है।

आधुनिक विज्ञान का चिंतन मात्र मानव की सुख सुविधा की दृष्टि से की गई प्रगति की ओर है, जबकि जैनधर्म में प्राणीमात्र की सुख सुविधा की दृष्टि से विश्लेषण है। विज्ञान जहाँ संभावनाएँ ही व्यक्त करता है, धर्म वहाँ निश्चित बातें प्रस्तुत करता है। वैज्ञानिक स्वयं अपने ज्ञान को अधूरा मानते हैं, जबकि जैनधर्म में सर्वज्ञकथित वाणी होने से पूर्णता है। इतना होने पर भी दुर्भाग्य से आज धर्म को अपनी उपयोगिता और आवश्यकता की सिद्धि के लिए आधुनिक विज्ञान का सहारा लेना पड़ रहा है। जबकि आज आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान की उपलब्धियों को नकारे बिना उसके उपयोग में, प्रयोग में सावधानी बरतनी होगी, अहिंसक धर्म का सहारा लेना होगा; क्योंकि अणुशक्ति विनाश भी कर सकती है और निर्माण भी, देश को जगमगा भी सकती है, हरा-भरा भी कर सकती है; पर सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम उसका उपयोग शान्ति के लिए करते हैं या विनाश के लिए।

जो कुछ भी हो, यदि हमें सुख और शान्ति चाहिए तो धर्म को अपने जीवन का अंग बनाना ही होगा। विज्ञान की उपलब्धियों से सम्पन्न तथा आधुनिकता की दृष्टि से विकसित देशों के लोग आज आध्यात्मिक जीवन

को अपना भी रहे हैं, क्योंकि अध्यात्म से रहित विज्ञान जीव रहित शरीर के समान है।

1. विश्व व्यवस्था

जैनदर्शन के अनुसार यह विश्व छह द्रव्यों से बना हुआ है। इन छह द्रव्यों का कभी नाश नहीं होता; अतः विश्व का भी कभी नाश नहीं हो सकता।

द्रव्य गुण व पर्यायवाला होता है। कहा भी है ह “गुणपर्ययवद्द्रव्यम्” द्रव्य का स्थिर अंश गुण है और अस्थिर अंश पर्याय। पर्याय निरंतर परिणामनशील है; अतः द्रव्य में निरंतर परिवर्तन होता रहता है और इसी परिवर्तन को हम द्रव्य का नाश समझ लेते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि द्रव्य की मात्र अवस्था बदली है; परिवर्तन हुआ है, नाश नहीं। इसे हम निम्न उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं ह

सोने से सर्वप्रथम हार बनाया, फिर उसे तोड़कर चूड़ी बनाई, फिर अंगूठी बनाई ह तो इसमें सोना द्रव्य रूप में तो तीनों ही अवस्थाओं में विद्यमान रहा, पर उसकी पर्याय बदल गई। अतः उपयोग भी बदल गया अथवा इसे हम मनुष्य की बाल, युवा, वृद्धावस्था के द्वारा भी समझ सकते हैं। उत्पन्न हुआ बालक प्रतिसमय वृद्धि को प्राप्त होता है, किन्तु प्रतिसमय देखनेवाले माता-पिता को उसमें परिवर्तन नजर नहीं आता तथा जो व्यक्ति बहुत दिनों में देखता है, वह कहता है कि अरे यह इतना बड़ा हो गया, इतना बदल गया। इस कथन में जो बदला है, वह अंश पर्याय की ओर इंगित करता है तथा जो अंश नहीं बदला है, वह अंश द्रव्य की स्थिरता दर्शाता है, अर्थात् बालक के युवावस्था में पहुँचने पर सब कुछ बदलते हुए भी कुछ ऐसा भी है, जो नहीं बदला है।

इसीप्रकार छहों द्रव्यों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है ह यह परिवर्तन ही पर्याय है; पर कुछ उसमें ऐसा भी है, जो द्रव्य की सब अवस्थाओं में समान रूप से विद्यमान रहा है, वह गुण है। गुण द्रव्य के सम्पूर्ण भागों व उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में सदा विद्यमान रहते हैं।

विज्ञान भी यह कहता है कि कोई भी वस्तु कभी भी नष्ट नहीं होती, वह नष्ट हो ही नहीं सकती; क्योंकि वस्तुएँ तत्त्वों के मिश्रण से बनी हैं। अतः तत्त्वों का विघटन होने से उनका रूप बदल जाता है, पर तत्त्व कभी भी नष्ट नहीं होते हैं। जैसे हाइड्रोजन व ऑक्सीजन गैस के मिलने से पानी बन जाता है व विघटन से वह फिर गैस बन जाती है। यहाँ अवस्था बदली है, रूप परिवर्तन हुआ है, तत्त्व नष्ट नहीं हुए, न ही उनकी मात्रा में कुछ कमी ही आई है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन की विश्व व्यवस्था वैज्ञानिक ही है।

2. द्रव्य व्यवस्था

जैनदर्शन में प्रत्येक द्रव्य (वस्तु) का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव निश्चित कहा गया है। उनका कहना है कि “जिसप्रकार किसी द्रव्य का क्षेत्र निश्चित होता है, उसीप्रकार उसका काल भी निश्चित होता है। उदाहरण के तौर पर जैसे सोपान (सीढ़ी) पर सीढ़ियों का क्षेत्र की अपेक्षा एक अपरिवर्तनीय निश्चित क्रम होता है, उसीप्रकार उन पर चढ़ने का अपरिवर्तनीय कालक्रम भी होता है। जिसप्रकार उन्हें क्रम से ही बनाया जा सकता है, उसीप्रकार उन पर चढ़ने का कालक्रम भी है।

जिसप्रकार सिनेमा की रील में लंबाई है, उस लंबाई में जहाँ जो चित्र स्थित है, वह वहीं रहता है, उसका स्थान परिवर्तन संभव नहीं है; उसीप्रकार चलती हुई रील में कौनसा चित्र किस क्रम में आएगा ह यह भी निश्चित है, उसमें भी फेरफार संभव नहीं है। आगे कौनसा चित्र आएगा ह भले ही इसका ज्ञान हमें न हो, पर इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, आयेगा वह अपने नियमित क्रम में ही।

जिसप्रकार आकाशादि द्रव्यों का विस्तार क्रम नियमित है, उसीप्रकार उनका प्रवाहक्रम भी नियमित है। जिसप्रकार नियमित विस्तारक्रम में फेरफार संभव नहीं है, उसीप्रकार नियमित प्रवाहक्रम में भी फेरफार संभव नहीं है। जिसप्रकार प्रत्येक प्रदेश का स्वस्थान निश्चित है, उसीप्रकार प्रत्येक परिणाम (पर्याय) का स्वकाल भी निश्चित है।

जिसप्रकार क्षेत्र में एक नियमित प्रदेशक्रम है, उसीप्रकार काल (पर्याय) में भी पर्यायों का एक नियमित प्रवाहक्रम है।¹ अतः हम कह सकते हैं कि जिस द्रव्य की जो पर्याय, जिससमय, जिसकारण से होती है, वह तदनुसार ही होती है। उसमें परिवर्तन संभव नहीं।

विज्ञान में भी गति की निश्चितता से, ग्रह नक्षत्रों की गति निश्चित कर उनके बारे में भविष्यवाणी की जाती है। ये भविष्यवाणियाँ भविष्य को निश्चित माने बिना कैसे संभव है? अतः जैनदर्शन का यह सिद्धान्त कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय निश्चित है, वैज्ञानिकों द्वारा भी सिद्ध ही है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि वर्षों पहिले पर्याय की भी निश्चितता और टंकोत्कीर्णता की घोषणा करनेवाला जैनधर्म भी वैज्ञानिक ही है।

3. कर्म व्यवस्था

छह द्रव्यों के अनुसार विश्व व्यवस्था ऑटोमेटिक बताये जाने पर कर्म सिद्धान्त के अनुसार भी विश्व व्यवस्था सहज ही ऑटोमेटिक सिद्ध होती है। छहों द्रव्यों में से पुद्गल द्रव्य के अन्तर्गत 22 प्रकार की वर्गणाएँ होती हैं। उनमें से एक कार्माण वर्गणा भी होती है, जो जीव के मोह-राग-द्वेष रूप भावकर्मों का निमित्त पाकर द्रव्यकर्मरूप परिणमित हो जाती है और उसका संबंध मोही-रागी-द्वेषी आत्मा से होता है।

(i) **कर्मबंधन** – जैनमतानुसार “इस जीव को अनादिकाल से कर्म का बंधन है। इस जीव के समस्त दुःख का मूलकारण यह कर्मबंधन ही है। कर्मबंधन होने से जीव एकरूप नहीं रहता, नाना औपाधिक भावों में परिभ्रमण करता रहता है, इसलिए जीव की कर्मबंधन सहित अवस्था का नाम संसार अवस्था है। कर्म का जीव के साथ-साथ रहना ही जीव को कर्म का बंधन है। जब तक कर्म का बंधन रहता है, तब तक जीव व कर्म साथ-साथ रहते हैं, बिछुड़ते नहीं हैं ह्व बस इतना ही इनमें कारण-कार्यपना है। इस बंधन में कोई किसी को कुछ करता नहीं है।”²

1. क्रमबद्धपर्याय, पृ. 39

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 22

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन के अनुसार कर्मबंधन भी ऑटोमेटिक है।

(ii) **जीव व कर्म की भिन्नता** – जैनदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि ह्व “यद्यपि जीव व कर्म अनादिकाल से मिले हुए हैं, एकमेक हो रहे हैं, तदपि जीव व कर्म भिन्न-भिन्न ही हैं; क्योंकि जीव देखने-जानने रूप चेतनागुण का धारक है, इन्द्रियगम्य नहीं है, अमूर्तिक है, संकोचविस्तार शक्तिवाला, असंख्यात प्रदेशी एक द्रव्य है तथा कर्म चेतनागुण रहित, मूर्तिक, अनन्त पुद्गलपरमाणुओं का पिण्ड है, अतः एक द्रव्य नहीं है।

यद्यपि जीव का कर्म के साथ अनादि से संबंध है, फिर भी जीव का कोई भी प्रदेश कर्मरूप नहीं होता; कर्म का कोई परमाणु जीवरूप नहीं होता, अपने-अपने लक्षण को धारण किए हुए दोनों भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। जैसे सोने-चाँदी का एक स्कंध हो, तथापि पीतादि गुणों को धारण किए हुए सोना भिन्न रहता है और श्वेतादि गुणों को धारण किए हुए चाँदी भिन्न रहती है ह्व वैसे ही जीव व कर्म भी भिन्न-भिन्न ही हैं।”¹ इस भिन्नता का कर्त्ता कोई नहीं है; यह स्वतः है, ऑटोमेटिक है।

(iii) **घाति-अघाति कर्म और उनका कार्य** – जैनमतानुसार “कर्म ज्ञानावरणादि भेदों से आठ प्रकार के हैं। प्रथम चार घातिया कर्मों के निमित्त से जीव के स्वभाव का घात होता है। यद्यपि जीव में ही ऐसी शक्ति पाई जाती है कि कर्म का निमित्त न हो तो केवलज्ञानादि अपने स्वभावरूप प्रवर्त्ते; परन्तु अनादि से ही कर्म का संबंध पाया जाता है, इसलिए उस शक्ति की व्यक्तता नहीं होती; अतः शक्ति अपेक्षा स्वभाव है, उसका व्यक्त न होने देने की अपेक्षा ‘घात हुआ’ कहते हैं।

अंतिम चार अघातिया कर्म हैं, उनके निमित्त से इस आत्मा को बाह्य सामग्री का संबंध बनता है। बाह्य सामग्री के साथ मोह उदय का सहकार होनेपर जीव सुखी-दुःखी होता है और शरीरादिक के संबंध से जीव के

अमूर्त्तत्वादिक स्वभाव अपने स्व-अर्थ को नहीं करते ह्व जैसे कोई शरीर को पकड़े तो आत्मा भी पकड़ा जाता है तथा जबतक कर्म का उदय रहता है तबतक बाह्य सामग्री वैसी ही बनी रहती है, अन्यथा नहीं हो सकती ह्व इसप्रकार बाह्य सामग्री मिलने में अघातिकर्म निमित्त होते हैं।”¹

उक्त संदर्भ में भी जैनों का स्पष्ट मत है कि “कर्म स्वयं कर्ता होकर प्रयत्नपूर्वक जीव के स्वभाव का घात नहीं करते, बाह्य सामग्री को नहीं मिलाते अपितु जब उन कर्मों का उदयकाल होता है तब उस काल में स्वयं ही आत्मा स्वभावरूप परिणामन नहीं करता विभावरूप परिणामन करता है, तथा जो अन्यद्रव्य हैं वे भी वैसे ही संबंधरूप होकर परिणामित होते हैं ह्व ऐसा सहज ही निमित्त-नैमित्तिक² संबंध है। जिसप्रकार कि सूर्य के उदयकाल में चकवा-चकवियों का संयोग होता है, वहाँ रात्रि में कोई द्वेषबुद्धि से जबर्दस्ती अलग नहीं करता है, दिन में कोई करुणाबुद्धि से लाकर मिलाता नहीं हैं, सूर्योदय का निमित्त पाकर वे स्वयं ही मिलते हैं। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध बन रहा है। उस ही प्रकार कर्म का भी निमित्त-नैमित्तिक भाव होता है।”³ यह निमित्त-नैमित्तिक भाव भी ऑटोमेटिक होता रहता है।

(iv) नवीन बंध - जैनमतानुसार ह्व “मोह के उदय से आत्मा में ममत्वादिरूप मिथ्यात्वादि भाव होते हैं, वही बंध के कारण हैं। कर्मनिमित्त दूर होने पर उनका भी अभाव होता है; अतः वे मोहादि भाव जीव के

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 24-25

2. जैनमतानुसार कारण दो प्रकार के होते हैं ह्व (1) उपादान कारण (2) निमित्त कारण। जो स्वयं कार्यरूप में परिणामित हो उसे ‘उपादान कारण’ कहते हैं। जो स्वयं कार्यरूप परिणामित न हो, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप जिस पर आ सके, उसे निमित्तकारण कहते हैं। कार्य को उपादान कारण की अपेक्षा ‘उपादेय’ व निमित्त कारण की अपेक्षा कथन करने पर उसी कार्य को ‘नैमित्तिक’ कहा जाता है। जैसे ह्व मिट्टी व घट में उपादान-उपादेय संबंध है तथा कुम्हार और घट में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।

3. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ.-25

निजस्वभाव नहीं हैं, औपाधिक भाव हैं, विभाव भाव हैं; ये ही भाव नवीन बंध के कारण हैं; परद्रव्य बंध के कारण नहीं हैं।

मोहादि भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्मह्वइसप्रकार परस्पर कारण-कार्य भाव से संसार चक्र में परिभ्रमण होता रहता है।

इसप्रकार शरीर के व द्रव्यकर्म के संबंध सहित जीव के एकक्षेत्रावगाहरूप बंधान होता है। शरीर के जन्म समय से लेकर जितनी आयु की स्थिति हो उतने काल तक शरीर का संबंध रहता है तथा आयु पूर्ण होने पर मरण होता है तब उस शरीर का संबंध छूटता है, शरीर-आत्मा अलग-अलग हो जाते हैं। तथा उसके अनन्तर समय में अथवा अधिक-से-अधिक चौथे समय में जीव कर्मोदय के निमित्त में नवीन शरीर धारण करता है; वहाँ भी आयुपर्यंत उसीप्रकार संबंध रहता है, फिर मरण होता है तब उससे संबंध छूटता है। इसीप्रकार पूर्व शरीर का छोड़ना और नवीन शरीर का ग्रहण करना अनुक्रम से होता रहता है।

इस शरीर के अंगभूत द्रव्य इन्द्रिय और मन की सहायता से जीव को जानने की प्रवृत्ति होती है। तथा शरीर की अवस्थानुसार मोह के उदय से जीव सुखी-दुःखी होता है। कभी तो जीव की इच्छानुसार शरीर प्रवर्तता है, कभी शरीर की अवस्था के अनुसार जीव प्रवर्तता है, कभी जीव अन्यथा इच्छारूप होता है, तो कभी पुद्गल अन्यथा अवस्था रूप प्रवर्तता है।

जो परमाणु कर्मरूप परिणामित होते हैं उनका जब तक उदयकाल न आए तब तक जीव के प्रदेशों से उनका एकक्षेत्रावगाहरूप बंधन रहता है।

जब प्रकृतियों का उदयकाल आये तब स्वयमेव उन प्रकृतियों के अनुभाग के अनुसार होता है, कर्म उन कार्यों को उत्पन्न नहीं करते। उनका उदयकाल आने पर वह कार्य बनता है ह्व इतना ही उनमें निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। तथा जिससमय फल उत्पन्न हुआ उसके अनन्तर समय में उन कर्म पुद्गलों को अनुभाग शक्ति का अभाव होने से कमत्वर्पने का अभाव होता है, वे पुद्गल अन्यरूप परिणामित होते हैं। इसप्रकार प्रतिसमय उदय होकर कर्म खिरते हैं।

कर्मत्वपने के नास्ति होने के पश्चात् वे परमाणु उसी स्कन्ध में रहें या अलग हो जाएँहकुछ प्रयोजन नहीं रहता।”¹ इसमें भी कोई अन्य कर्ता-धर्ता नहीं है। यह नवीन बंध भी अपने परिणामों के अनुसार ऑटोमेटिक होता रहता है।

(v) ज्ञानहीन जड़-पुद्गल परमाणुओं का यथायोग्य प्रकृतिरूप परिणमन - यद्यपि पुद्गल परमाणु जड़ हैं, उन्हें कुछ ज्ञान नहीं है, फिर भी वे यथायोग्य प्रकृतिरूप होकर परिणमन करते हैं। जिसप्रकार भूख होने पर ग्रहण किया हुआ भोजनरूप पुद्गल पिण्ड माँस, शुक्र, शोणित आदि धातुरूप परिणमित होता है तथा उस भोजन के परमाणुओं में यथायोग्य किसी धातुरूप थोड़े और किसी धातुरूप बहुत परमाणु होते हैं तथा उनमें कई परमाणुओं का संबंध बहुत काल रहता है, कुछ का थोड़े काल रहता है। तथा उन परमाणुओं में कई तो अपने कार्य को उत्पन्न करने की बहुत शक्ति रखते हैं और कई थोड़ी शक्ति रखते हैं। वहाँ ऐसा होने में भोजनरूप पुद्गलपिण्ड को ज्ञान तो होता नहीं कि मैं इसप्रकार परिणमन करूँ तथा और भी कोई परिणमन करानेवाला नहीं है, ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक भाव हो रहा है, उससे वैसे ही परिणमन पाया जाता है।

उसीप्रकार कषायभाव होने पर योग द्वार से ग्रहण किया हुआ कर्मवर्गणारूप पुद्गलपिण्ड ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप परिणमित होता है। तथा उन कर्म परमाणुओं में यथायोग्य किसी प्रकृतिरूप थोड़े और किसी प्रकृतिरूप बहुत परमाणु होते हैं। उनमें कई परमाणुओं का संबंध थोड़े काल और कईयों का संबंध बहुत काल रहता है। तथा उन परमाणुओं में कई तो अपने कार्य को उत्पन्न करने की बहुत शक्ति रखते हैं और कई थोड़ी शक्ति रखते हैं। वहाँ ऐसा होने में कर्मवर्गणारूप पुद्गलपिण्ड को ज्ञान तो होता नहीं कि मैं इस प्रकार परिणमन करूँ तथा और भी कोई परिणमन कराने वाला नहीं है, ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक भाव बन रहा है, उससे वैसे ही परिणमन पाया जाता है।²

1. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. 30-31 2. मोक्षमार्गप्रकाशक, पं. टोडरमलजी, पृ. 28-29

इसप्रकार जीवभाव के निमित्त से, पुद्गल परमाणुओं में ज्ञानावरणादि शक्ति स्वतः सहज ही होती है, उसका कोई कर्ता नहीं है, फेर-फार कर्ता भी नहीं है; क्योंकि भूतकाल में परिवर्तन हो सकता नहीं, वर्तमान पर्याय उदय में आ गई है, एक क्षण में स्वयं नष्ट होनेवाली हैं, अतः उसमें परिवर्तन कर सकते नहीं तथा जो पर्याय उत्पन्न ही नहीं हुई उसमें भी परिवर्तन कैसे संभव है? उसका तो हमें पता ही नहीं है कि कौनसी पर्याय आनेवाली है? कैसे पता चले यह पर्याय आनी है या नहीं।

दूसरी बात यह है कि पुद्गलादि पाँच द्रव्य तो अचेतन हैं; अतः वे चाह सकते नहीं, इच्छा कर सकते नहीं तथा जीव पाप कर्म के उदय में भी सुखी होना चाहता है पर यह कैसे संभव है कि हमारे पाप का उदय हो और हमें कोई सुखी कर दे। इसीप्रकार यह भी कैसे संभव है कि हमारे पुण्य का उदय हो और हमें कोई दुःखी कर दे। यदि ऐसा होने लग जावे तो फिर स्वयंकृत पाप-पुण्य का क्या महत्त्व रह जाएगा? उक्त संदर्भ में आचार्य अमितगति का निम्नांकित कथन ध्यान योग्य है ह

“स्वयं कृतं कर्म यदात्मा पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।।
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो न कोपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचान्नेवमनन्यमानसः परो ददातीति विमुच्च शेमुषीम्।।

इस जीव के द्वारा पूर्व में जो शुभ और अशुभ कर्म स्वयं किए कहे गए हैं, उनका ही फल उसे वर्तमान में प्राप्त होता है। यह बात पूर्णतः सत्य है, क्योंकि यदि यह माना जाए कि दुःख-सुख दूसरों के द्वारा किए जाते हैं तो फिर स्वयं किए गए संपूर्ण कर्म निरर्थक सिद्ध होंगे।

अपने द्वारा किए गए कर्मों को छोड़कर इस जीव को कोई भी कुछ नहीं देता। जो कुछ भी सुख-दुःख इसे प्राप्त होते हैं, वे सब इसके ही शुभाशुभ कर्मों के फल हैं। इसलिए मन को अन्यत्र न भटका कर, अनन्य मन से इस बात का विचार करके पक्का निर्णय करके हे भव्यात्मा! “सुख-दुःख दूसरे देते हैं” ह इस विपरीत बुद्धि का छोड़ दे।

यदि हम जीवन भर पाप करते रहें, फिर भी कोई हमें उन पाप कर्मों के फल भोगने से बचा ले, दुःखी न होने दे, सुखी कर दे तो फिर हम पाप करने से डरेंगे ही क्यों? किसी भी तरह हो, उसे ही प्रसन्न करने में जुटे रहेंगे, क्योंकि सुख-दुःख का संबंध अपने कर्मों से न रहकर पर की प्रसन्नता पर आधारित हो गया। यह मान्यता तो पाप को प्रोत्साहित करनेवाली होने से पाप ही है। जो कि हमें व आपको भी स्वीकार्य नहीं होगी।

इसीप्रकार हम जीवनभर पुण्य कार्य करें, फिर भी कोई हमें दुःखी कर दें तो फिर हम सुखी होने के लिए पुण्य कार्य क्यों करेंगे, बस उसकी ही सेवा करते रहेंगे, किसी भी प्रकार क्यों न हो, उसे ही प्रसन्न रखेंगे।

बुरे कार्य करने में हतोत्साहित एवं अच्छे कार्य करने में प्रोत्साहित तो यह जीव तभी होगा, जबकि उसे इस बात का पूरा भरोसा हो कि बुरे कार्य का बुरा फल और अच्छे कार्य का अच्छा फल निश्चित रूप से भोगना ही होगा।

इसी बात पर व्यंग्य करते हुए किसी कवि ने लिखा है -

“अरे जगत् में ईश्वर क्या कर सकता है इंसाफ।

अरे प्रार्थना की रिश्वत पर कर देता जो माफ।।”

यदि जगत् में कोई ईश्वर है और वह पापियों के बड़े-बड़े पापों को भी, प्रार्थना करने मात्र से पापमुक्त कर देता है तो वह दयासागर भले ही कहला ले, पर न्याय नहीं कर सकता है, वह न्यायवान भी नहीं है, क्योंकि उसने अपराधी को दण्ड न देकर स्वयं की चापलूसी करने मात्र से अपराध मुक्त कर दिया, जो सरासर अन्याय है।

हमने किसी प्राणी को मारा या दुःखी किया तो क्षमा करने का अधिकार भी उसी का है, जिसे हमने कष्ट पहुँचाया है। उसे संतुष्ट किए बिना ईश्वर को किसी को भी क्षमा करने का अधिकार कहाँ से प्राप्त हो गया? यह क्रिया तो पापों को प्रोत्साहित करनेवाली हुई, क्योंकि फिर कोई पाप करने से डरेगा ही क्यों? उसके पास तो पापों के फल को बिना भोगे ही बचने का उपाय विद्यमान है।

जैन आचार्य कहते हैं कि “मैं दूसरों को मारता हूँ या बचाता हूँ अथवा सुखी-दुःखी करता हूँ” - यह मान्यता मिथ्या अभिमान की जननी है और “दूसरे जीव मुझे मारते हैं, बचाते हैं, सुखी-दुःखी करते हैं - यह मान्यता दीनता पैदा करती है, भयाक्रांत करती है, अशांत करती है, आकुलता-व्याकुलता पैदा करती है।

अतः यदि हम अभिमान से बचना चाहते हैं, दीनता को समाप्त करना चाहते हैं, आकुलता-व्याकुलता और अशांति से बचना चाहते हैं, निर्भर होना चाहते हैं तो उक्त मिथ्या मान्यता को तिलांजलि देना ही श्रेयस्कर है, जड़मूल से उखाड़ कर फेंकना ही श्रेयस्कर है ह सुखी और शांत रहने का एकमात्र यही उपाय है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि जैनमान्यतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को लौकिक अनुकूलता एवं प्रतिकूलता अपने-अपने कर्मोदयानुसार ही प्राप्त होती है, उसमें किसी का भी, यहाँ तक कि किसी सर्व शक्तिमान भगवान का भी हस्तक्षेप संभव नहीं और यही न्याय संगत भी है।

जैनदर्शन का यह ऑटोमेटिक (स्वसंचालित) सिद्धान्त जन-जन की स्वतंत्रता का सिद्धान्त है, कण-कण की स्वतंत्रता का सिद्धान्त है। कर्ताबुद्धि की भ्रांति से रहित अकर्तृत्व का सिद्धान्त है। जन-जन व कण-कण की स्वतंत्रता का उद्घोष करनेवाला जैनधर्म सहज, स्वाभाविक, सटीक व वैज्ञानिक ही है।

जैन दर्शन के कर्म सिद्धान्त की वैज्ञानिकता के संदर्भ में टी.के. तुकाल का निम्न कथन दृष्टव्य है -

"The Jains always exhibited the highest sense of respect for nature and almost a sort of mystic rapture. The doctrine of karma is common in all the religions in India, but a distinct stamp of scientific and analytical classification is found in the Jaina interpretation."¹

प्रकृति और उसके सभी स्वरूपों (जीवन) के प्रति जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म चिन्तन द्वारा प्रकाशित है। कर्मवाद के सिद्धान्त को भारतीय धर्मों

के सभी चिन्तकों ने समान रूप से वर्णित किया है; परन्तु जैनों की व्याख्या विशिष्ट वैज्ञानिक और तर्कयुक्त भेदों से पूर्ण है।

आज वैज्ञानिक भी मानव संचालित व्यवस्था की अपेक्षा ऑटोमेटिक व्यवस्था बनाने में प्रयासरत हैं; क्योंकि वही अधिक व्यवस्थित व भरोसेमंद है। तो फिर वर्षों पहिले विश्व व्यवस्था व कर्म व्यवस्था को ऑटोमेटिक घोषित करनेवाला जैनधर्म वैज्ञानिक क्यों नहीं है?

4. कथन शैली

विषय वस्तु के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से भी जैनदर्शन वैज्ञानिक है। जैनदर्शन में विषयवस्तु को चार अनुयोगों¹ में विभक्त किया गया है -

1. द्रव्यानुयोग, 2. चरणानुयोग, 3. प्रथमानुयोग और 4. करणानुयोग। जिसप्रकार प्रथम बार कार का अविष्कार कर कार के संबंध में व्यवस्थित जानकारी देनेवाला वैज्ञानिक कहलाता है, कार चलानेवाला कलाकार (ड्राइवर), कार बनानेवाला निर्माता तथा उसके पार्ट्स के बारे में विस्तार से सूक्ष्म कथन करनेवाली पुस्तक भी होती है। उसीप्रकार जैनदर्शन में सिद्धान्तों के तर्क-वितर्क सहित वैज्ञानिकता से ओतप्रोत व्यवस्थित ज्ञान को द्रव्यानुयोग में बताया गया है। इन सिद्धान्तों को जीवन में उतारने की कला का वर्णन चरणानुयोग में किया गया है। प्रथमानुयोग में उन महापुरुषों का वर्णन है, जिन्होंने उन सिद्धान्तों को जीवन में उतारा है तथा करणानुयोग में पार्ट्स की तरह कर्म विज्ञान का अति सूक्ष्म केवलज्ञान गम्य बात का वर्णन होता है। इसमें कर्मों के साथ-साथ तीनों लोकों की भूगोल संबंधी गणना, माप का वर्णन होता है, अतः इसमें गणित की मुख्यता रहती है।

प्रथमानुयोग में महापुरुषों के चरित्रों द्वारा पुण्यपाप के फल का वर्णन होता है और अंत में वीतरागता को हितकर बताया जाता है।

चरणानुयोग में स्थूल बुद्धिगोचर कथन होता है। इसमें सुभाषित व नीतिशास्त्रों की पद्धति मुख्य है; क्योंकि इसमें गृहस्थों व मुनियों के आचरण नियमों का वर्णन होता है। इसमें जैसे भी यह जीव पाप छोड़ धर्म में लगे

1. शास्त्रों के कथन करने की पद्धति को अनुयोग कहते हैं।

अर्थात् वीतरागता की वृद्धि करे जैसे ही अनेक युक्तियों से कथन किया जाता है। इसमें बाह्य क्रिया की मुख्यता रहती है।

द्रव्यानुयोग में आत्मपरिणामों की मुख्यता से कथन होता है। इसमें तत्त्व निर्णय करने की मुख्यता से कथन होता है, अतः इसमें न्यायशास्त्र की पद्धति मुख्य है; क्योंकि निर्णय युक्ति व न्याय के बिना संभव नहीं।

वर्ण्य विषय की कथन शैली की दृष्टि से भी जैनधर्म वैज्ञानिक है। चूँकि वस्तु अनेकान्त स्वरूप है, अतः जैनदर्शन में अनन्त धर्मात्मक वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को सापेक्षात्मक पद्धति से समझाया गया है। इस सापेक्ष कथन पद्धति को वे स्याद्वाद कहते हैं। उनके अनुसार सापेक्षनय ही वस्तु की सिद्धि करते हैं, निरपेक्षनय मिथ्या होते हैं।

स्याद्वाद शायद, संशय या संभावना का नाम नहीं; क्योंकि इन शब्दों में अनिश्चय है व अनिश्चय अज्ञान का सूचक है। स्याद्वाद में कहीं भी अज्ञान की झलक नहीं। वह जो कुछ कहता है, दृढ़ता के साथ कहता है, वह कल्पनाएँ नहीं करता, संभावनाएँ व्यक्त नहीं करता।

जैनदर्शन के अलावा दुनिया में किसी धर्म में नय नाम की चीज नहीं है। 'नय' तो जैनदर्शन की अद्भुत निधि है।

स्याद्वाद और अनेकान्त जैनधर्म का यह सिद्धान्त वस्तु स्वरूप के सही रूप का दिग्दर्शन करनेवाला होने से आत्मशान्ति के साथ-साथ विश्वशान्ति का भी प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है। इस संबंध में सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् एवं राष्ट्र कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' संस्कृति के चार अध्याय (पृष्ठ 137 पर) में लिखते हैं कि -

“इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनाएगा, विश्वशान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।”

जैन दर्शन की शैली की वैज्ञानिकता के संदर्भ में डॉ. एम. हफीज का निम्न कथन दृष्टव्य है -

"The Method of approach to truth in Jainism is fairly scientific in the sense that it treats with the problem of life and soul with the well known system of classification, analysis and right and accurate understanding."¹

जैन दर्शन में जिस विधि से सत्य को समझाया गया है वह स्पष्टतः वैज्ञानिक है। जीव एवं आत्मा को समझने में तर्क, भेद, प्रयोग व परिणाम की सही व सटीक चिर-परिचित विधि का ही प्रयोग है।

5. भक्ति

प्रसिद्ध जैन विद्वान डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल ने सिद्ध किया है कि – “जैनदर्शन की भक्ति भी वैज्ञानिक है, क्योंकि वह निःस्वार्थभाव से की गई है। निःस्वार्थभाव से की गई भक्ति ही सहज, स्वाभाविक व वैज्ञानिक होती है। भक्ति तो गुणों में अनुराग का नाम है। सच्चे भक्त भी निःस्वार्थभाव से ही भक्ति करते हैं। इसे हम क्रिकेट के खिलाड़ी के उदाहरण से भलीभाँति समझ सकते हैं।

एक व्यक्ति क्रिकेट का विश्वस्तर का बल्लेबाज बनना चाहता है, तदर्थ अभ्यास करने के लिए एक प्रशिक्षक भी रखता है, जो जेठ की दोपहर की कड़ी धूप में साथ-साथ रहकर उसे अभ्यास कराता है, इसकारण वह उसका समुचित विनय भी करता है, तथापि उसका चित्र अपने कमरे में नहीं लगाता है। चित्र तो वह अपने घर में विश्वप्रसिद्ध बल्लेबाजों के ही लगाता है, गावस्कर व कपिलदेव के ही लगाता है। यद्यपि यह सत्य है कि प्रत्यक्ष उपकारी तो वह प्रशिक्षक ही है, पर उसका आदर्श वह प्रशिक्षक नहीं, विश्वस्तरीय बल्लेबाज हैं।

यद्यपि विश्वस्तरीय बल्लेबाजों से उसका प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं है, वे उसे कुछ सिखाते नहीं हैं, बताते नहीं हैं, सिखा सकते भी नहीं हैं, बता सकते भी नहीं हैं, मात्र टी.वी. पर ही देखा है, तथापि उसके हृदय में बिना किसी अपेक्षा के उनके प्रति उत्कृष्ट कोटि का बहुमान का भाव बना रहता है, क्योंकि वे उसके आदर्श हैं, उसे उन जैसा ही बनना है।

1. Dr. M. Hafiz Syed. V.O.A. Vol. III. P. 8

क्या उस व्यक्ति का विश्वस्तरीय बल्लेबाजों के प्रति वह भक्ति का भाव स्वाभाविक नहीं है, सहज नहीं है, वैज्ञानिक नहीं है? यदि है तो फिर निःस्वार्थ भाव से की गई जैनियों की भक्ति सहज क्यों नहीं है? स्वाभाविक क्यों नहीं है, वैज्ञानिक क्यों नहीं है? क्या किसी लौकिक कामना से की गई भक्ति ही सहज होती है, स्वाभाविक होती है?

जैनदर्शन के अनुसार भगवान की भक्ति का उद्देश्य जब उन जैसा बनना ही है, तब उनके प्रति सहज भाव से भक्ति का भाव होना भी अस्वाभाविक कैसे हो सकता है? जिससे हमारा प्रत्यक्ष सम्पर्क है, जो हमें तत्त्वज्ञान सिखाते हैं या अन्य प्रकार से हमारा उपकार करते हैं, उनके प्रति किए गए विनयभाव के पीछे कदाचित् हमारा स्वार्थभाव भी रह सकता है, पर जिनसे हमारा कभी सम्पर्क भी न रहा हो, जो हमारा कोई कार्य भी न करते हों, उनके प्रति विनयभाव तो एकदम निःस्वार्थभाव से ही होगा ना? यही कारण है कि जैनियों की भक्ति निःस्वार्थभाव की ही भक्ति होने से सहज, स्वाभाविक व वैज्ञानिक भक्ति है।

जैनियों के भगवान विषय कषाय और उसकी पोषक सामग्री तो देते ही नहीं, वे तो अलौकिक सुख और शान्ति भी नहीं देते, मात्र सच्चे सुख शान्ति प्राप्त करने का उपाय बताते हैं, विधि बताते हैं। भगवान कहते हैं कि भाई तुम किसी अन्य परमेश्वर के प्रतिबिम्ब मात्र नहीं हो, तुम किसी के अंग भी नहीं हो, तुम तो स्वयं परमेश्वर हो, तुम तो स्वयं परिपूर्ण भगवान हो, तुम किसी की परछाई भी नहीं हो, तुम स्वयं मूल तत्त्व हो, तुम्हें किसी अन्य में लीन नहीं होना है, स्वयं में ही समा जाना है, तुम्हें किसी अन्य के प्रति समर्पित नहीं होना है, अपने में ही समर्पित हो जाना है, तुम्हारा कल्याण कोई अन्य नहीं करेगा, तुम्हें स्वयं ही अपना कल्याण करना है।

जैनियों के भगवान किसी को अपना भक्त नहीं बनाना चाहते, न ही वे उन्हें भगवानदास बनाते हैं, वे तो सभी भक्तों को भगवान बनने का ही उपदेश देते हैं।

जैनदर्शन के ग्रन्थराज तत्त्वार्थ सूत्र के पहिले ही सूत्र में मोक्षमार्ग की विधि बता दी गई है। मोक्षमार्ग की विधि ही भगवान बनने की विधि है। वहाँ ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं लगाया कि तुम इतना सीखकर आओ, इतनी साधना करो तब तुम्हें भगवान बनने की विधि बताई जाएगी।”¹

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन का मार्ग पूर्ण स्वाधीनता का मार्ग है। स्वाधीनता का मार्ग ही सहज, स्वाभाविक व वैज्ञानिक है।

6. आचरण व्यवस्था

जैन विचार के समान जैन आचार भी वैज्ञानिक है। जैनाचार में पाँच प्रकार के अभक्ष्य (न खाने योग्य) बताए हैं – त्रसघातमूलक, बहुघात-मूलक, नशाकारक, अनुपसेव्य व अनिष्ट।

(i) **त्रसघातमूलक** – जिनमें त्रस जीवों का घात होता है, ऐसे मांसादि त्रसघात मूलक अभक्ष्य हैं। जैन परिभाषा के अनुसार त्रस जीवों के शरीर के अंश का नाम ही मांस है। दो इन्द्रियों से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते हैं। मांस की उत्पत्ति न केवल त्रस जीवों के घात से होती है, अपितु मांस में निरन्तर ही अनन्त त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं। अतः मांस खाने में न केवल उस एक त्रस जीव की हिंसा का दोष है, जिसको मारा गया है, अपितु उन अनन्त त्रस जीवों की हिंसा का अपराध भी है, जो उसमें निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। अनेक बीमारियों का घर तो मांसाहार है ही, साथ ही साथ वह अपवित्र है, अनैतिक है, हिंसक है एवं अनंत दुःखों का कारण है।

लन्दन के एक बहुत प्रसिद्ध डाक्टर मि. हैग कहते हैं, “मांस में यूरिया और यूरिक एसिड नाम के दो बहुत ही भयानक विष पाये जाते हैं, जो मनुष्य के शरीर में जाकर भयानक रोगों को उत्पन्न करते हैं।.....

दालों में व वनस्पतियों में इस विष की मात्रा बहुत ही कम अर्थात् न के बराबर ही होती है। पनीर, दूध से बने पदार्थों, चावल आदि में यूरिक एसिड बिलकुल भी नहीं पाया जाता।

1. णमोकार महामंत्र; पृ. - 24-26

जब यह विष मनुष्य के रक्त में मिल जाता है तब यह विष दिमागी बीमारियाँ, हिस्टीरिया, सुस्ती, नींद का अधिक आना, साँस रोग, जिगर की खराबी, अजीर्ण रोग, शरीर में रक्त की कमी आदि बहुत सी बीमारियों को पैदा करता है। यह विष जब किसी गाँठ या जोड़ में रुक जाता है तो बात रोग, गठिया बाय, नाक और कलेजे की दाह, पेट के विभिन्न दर्द, मलेरिया, निमोनिया, इन्फ्लुएंजा और क्षय रोग उत्पन्न करता है।

माँस में कैलशियम की बहुत कमी होती है और कार्बोहाइड्रेट्स के नितान्त अभाव के कारण माँस पेट में जाकर सड़ता है और अण्डे की तरह यह भी सड़ांध पैदा करने वाले कीटाणुओं को बढ़ावा देता है, इससे गैस की भयंकर बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं।”¹

डाक्टर जोशिया आल्डफील्ड डी.सी., एम.आर., सी.एल.आर., सी.पो. सीनियर फिजीशियन मार्गिट हॉस्पिटल, ब्रामले का भी यही अनुभव है कि ‘माँस, मछली व अण्डे अप्राकृतिक भोजन हैं। इनसे शरीर में अनेक भयंकर बीमारियाँ जैसे कैंसर, क्षय, ज्वर, यकृत, मृगी, बात रोग, पादशोथ, नासूर आदि उत्पन्न हो जाते हैं।’

कोलगेट यूनिवर्सिटी (यू.एस.ए.) के एक वैज्ञानिक श्री ल्यार्ड ने अपने परीक्षणों के आधार पर लिखा है कि ‘माँस में कैलशियम, कार्बोहाइड्रेट्स नहीं होते, इसलिए उसे खाने वाले चिड़चिड़े, क्रोधी, निराशावादी और असहिष्णु बन जाते हैं। शाकाहार में कैलशियम और कार्बोहाइड्रेट्स की मात्रा काफी होती है, इसलिए शाकाहारी प्रसन्नचित्त, आशावादी, सहनशील व शान्तिप्रिय बनते हैं। कठिनाइयाँ उनके साहस और धैर्य को बँधाती हैं। वे नरक में भी स्वर्ग के विचार रखते हैं।’

दो अमेरिकी डॉक्टरों डॉ. ए. वाचमन और डॉ. डी.एस. वर्नस्टीन ने सिद्ध किया है कि माँसाहार से हड्डियाँ क्रमशः कमजोर होती हैं और गलने लगती हैं। शाकाहारियों की हड्डियाँ माँसाहारियों की अपेक्षा अधिक मजबूत होती हैं। डॉक्टर अलेक्जैण्डर हैक ने इस तथ्य की पुष्टि की है।

1. भगवान महावीर और उनकी अहिंसा; प्रकाशक प्रेम रेडियो एण्ड इलेक्ट्रिक मार्ट, पृ. 137

इंग्लैण्ड के नगरों और गाँवों का निरीक्षण करने के पश्चात् **मि. किंग्सफोर्ड** और **मि. हेनरी** ने लिखा है, “प्राचीन काल में अंग्रेज लोग अत्यन्त बलिष्ठ, स्वस्थ, सुगठित शरीर वाले और अधिक परिश्रमी होते थे, परन्तु जबसे उनके भोजन में प्राकृतिक पदार्थों के स्थान पर माँस, मदिरा, अण्डे व मछली ने अधिकार कर लिया है तबसे उनका स्वास्थ्य व शक्ति धीरे-धीरे घट रही है। पच्चीस वर्ष की अवस्था में ही उनके शरीर का अधःपतन हो जाता है। यह भी देखने में आया है कि माँसाहारी परिवारों के लड़के-लड़कियों का स्वास्थ्य बहुत गिरा हुआ होता है। उनमें हृदयरोग व कैंसर की शिकायतें पाई गईं।” अपनी प्रजा के गिरते हुए स्वास्थ्य को देखकर **इंग्लैण्ड की सरकार** की ओर से **ब्रिटिश बोर्ड ऑफ एग्रीकल्चर** ने समाचार पत्रों द्वारा एक लेख से अपनी अंग्रेज प्रजा को चेतावनी दी थी - “माँसाहार छोड़कर उसके बदले दूध, पनीर और मसूर की दाल का प्रयोग करो, जो माँस के समान शरीर में माँस पैदा करते हैं और मूल्य में सस्ते हैं। शाक और फल-फूलादि का अधिक प्रयोग करो।”

फ्रांस के एक विद्वान **श्री किंगसन फोर्ड** ने लिखा है - “यहाँ के लोगों का स्वास्थ्य और शरीर का बल पाशविक भोजन के कारण दिन-प्रति-दिन गिरता जा रहा है।” अब वहाँ पर भी लोग शाकाहार की ओर बढ़ रहे हैं।

किम्बरलैण्ड के देहातों की अवस्था पर **मि. स्माइल** ने लिखा है - “जो व्यक्ति दूध, पनीर, फल, रोटी और सब्जियों का प्रयोग करते हैं वे माँस-मदिरा का सेवन करने वालों से अधिक स्वस्थ, बलवान और परिश्रमी पाये जाते हैं।”

मैक्सिको के निवासी साधारण अनाज की रोटियों और फलों का सेवन करते हैं, परन्तु वे शरीर से इतने शक्तिशाली होते हैं कि माँस का सेवन करने वाले मजदूर उनका किसी प्रकार भी मुकाबला नहीं कर सकते। इन शाकाहारियों की शक्ति को देखकर आश्चर्य होता है।

डॉ. ब्रुक ने नार्वे के लोगों के विषय में लिखा है कि ‘वे सदा-प्रसन्नचित्त, दीर्घायु और स्वस्थ पाये जाते हैं कारण कि वे लोग माँस व अण्डों से बड़ी सख्त घृणा करते हैं।’

यूनान के एक समाचारपत्र ने लिखा है कि ‘जबसे यहाँ के निवासियों ने शाकाहार छोड़कर माँस-मदिरा का सेवन शुरू कर दिया है तबसे यूनान के लोग सुस्त और निकम्मेपन के लिए प्रसिद्ध हो रहे हैं। इन लोगों को चाहिए कि स्वास्थ्य के लिए माँस-मदिरा रहित भोजन, हरी सब्जी, फल, मेवे, अनाज व दूध का सेवन करें।’

डॉक्टर आनन्द निमल सूरिया ने खोज के पश्चात् लिखा है कि ‘माँस पशु-पक्षियों को तड़पाकर मारने पर मिलता है। जब पशु-पक्षियों को निर्दयता से मारा जाता है तब वह तड़पते हैं, दुःखी होते हैं और भयभीत होते हैं। ये बुरी भावनाएँ उनके शरीर में रासायनिक परिवर्तन करके उनके माँस व खून को अम्लोत्पादक बना देती हैं। इसके अतिरिक्त मरे हुए पशुओं की रक्तनली के विषैले पदार्थ प्रोटीन को गन्दा कर देते हैं।’ डॉक्टर साहब आगे लिखते हैं कि ‘उन्होंने मरे हुए व मारे हुए पशुओं के मृत शरीरों को Microscope से देखा है, जिससे मालूम पड़ा है - माँस को उबालने पर भी खुर्दबीन से परीक्षण करने पर उसमें बहुत सारे भयंकर कीटाणु पाये गये, जो शरीर में सैकड़ों बीमारियाँ पैदा करते हैं। इसलिए शुद्ध व बढ़िया प्रोटीन तो दालों, अनाजों व दूध में ही पाया जाता है।’

यहाँ एक बात और विचारणीय है। माँसाहारी व्यक्ति केवल शाकाहारी पशुओं यथा ह्व भेड़, बकरी, गाय, ऊँट, मछली, मुर्गे आदि का ही माँस खाते हैं। माँसाहारी पशुओं यथा - शेर, चीते, भेड़िये आदि का माँस कोई नहीं खाता, क्योंकि इन माँसाहारी पशुओं का माँस विषैला होता है। इस तथ्य से भी यह स्पष्ट है कि माँसाहार हमारे शरीर में विष पैदा करता है, जबकि शाकाहार हमारे शरीर को शुद्ध रखता है।

जर्मन के एक प्रसिद्ध विद्वान **मि. हैकल** ने लिखा है कि ‘जहाँ तक परीक्षा से मालूम हुआ है कि मनुष्य और वनमानुष के शरीर की बनावट

आपस में मिलती है। हमारे शरीर की भाँति उसके भी हड्डियाँ व नसें होती हैं। मनुष्य के आमाशय में पाचन क्रिया के लिए जो विशेषता पाई जाती है, वही वनमानुष में भी होती है। वनमानुष फल और शाक-सब्जी खाते हैं; अतः मनुष्य का भी यही आहार होना चाहिए। इसी कारण मनुष्य प्राकृतिक रूप से शाकाहारी है, माँसाहारी नहीं।

डॉक्टर रोबर्ट ग्रेस और प्रोफेसर इरविन डेविडसन ने लिखा है कि - “प्रत्येक मनुष्य के शरीर के खून में लगभग 20 ग्रेन कोलेस्ट्रॉल की मात्रा बढ़ जाये तो हाई ब्लड प्रेशर आदि कई भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। एक अण्डे की जरदी में चार ग्रेन कोलेस्ट्रॉल पाया जाता है। इसलिए अण्डे की जरदी मनुष्य के लिये हानिकारक होती है। अण्डे खाने से खून में कोलेस्ट्रॉल की मात्रा बढ़ जाती है। इस कोलेस्ट्रॉल की काफी मात्रा हमारे जिगर में जमा हो जाती है, फिर यह पित्त की थैली में पथरी को पैदा करती है। यह कोलेस्ट्रॉल रक्त में मिलकर हृदय में रक्त ले जाने वाली नाड़ियों में जमा हो जाता है। इससे हाई ब्लड प्रेशर जैसी बीमारियाँ, दिमाग की बीमारियाँ, जिगर की बीमारी, गुरदे की सूजन, जोड़ों का दर्द आदि भयंकर बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं। इसके विपरीत फल व सब्जियों में कोलेस्ट्रॉल बिलकुल नहीं पाया जाता, अतः शाकाहार ही सर्वश्रेष्ठ है।”

इसप्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य के दाँतों व आँतों की रचना शाकाहारी प्राणियों के समान हैं। माँसाहारियों के समान नहीं। अतः शाकाहार स्वास्थ्य के अनुकूल है। मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी ही है। शाकाहारियों में जबरदस्त जीवन शक्ति होती है। अतः माँसाहार त्याज्य है तथा शाकाहार ही श्रेष्ठ आहार है।

(ii) बहुघातमूलक - जिनमें बहुत से स्थावर जीवों का घात होता है, ऐसे जमीकन्द आदि बहुघात मूलक अभक्ष्य है। पेड़-पौधों की जड़, जिसे कन्दमूल कहते हैं, खाने का जैनदर्शन में पूर्णतः निषेध है, क्योंकि जड़मूल के समाप्त हो जाने पर पेड़-पौधे का सर्वनाश अनिवार्य है।

कन्दमूल साधारण वनस्पति होने से उसमें अनन्त जीव भी रहते हैं। इसकारण भी उनके खाने का निषेध है।

आज डॉक्टर भी स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से आलू आदि जमीकंद न खाने की सलाह देते हैं।

(iii) नशाकारक - जो नशा करते हैं, ऐसे मद्यादि पदार्थ नशाकारक अभक्ष्य हैं। मदिरा आदि के पान से अनन्त जीवों का घात तो होता ही है, नशाकारक होने से मदिरा विवेक को नष्ट करती है, बुद्धि में भ्रम पैदा करती है, स्वास्थ्य को खराब करती है और पारिवारिक सुख शान्ति को भी समाप्त कर देती है। अतः माँसाहार के समान ही मदिरापान का निषेध भी वैज्ञानिक ही है।

(iv) अनुपसेव्य एवं अनिष्ट - जो भले पुरुषों के द्वारा खाने योग्य नहीं हो, ऐसे लार, मल, मूत्रादि, अनुपसेव्य अभक्ष्य हैं और जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हों, वे अनिष्ट अभक्ष्य हैं, जैसे - सर्दी-खाँसी वाले व्यक्ति के लिए खट्टी ठंडी वस्तुएँ।

उक्त अभक्ष्यों के वर्गीकरण में जैनाहार की वैज्ञानिकता स्पष्ट है।

7. रात्रि भोजन त्याग

अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए जैन धर्म में रात्रि भोजन त्याग की शिक्षा दी गई है। जैनदर्शन का रात्रि भोजन त्याग का उपदेश प्रकृति के अनुकूल एवं पूर्ण वैज्ञानिक है। जैसे कि माँसाहारी पशु दिन में आराम करते हैं और रात में खाना खोजते हैं, शिकार करते हैं, पर शाकाहारी दिन में खाते हैं और रात में आराम करते हैं। जब शाकाहारी पशुओं के भी सहज ही रात्रि भोजन का त्याग होता है तो फिर मनुष्य का रात्रि में भोजन करना कहाँ तक उचित है?

मनुष्य व शाकाहारी पशु प्रकृति से ही दिवाहारी ही होते हैं। रात्रि भोजन स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानिप्रद ही है। जिसप्रकार चलती हुई कार ही पेट्रोल खाती है, खड़ी हुई नहीं; उसीप्रकार जब आदमी चलता है,

श्रम करता है, तब उसे भोजन चाहिए। जब वह आराम करता है, तब उसे उतना भोजन नहीं चाहिए, जितना कि कार्य के समय। जिसप्रकार हम सबको आराम चाहिए, उसीप्रकार शरीर को भी आराम चाहिए, आँखों को भी आराम चाहिए, आंतों को भी आराम चाहिए। यदि उन्हें पर्याप्त आराम न देंगे तो वे कब तक काम करेंगे? आखिर मशीन को भी तो आराम चाहिए ही। अतः रात्रि भोजन प्रकृति के विरुद्ध ही है।

वर्तमान विज्ञान भी यह बताता है कि सूर्यास्त होने के बाद बहुत से सूक्ष्म जीव उत्पन्न होकर विचरण करने लगते हैं। अतः दिन में ही भोजन करना उचित है।

इस संदर्भ में डॉ. एन.आर. धर का निम्न कथन दृष्टव्य है -

"We can ward off diseases by a judicious of food. Sun light is another effective weapon. Like vitamins, light helps metabolism. Carbohydrates are not burnt without the action of light. In a tropical country like ours the quality of food taken by an average individual is poor, but the abundance of sunlight undoubtedly compensate for this dietary deficiency."¹

हम सात्विक भोजन से बीमारियों से बच सकते हैं। सूर्य का प्रकाश इसमें उपयोगी व प्रभावी है। जैविक क्रियाओं में विटामिनों की भाँति प्रकाश भी आवश्यक है। कार्बोहाइड्रेट्स बिना सूर्य के प्रकाश के नहीं जलते। उष्णकटिबंधीय देशों की भाँति हमारे देश में भी भोजन की गुणवत्ता बहुत निम्न है; परन्तु फिर भी सूर्य के प्रकाश की अधिकता से भोजन में जो पौष्टिकता की कमी है, उसकी पूर्ति हो जाती है।

इस विषय का समर्थन वैद्यक ग्रन्थ भी करते हैं।

आज डॉक्टर भी कहते हैं - सोने के चार घंटे पूर्व भोजन कर लेना चाहिए। जब हम रात में 10-12 बजे खाना खाएँगे तो सोएँगे कब? अतः स्पष्ट है कि जैनधर्म का रात्रि भोजन त्याग का उपदेश प्रकृति के अनुकूल एवं पूर्ण वैज्ञानिक है।

1. Dr. N.R. Dhar, D.Sc. I.E.S.J.H.M. (Nov. 1928) P. 31

8. अनछना जल त्याग

जैनधर्म में पानी छानकर पीने की आज्ञा है, क्योंकि इससे जल के जीवों की प्राण विराधना (हिंसा) नहीं होने पाती।

रात्रि भोजन त्याग के समान पानी छान कर पीना भी विज्ञान सम्मत ही है। पानी की शुद्धता पर जितना आज ध्यान दिया जाता है, उतना कभी नहीं दिया गया। अतः आज का युग तो जैन सिद्धान्तों के पूर्णतः अनुकूल है। स्वस्थ जीवन के लिए स्वच्छ पानी आवश्यक ही है।

चूँकि जैनाहार विज्ञान का मूल आधार अहिंसा है, अतः उसके चिंतन का दृष्टिकोण व शैली अहिंसा प्रधान रही है। इसलिए जिन-जिन आचरण में भावहिंसा व प्राणीघात रूप द्रव्य हिंसा होती है, उन-उन क्रियाओं के निषेधपूर्वक आत्मकल्याण ही जैनदर्शन की विषयवस्तु का मूल ध्येय रहा है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए जैन दर्शन में पानी में विद्यमान सूक्ष्म जीवों की हिंसा से बचने के लिए उपयोग में लाने वाले सभी पानी को छानकर और उबालकर प्रयोग करने की बात कही है, जबकि वैज्ञानिक मात्र मानवों के स्वास्थ्य की दृष्टि से पानी में बैक्टीरिया सिद्ध कर मात्र पीने का पानी ही फिल्टर करने की बात करते हैं।

अस्तु, जो भी हो उक्त उदाहरण से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि पानी में छोटे-छोटे सूक्ष्म जीव होते हैं, जिन्हें वैज्ञानिक बैक्टीरिया कहते हैं, जो कि हमें नंगी आँखों से नजर नहीं आते और यही बात जैनदर्शन में सूक्ष्म जीवों के नाम से सदियों पहिले कह दी गई है।

इस संदर्भ में प्रो. ए. चक्रवर्ती का निम्न कथन दृष्टव्य है -

It is interesting to note that the existence of microscopic organism were also known to Jain Thinkers, who technically call them 'Sukshma Ekendriya Jivas' or minute organism with the sense of touch alon.¹

यह भी रोचक है कि जैन तीर्थंकरों ने सूक्ष्म एकेन्द्रीय जीव या मात्र

1. Jaina Antiquary Vol. IX. P. 5-15

स्पर्शेन्द्रिय वाले जीवों के विषय में बताया था, जो अब अतिसूक्ष्म दर्शक (माइक्रोस्कोप) यंत्र द्वारा जाने गये हैं।

इसीप्रकार जमीकद आलू आदि में सूक्ष्म निगोदिया जीव हैं, जिसे कि यदि आज के तरीके से कोई सिद्ध कर दे तो वह 'जगदीशचंद्र बोस' जैसा वैज्ञानिक बन जाए।

9. जीव विज्ञान, अजीव (पुद्गल) विज्ञान व शरीर विज्ञान

जैनदर्शन के अनुसार जीव चेतन स्वरूप है। जीव को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल अजीव हैं। पुद्गल स्पर्श, रूप, रस, गंध व वर्ण वाला होता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जैनदर्शन में अजीव व पुद्गल में भेद है। यद्यपि सभी पुद्गल अजीव है, किन्तु सभी अजीव पुद्गल नहीं। यहाँ जीव को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों को एक साथ कथन करने के लिए अजीव कहा है। जैसे कि लोक में भी हम कहते हैं कि "अजैनों की अपेक्षा जैन अल्पसंख्यक है - यहाँ यद्यपि अजैन कोई संप्रदाय विशेष नहीं है, न ही कोई अपने को अजैन कहता ही है, फिर भी लोक में व्यवहार है। इसीप्रकार वास्तव में तो अजीव नामक द्रव्य की सत्ता ही लोक में नहीं है। चूँकि जीव द्रव्य कथन करता है, अतः वह अपनी दृष्टि से शेष पाँच पुद्गलादि द्रव्यों को एक शब्द में अजीव नाम से कहता है।

विज्ञान जिसे 'अजीव विज्ञान' कहता है जैनमतानुसार वह वास्तव में 'पुद्गल विज्ञान' है। शरीर भी पुद्गल की ही पर्याय है तथा विज्ञान जिसे 'जीव विज्ञान' कहता है, वास्तव में वह 'शरीर विज्ञान' है। अतः वैज्ञानिकों की जीव की परिभाषा शरीर विज्ञान को ध्यान में रखकर की गई है। वे कहते हैं कि जो प्रजनन, श्वसन, पाचन करे वह जीव है। इस संदर्भ में जैनदर्शन का कहना है कि जिस पुद्गल में जीव रहता है, उसी पुद्गल में उक्त तीनों क्रियाएँ होती हैं। ये तीनों क्रियाएँ जीव रहित पुद्गल में तथा पुद्गल के साथ एक क्षेत्रावगाह संबंध से रहित जीव में नहीं होती हैं।

जैनदर्शन के अनुसार जीव दो प्रकार की अवस्थाओं में पाए जाते हैं - सिद्ध व संसारी।

सिद्ध जीव शरीर रहित होते हैं, अतः उनमें प्रजनन, श्वसन, पाचन क्रियाओं का अभाव होता है।

संसारी जीव शरीर सहित होते हैं, अतः उक्त तीनों क्रियाएँ संसारी जीवों में ही होती है।

जीव के ज्ञानदर्शन ऐसे गुण हैं, जो हीनाधिक मात्रा में प्रत्येक जीव में, प्रत्येक अवस्था में पाए जाते हैं। जो ज्ञान रहित है, वह जीव ही नहीं है। ज्ञान की पूर्ण विकसित पर्याय अरहंत व सिद्ध जीवों में होती है एवं अत्यन्त अविकसित निगोदिया जीवों में। निगोदिया जीव सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हैं, जो कि आँखों से तो देखे ही नहीं जा सकते हैं किन्तु अभी तक वैज्ञानिकों द्वारा विकसित पावरफुल माइक्रोस्कोप की पहुँच से भी दूर हैं। आलू में इसी जाति के जीव होते हैं। इनकी आयु भी बहुत कम होती है।

वैज्ञानिक भी यही बात स्वीकार करते हैं। वैज्ञानिकों ने पहिले पानी में लाखों जीव होते हैं - यह कहा, पश्चात् अधिक पावरफुल माइक्रोस्कोप का आविष्कार होने के पश्चात् उन्होंने पानी में करोड़ों जीव (बेक्टीरिया) स्वीकार किए। पर आलू में पाये जानेवाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव अभी वैज्ञानिकों को पकड़ में नहीं आ पाए हैं।

संसारी जीव इन्द्रियों की अपेक्षा पाँच प्रकार के होते हैं। इन्द्रियाँ कम अधिक होने से उनमें ज्ञान भी हीनाधिक रूप से प्रकट होता है। इसप्रकार जीव के विभिन्न भेद-प्रभेदों का सूक्ष्म व विशद वर्णन जैन ग्रन्थों में मिलता है, जो कि मूलतः पठनीय है। जबकि वैज्ञानिकों ने ऐसा कोई भेद नहीं किया है, वे तो पुद्गल मात्र को ही अजीव कहते हैं तथा आत्मा से संयोग संबंध वाले मात्र पुद्गलमय शरीर को जीव कहते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार पुद्गल दो प्रकार का होता है ह्य परमाणु व स्कंध। जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता - ऐसे सबसे सूक्ष्म पुद्गलांश को परमाणु कहते हैं। अतः परमाणु अविभाज्य हैं।

दो या दो से अधिक परमाणुओं के बंध को स्कंध कहते हैं। एक परमाणु का बंध नहीं होता है। हमें जो नजर आता है, वह अनेक परमाणुओं की बंध रूप अवस्था स्कंध है। विज्ञान में भी कुछ इसीप्रकार की बात की गई है, जैसे - पानी H₂O, नमक NaCl आदि।

आज हजारों मील दूरी से शब्दों को हमारे पास तक पहुँचाने में माध्यम रूप से 'ईथर' नाम के अदृश्य तत्त्वों की वैज्ञानिकों को कल्पना करनी पड़ी; किन्तु जैनाचार्यों ने हजारों वर्ष पहले ही लोकव्यापी 'महास्कन्ध' नामक एक पदार्थ के अस्तित्व को बताया है। इसकी सहायता से भगवान् जिनेन्द्र के जन्मादि की वार्ता क्षणभर में समस्त जगत में फैल जाती थी। यह व्यापक होते हुए भी सूक्ष्म बताया गया है।

जैनदर्शन में शरीर विज्ञान का भी विशद वर्णन है। उनके अनुसार शरीर पाँच प्रकार के होते हैं -

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण।

मनुष्य व तिर्यच के स्थूल शरीर को 'औदारिक शरीर' कहते हैं। इनका शरीर स्थूल होने के कारण दृष्टिगत होता है।

जो छोटी-बड़ी, पृथक्-अपृथक् आदि अनेक क्रियाओं को करे - ऐसे देव व नारकियों के शरीर को 'वैक्रियक शरीर' कहते हैं।

आहारक ऋद्धिधारी छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि को तत्त्वों के संबंध में शंका होने पर अथवा जिनालय आदि की वंदना करने के लिए उनके मस्तक से एक हाथ प्रमाण स्वच्छ, सफेद सप्तधातु रहित पुस्पाकार जो पुतला निकलता है, उसे 'आहारक शरीर' कहते हैं।

औदारिक, वैक्रियक और आहारक - इन तीन शरीरों में कान्ति उत्पन्न करने वाले शरीर को 'तैजस शरीर' कहते हैं।

आठ कर्मों के समूह को 'कार्माण शरीर' कहते हैं।

तैजस व कार्माण शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं।

एक जीव के एक साथ कम से कम दो और अधिक से अधिक चार

शरीर हो सकते हैं। किन जीवों में कौन-कौन से शरीर होते हैं - आदि का वर्णन जैन ग्रन्थों में विस्तार से मिलता है जो कि मूलतः पठनीय है।

10. आधुनिक विज्ञान

आधुनिक विज्ञान भी जैनदर्शन में प्रतिपादित सिद्धान्तों, तथ्यों की ही पुष्टि करते हैं। इस संदर्भ में डॉ. ओ. परटोल्ट का निम्न कथन दृष्टव्य है -

"The theory of the infinite numbers, as it is dealt with the Lok Prakasa and which corresponds with the most modern mathematical theories and the theory of identity of time and space, is one of the problems which are now most discussed by the scientists owing to Einstein's theory, and which are already solved or prepared solution in Jaina Metaphysis."¹

आज की एक वैज्ञानिक समस्या जो काल एवं अंतरिक्ष की गणना में आधुनिक गणित द्वारा उपयोग की जा रही है। जैन दर्शन में अनन्त की गणना से सांसारिक वस्तुओं के समझने में की गई है। आइन्सटीन की अवधारणा पर आज के वैज्ञानिकों द्वारा की जा रही परिचर्चा को उससे भलीभाँति समझा जा सकता है।

आज के वैज्ञानिक जिन चीजों की कल्पना करते हैं, वे ही बातें पूर्व काल में पूर्ण विकसित थीं। बस नामों का ही अंतर है। जिसे जैन पुराणों में विमान कहा गया है, वही आज के एरोप्लेन हैं। आज के प्लेन तो पायलट से चलते हैं पर जैनशास्त्रों में उल्लिखित विमान तो इच्छा से भी कंट्रोल किए जा सकते थे। रावण के पास पुष्पक नाम का ऐसा ही विमान था। बिना ड्राईवर की कार आज तो आश्चर्य का विषय है, पर वह पहिले हुआ करती थी। ग्लाइडर भी विद्यमान था। रावण ने सीता को बचानेवाले जटायु का ग्लाइडर ही तो नष्ट कर दिया था, अतः वह उड़ने में असमर्थ हो नीचे जंगल में आ गिरा था।

उस समय युद्ध में प्रयोग में आनेवाले हथियारों का भी आज से अधिक विकास था। आज की मिसाइल व पुराणों में उल्लिखित बाण

एक प्रकार का ही कार्य करते हैं। जिसप्रकार मिसाइल की भी काट आज विद्यमान है, उसीप्रकार बाणों की भी काट उससमय विद्यमान थी। बस नामों का ही अन्तर है, उससमय नाम ही भाव को स्पष्ट करते हुए सार्थक हुआ करते थे। जैसे - अग्निबाण अग्नि प्रज्वलित करता था, तो उसकी काट मेघबाण था जो कि पानी की वर्षा कर अग्नि को शांत कर देता था, अंधकार बाण अंधेरा कर देता था तो उसे दूर करने के लिए प्रकाशबाण भी था तथा साँप बाण द्वारा बंधन को प्राप्त हुए व्यक्ति को मयूरबाण द्वारा छुड़ाया जाता था, तो सर्पबाण से व्यथित व्यक्ति को गरुड़बाण द्वारा।

इसीप्रकार डायनासौर जैसे विशालकाय प्राणी की सत्ता तो वैज्ञानिक आज स्वीकार करते हैं; किन्तु जैन शास्त्रों में तो वर्षों पूर्व कह दिया गया है कि काल के आरंभ में न केवल जानवरों की अपितु मानवों सहित समस्त जीव-जन्तुओं की लंबाई-चौड़ाई व आयु सभी बहुत अधिक रहेगी, जो कि क्रमशः क्षीण होती जाएगी। किस काल में अधिकतम शरीर की ऊँचाई क्या रहेगी, आयु अधिकतम क्या होगी - आदि का उल्लेख जैन शास्त्रों में विस्तार से मिलता है - जो मूलतः पठनीय है।

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि जैनदर्शन के विज्ञान के आगे आधुनिक विज्ञान का चिंतन अभी शैशवावस्था में है। ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण जैनदर्शन में मिल जाएंगे। जैसे जैनदर्शन में वनस्पति (पेड़-पौधे) के समान ही पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को भी एकेन्द्रिय जीव कहा है; जबकि वैज्ञानिक अभी मात्र पेड़-पौधों में ही जीव सिद्ध कर पाए हैं।

ये कुछ नमूने उदाहरण के तौर पर मैंने प्रस्तुत किए हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसी सैकड़ों बातों का उल्लेख जैनदर्शन में किया गया है। आधुनिक विज्ञान तो उसका पासंग मात्र भी नहीं है।

जैनदर्शन में वर्णित भौतिक जगत के वर्णन के संबंध में श्री सी.एस. मल्लिनाथन का निम्न कथन दृष्टव्य है -

"The Jaina works have dealt with matter, its qualities and functions on an elaborate scale. A student of Science, if reads the Jaina treatment of matter, will surprised to find many corresponding ideas. The indestructibility of matter, the conception of atoms and molecules and the view the heat, lights and shade sound etc, are modifications of matter, are some of the nations that are common to the Jainism and Science."¹

भौतिक जगत के गुण और कार्यविधियों को जैन जगत में बहुत गहरे एवं सूक्ष्मरूप से वर्णित किया है। यह आश्चर्यजनक है कि आज की भौतिक, वैज्ञानिक शोधों से जैनाचार्यों द्वारा जगत के पदार्थों के स्वरूप के बारे में जानकारी की ही पुष्टि होती है। अणु-परमाणु और उनके सत् स्वरूप (कभी भी नष्ट न होने वाले गुण), अविनाशीगुण, अग्नि, प्रकाश, छाया व ध्वनि के पुद्गलपरावर्तन या होने के विचार को आधुनिक विज्ञान एवं जैनदर्शन ने ज्यों का त्यों ही माना है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आज वैज्ञानिकों ने यद्यपि वे ही बातें कही हैं, जो कि वर्षों पहिले से ही जैनशास्त्रों में वर्णित हैं; तथापि अंतर यह है कि उनके कहने का तौर तरीका अलग है। अतः आज आवश्यकता आधुनिक ढंग से प्रस्तुतीकरण एवं प्रचार-प्रसार की है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञान ने जो अविष्कार किए हैं, उनका उल्लेख तो जैन ग्रन्थों में मिलता ही है, किन्तु ऐसे अनेक विषय और भी हैं, जिन तक अभी विज्ञान नहीं पहुँच सका है।

वर्तमान विज्ञान अभी प्रगतिशील अवस्था में है। यूरोपियन विद्वानों ने बहुत ठीक कहा है - 'कि आधुनिक विज्ञान जैसे-जैसे आगे बढ़ता जायेगा, वैसे वैसे जैन तत्त्वों की समीचीनता प्रकाश में आती जायेगी।'²

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म में आचार, विचार, वचन एवं व्यवहार - सभी में सम्पूर्ण रूप में विज्ञान समाया हुआ है। जैनदर्शन के

1. C.S. Mallinathan : Sarvatha Sidahi (Intro) P. XVII.

2. सरल जैनधर्म (वीर सेवा मन्दिर) पृ. 117-121

समस्त सिद्धान्तों में वैज्ञानिक कला व कलात्मक विज्ञान के दर्शन पग-पग पर होते हैं।

इतना सब कुछ होने पर भी जैनदर्शन का विज्ञान तो वीतराग-विज्ञान ही है; क्योंकि जैनाचार्यों की दृष्टि में तो वीतराग-विज्ञान प्राप्ति का साधन भूत आत्मज्ञान ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आत्मा के ज्ञान के अलावा शेष लौकिक ज्ञान को तो वे ज्ञान की श्रेणी में नहीं रखते, उसे तो वे अज्ञान कहते हैं। इसी भाव को व्यक्त करते हुए डॉ. भारिल्ल ने कहा है -

आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।
विश्वशान्ति का मूल है, वीतराग विज्ञान।।

धर्म विज्ञान का विरोधी नहीं, किन्तु मार्गदर्शक है। धर्म के मार्गदर्शन में चलने वाले विज्ञान का विकास विनाश नहीं, निर्माण करेगा। घोड़ा और घुड़सवार एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, पूरक हैं; घुड़दौड़ में दौड़ेगा तो घोड़ा ही जीतेगा भी घोड़ा ही, पर घुड़सवार के मार्गदर्शन बिना घोड़े का जीतना संभव नहीं। दौड़ना तो घोड़े को ही है, पर कहाँ दौड़ना, कब दौड़ना, कैसे दौड़ना? - इस सबका निर्णय घोड़ा नहीं, घुड़सवार करेगा। योग्य घुड़सवार के बिना घोड़ा उपद्रव ही करेगा, महावत के बिना हाथी विनाश ही करेगा, निर्माण नहीं। जिसप्रकार घोड़े को घुड़सवार और हाथी को महावत के मार्गदर्शन की आवश्यकता है, उसीप्रकार विज्ञान को धर्म के मार्गदर्शन की आवश्यकता है। किन्तु दुर्भाग्य से आज धर्म को अपनी उपयोगिता और आवश्यकता की सिद्धि के लिए विज्ञान का सहारा लेना पड़ रहा है।

जो कुछ भी हो, यदि हमें सुख और शान्ति चाहिए तो धर्म को अपने जीवन का अंग बनाना ही होगा।

- आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-26-27

सप्तम अध्याय

उपसंहार

विश्व अनादि अनन्त है, इसे न तो किसी ने बनाया है, न ही कोई इसका विनाश कर सकता है, यह स्वयंसिद्ध है। विश्व का कभी भी सर्वथा नाश नहीं होता है, मात्र परिवर्तन होता है, वह परिवर्तन भी कभी-कभी नहीं, निरन्तर हुआ करता है। इसप्रकार जैनमतानुसार यह जगत् परिवर्तनशील होकर भी नित्य है और नित्य होकर भी परिवर्तनशील है, अतः विश्व नित्यानित्यात्मक है। नित्यता के समान अनित्यता भी वस्तु का स्वरूप है, परिवर्तन भी उसका स्वभावगत धर्म है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु 'सत्' स्वरूप है। जैसा कि पहिले सिद्ध कर आए हैं कि सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। वस्तु में उत्पाद व व्यय परिवर्तनशीलता दर्शाते हैं और ध्रौव्य नित्यता को।

अतः नित्यानित्यात्मक द्रव्यों का समूह विश्व भी स्वतः नित्यानित्यात्मक सिद्ध होने से अनादि-अनन्त सिद्ध होता है।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, वह अपने परिणमन का कर्ता-हर्ता स्वयं है, उसके परिणमन में पर का हस्तक्षेप रंचमात्र भी नहीं है। इसप्रकार विश्व की अनादि अनन्तता को बताने वाला जैनधर्म भी अनादि-अनन्त है। कोई उसका प्रवर्तक नहीं है। तीर्थंकर भगवान आदिनाथ से लेकर तीर्थंकर भगवान महावीर ने जो कुछ कहा है वह सदा से है, सनातन है।

वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। वस्तु का स्वभाव बनाया नहीं जा सकता। जो बनाया जा सके वह स्वभाव कैसा? वह तो जाना जाता है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है वही उसका धर्म है अथवा शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार जो धारण करता है अथवा जिसके द्वारा धारण किया जाता है

वह धर्म है। प्रत्येक वस्तु को उसका स्वभाव ही धारण करता है अथवा प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव को ही धारण करती है, अतः वह स्वभाव ही उस वस्तु का धर्म है। जैसे - उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य समस्त वस्तुओं का सामान्य धर्म है, अतः यह सभी द्रव्यों में पाया जाता है वैसे ही प्रत्येक द्रव्य के विशेष धर्म भी हैं जो भिन्न-भिन्न हैं, जैसे - ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड ही आत्मा है, वे गुण ही आत्मा को धारण करते हैं, अथवा आत्मा ही उन्हें धारण करता है, अतः वे ही आत्मा के धर्म हैं। इसीप्रकार स्पर्श, रसादि पुद्गल के गुण हैं, वे ही उसे धारण करते हैं अथवा पुद्गल ही उन्हें धारण करता है, अतः वे ही पुद्गल के धर्म हैं।

ऐसे स्वभावरूप धर्म का जैन तीर्थकरों ने उद्घाटन किया है, स्थापना नहीं। उन्होंने वस्तु स्वरूप को जाना है, बताया है, बनाया नहीं।

जैनदर्शन में जनकल्याण की अपेक्षा आत्मकल्याण पर ही विशेष बल दिया गया है। उनके अनुसार जनकल्याण करनेवाला भक्त बन सकता है भगवान नहीं; किन्तु जो आत्मकल्याण करता है, वह भगवान बनता है। भगवान बनने की प्रक्रिया में जनकल्याण सहज ही होता है, पर वह जैन मतानुयायियों का लक्ष्य नहीं, ध्येय नहीं। जैन मतानुयायियों का लक्ष्य ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना भी नहीं है, वे ईश्वर के भक्त नहीं; भगवान बनना चाहते हैं, जिन बनना चाहते हैं।

जैनधर्म वीतरागी विज्ञान है व वैज्ञानिक कला है। अतः जैनधर्म विज्ञान भी है और कला भी है।

यह ऐसा विज्ञान है जो वीतरागता कैसे प्राप्त हो? यह बताता है।

व्यवस्थित ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। किसी भी विषय की सिस्टैमैटिक (व्यवस्थित) स्टडी करना विज्ञान है। विज्ञान शोध-खोज का नाम है।

विज्ञान के लिए नित्य नया चाहिए। जैनदर्शन आत्मा की खोज का विज्ञान है। इसमें किसी दूसरे की खोज नहीं की जाती है। खुद अपनी आत्मा की खोज की जाती है।

किसी चीज को बार-बार दोहराना कला है। कला रिपीटीशन का नाम है। कला में प्रेक्टिस की जरूरत है। जैसे चित्रकला। **जैनधर्म भी आत्मा को प्राप्त करने की कला है।**

जैनदर्शन में मुख्य तीन बातें बताई हैं ह्व सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र।¹

आत्मा को जानना, आत्मा को जानकर यह मैं ही हूँहूँ ऐसा मानना, ऐसा पक्का विश्वास होना सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान है। ह्व यह आत्मा की खोज के बिना संभव नहीं। अतः **सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान विज्ञान है।**

निरन्तर पर पदार्थों से दृष्टि हटाकर आत्मा का ध्यान करना, प्रेक्टिस का काम है, वह एक कला है। अतः **सम्यक्चारित्र कला है।**

जैनदर्शन का विज्ञान 'वीतराग विज्ञान' है। उसमें आत्मा की ही शोध-खोज की जाती है, अतः वह आध्यात्मिक विज्ञान है।

विज्ञानपूर्वक कला ही उपयोगी है तथा वही विज्ञान काम का है जो कला के रूप में कभी न कभी उपयोग में आये, काम में आये। इसतरह जैनदर्शन विज्ञान भी है और कला भी है। आधुनिक गणमान्य विद्वानों के निम्न कथनों से भी जैनदर्शन की वैज्ञानिकता सिद्ध होती है।

जैन दर्शन में वर्णित ध्वनि सिद्धान्त के बारे में प्रो. ए. चक्रवर्ती का निम्न कथन दृष्टव्य है ह्व

"The Jaina account of sound is a physical concept. All other Indian systems of thoughts spoke of sound as a quality of space, but Jainism explains sound in relation with material particles as a result of concussion of atmospheric molecules. To prove this scientific thesis the Jain thinkers employed arguments which are now generally found in the text book thesis the Jain thinkers employed arguments which are now generally found in the text book of physics."²

जैनो ने ध्वनि को एक भौतिक (पुद्गल पर्याय) परिवर्तन की अवधारणा कहा। अन्य भारतीय विचारकों ने ध्वनि को आकाशीय गुण निरूपित किया, जबकि जैन मतानुसार ध्वनि वायुमंडल में उपस्थित अणुओं (पुद्गल

1. इनका वर्णन अध्याय 3 में विस्तार से कर चुके हैं।

2. Prof. A Chakravarti : Jaina Antiquary. Vol. IX P. 5-15

परमाणु) में विशेष प्रकार के कंपन से पैदा होते हैं। इसे प्रमाणित करने के लिए जैन तीर्थंकरों ने जो तर्क दिये थे वह आज भौतिक विज्ञान की पुस्तकों में सामान्यरूप से मिलते हैं।

जैन दर्शन में पेड़-पौधों को एकेन्द्रिय जीव कहा गया है, जबकि सारी दुनियाँ के वैज्ञानिक जगदीशचंद्र वसु की शोध के पूर्व यह मानने को कतई तैयार नहीं थे। इस संदर्भ में प्रो. ए. चक्रवर्ती का निम्न कथन दृष्टव्य है :-

"Turning to Biology, the Jain Thinkers were acquainted with many important truths that the plant world is also a living kingdom, which was derided by the scientists prior to the researches of Dr. J.C. Bose."¹

गणमान्य विद्वानों के उक्त कथनों से स्पष्ट है कि आधुनिक विज्ञान जैन दर्शन के सिद्धान्तों को ही पुष्ट करता है। आधुनिक विज्ञान में जिन नियमों को, सिद्धान्तों को नई शोध-खोज कहा जा रहा है, उनका उल्लेख जैन ग्रन्थों में मिलता ही है साथ ही साथ जैन ग्रन्थों में कुछ ऐसे तथ्य भी बताए गए हैं, जिन तक आधुनिक विज्ञान अभी नहीं पहुँच सका है। अतः हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन का विज्ञान आधुनिक विज्ञान से भी अधिक विकसित है।

जैनदर्शन में निषेधात्मक (नेगेटिव) दृष्टि की अपेक्षा विधायक (पोजेटिव) दृष्टि की ओर विशेष बल दिया गया है। उनका कहना है कि आत्मा का ध्यान करो बाह्य प्रवृत्ति अपने-आप छूटेगी। आंतरिक शुद्धि के बिना किया गया त्याग वस्तुतः त्याग ही नहीं है। अन्तरोन्मुखी होने पर त्याग सहज होगा, अतः जैनदर्शन में आत्मध्यान की, भावशुद्धि की ही प्रधानता है।

जैनदर्शन में देहदण्डन ही तप-त्याग व अध्यात्म के प्रतीक नहीं है, शरीर की माँगों को ठुकराना ही जीवन लक्ष्य नहीं है। जैनदर्शन में शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी यथोचित एक व्यवस्थित विधान है। जैन मान्यता में तो इच्छा निरोध पर ही विशेष बल है। इच्छाओं के निरोध को तप कहा गया है। अतः जैनदर्शन का आचार, विचार व्यवहार - सभी

की व्यवस्था शारीरिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए तथा इच्छा दमन में सहयोगी विशेष प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर की गई है, जैसे - रस परित्याग, चूँकि शरीर धर्म का साधन है, अतः धर्मसाधन में साधक चीजों का उपयोग और बाधक चीजों के त्याग का विधान जैनदर्शन में है, जैसे - गरिष्ठ भोजन-त्याग।

संक्षेप में कहें तो व्यावहारिक जीवन को पवित्र, सच्चरित्र एवं सुखी बनाने के लिए जैनधर्म में पाँच महाव्रत और पाँच अणुव्रत के महान् आदर्श लोक के सामने रखे हैं।

इन आदर्शों को पूर्णरूप से जीवन में उतारने वाले साधु और शक्ति व योग्यतानुसार धारण करनेवाले श्रावक कहलाते हैं। शक्ति व योग्यता की विविधता को लक्ष्य में रखकर श्रावकों के द्वारा किए जानेवाले त्याग को ग्यारह स्तरों में विभाजित किया है, जिन्हें प्रतिमाएँ कहा जाता है। जिनके पालन से श्रावक भोगों का पूर्ण त्यागी न होकर मर्यादित जीवन जीता है तथा पूर्ण त्यागी बनने का अभ्यास करता है। वर्तमान कमजोरी के कारण जो व्यक्ति भोगों का पूर्ण त्याग कर महाव्रत धारण नहीं कर सकता उसके लिए मर्यादित भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का विधान ही देशव्रतों में किया गया है। इसप्रकार जैनदर्शन में भूमिकानुसार आचरण का ही विधान है।

जैन आचरण छुआछूत मूलक न होकर अहिंसामूलक है। पानी छानकर काम में लेना, रात्रि भोजन नहीं करना, मद्य, माँस, मधु आदि का सेवन नहीं करना आदि समस्त आचरण विधान अहिंसा को लक्ष्य में रखकर ही किए गए हैं।

जैनधर्म में तो प्रमाद के कारण होने वाले पाँचों पापों को हिंसा में गर्भित कर अहिंसा को 'परम धर्म' कहा गया है।

जैन भगवान सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान हैं पर ईश्वर के समान कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं हैं; क्योंकि वे वीतरागी हैं, राग-द्वेष रहित हैं। कुछ करने का भाव राग या द्वेषवश होता है, जिसका जैन भगवानों में सर्वथा अभाव

है, अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान होने पर भी वे अकर्ता हैं। जैन ईश्वर (भगवान) जगत् का कर्ता-हर्ता-धर्ता नहीं है। इसीलिए भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन को 'अनीश्वरवादी दर्शन' कहा गया है।

कर्तावाद के निषेध से जैनियों का तात्पर्य मात्र इतना ही नहीं है कि कोई शक्तिमान ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है, अपितु यह भी है कि कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं है। उनके अनुसार किसी एक महान् शक्ति को समस्त जगत् का कर्ता-हर्ता मानना 'एक कर्तावाद' है तो परस्पर एकद्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता-हर्ता मानना 'अनेक कर्तावाद' है। उनका कहना है कि विश्व का प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र है, वह अपने परिणामन का कर्ता-हर्ता स्वयं है, उसके परिणामन में पर का हस्तक्षेप रंचमात्र भी नहीं है।

यद्यपि द्रव्यदृष्टि से यह जगत् नित्य है, तथापि पर्यायदृष्टि से परिणामनशील भी है। जगत् में कोई प्रच्छन्न ईश्वरीय शक्ति ऐसी नहीं है कि जो उस परिणामन की नियामक हो, फिर भी वह परिणामन अव्यवस्थित नहीं है। व्यवस्था है, पर व्यवस्थापक नहीं। नियम हैं, पर नियन्ता नहीं। अपने-अपने परिणामन का नियामक प्रत्येक द्रव्य स्वतः ही है।

इसप्रकार जैनदर्शन में कर्तावाद का स्पष्ट निषेध किया गया है। संक्षेप में कहें तो जैनदर्शन में वस्तुस्वातन्त्र्य को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनके ग्रन्थों में जन-जन की स्वतंत्रता की ही घोषणा नहीं हुई, अपितु कण-कण की स्वतंत्रता का घोषणा हुआ है।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव का बंधन व मुक्ति - दोनों ही स्वयं उसके कारण ही है, कोई दूसरा उसमें कुछ भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता। कोई सर्वशक्तिमान सत्ता भी व्यक्ति को सुख-दुःख नहीं दे सकती। जीव स्वयं के अज्ञान से दुःखी है और स्वयं के पुरुषार्थ से ही सुखी हो सकता है। अतः दुःख भी व्यक्ति के स्वयंकृत कर्मों का ही फल है और सुख भी उसे स्वयं ही प्राप्त करना है, अन्य कोई उसे न दुःख दे सकता है न सुख। भूल भी जीव को दूसरे की नहीं अपनी ही सुधारनी है, भक्ति भी दूसरे की नहीं

अपनी ही करनी है, ध्यान भी अन्य का नहीं अपना ही करना है।

इसप्रकार जैनदर्शन भक्त नहीं भगवान बनने की प्रेरणा देता है, दास नहीं स्वामी बनने की भावना पैदा करता है। पराधीनता नहीं स्वाधीनता की चर्चा करता है।

जैनदर्शन पुरुषार्थ प्रधान दर्शन है। जैनदर्शन में बाह्य कर्मकाण्ड को अनावश्यक मानकर सदाचार व चित्तशुद्धि पर अधिक बल दिया गया है। यदि बाह्य क्रियाकाण्ड में प्रवृत्ति का निषेध निवर्तक दर्शन की पहिचान है तो जैनदर्शन 'निवर्तक दर्शन' है। किन्तु वस्तुतः जैनदर्शन निवृत्ति प्रधान नहीं प्रवृत्ति प्रधान ही है; क्योंकि जैनदर्शन में छोड़ने की अपेक्षा 'करने' की प्रधानता है, उनके अनुसार प्रवृत्ति पर ध्यान देंगे तो निवृत्ति स्वतः होगी, अतः जैनदर्शन आत्मध्यान की प्रेरणा देता है। आत्मध्यान करेंगे तो बाह्य क्रियाएँ स्वतः छूटेंगी ही।

जैनदर्शन जीव विशेष की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हुए प्रत्येक जीव की स्वतंत्र सत्ता का उद्घोष करता है। उनके मतानुसार प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा बनने की सामर्थ्य है। जैनमत में परमात्मपद किसी व्यक्ति विशेष (ईश्वर) को सुरक्षित नहीं है। कोई भी आत्मा जिनागम में बताए गए मुक्तिमार्ग पर चलकर परमात्मपद प्राप्त कर सकता है, परमात्मा बन सकता है।

संक्षेप में कहें तो जैनधर्म आत्मा को परमात्मा के रूप में विकसित करने की एक कला है, परमात्मदशा की प्राप्ति ही जैनसाधना का एकमात्र साध्य है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जैनदर्शन में प्राणी मात्र के उदय की चर्चा है, सर्वोदय की चर्चा है। इस संदर्भ में डॉ. भारिल्ल के निम्न विचार दृष्टव्य हैं "सर्वोदय कहते ही उसे हैं जिसमें सबको उन्नति के समान अवसर प्राप्त हों, प्रत्येक व्यक्ति सर्वोच्च पद प्राप्त कर सकें, सबको पूर्ण सुखी और ज्ञानी होने का पूर्ण अधिकार है। इस अर्थ में जिनसिद्धान्त वास्तविक रूप में 'सर्वोदय' के प्रतिपादक हैं; क्योंकि जैनदर्शन में प्राणीमात्र के उदय की चर्चा

है; वह न केवल पतित को पावन बनाने का मार्ग ही बताता है, अपितु उसमें तो पशु से परमात्मा बनने का मार्ग बताया गया है।

प्रत्येक जीव की स्वतंत्रता के साथ-साथ जिनवाणी में समानता को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सर्वजीव समभाव जैसा जिनागम में प्रतिपादित है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है, क्योंकि समानता ही सर्वोदय का मूल सूत्रधार है'¹ जिसकी चर्चा जिनागम में स्थान-स्थान पर की गई है।

समस्त जिनागम में कहे गए उपदेशों का संक्षिप्त सार इसप्रकार है -

1. सब आत्माएँ समान हैं, कोई छोटा-बड़ा नहीं।
2. प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, कोई किसी के आधीन नहीं।
3. आत्मा ही नहीं प्रत्येक पदार्थ स्वयं परिणमनशील है। उसके परिणमन में पर-पदार्थ का कोई हस्तक्षेप नहीं है।
4. भगवान जगत् का कर्ता-हर्ता नहीं। वह तो जगत् का मात्र ज्ञाता-दृष्टा होता है।
5. सब जीव अपनी भूल से ही दुःखी हैं और स्वयं अपनी भूल-सुधार कर सुखी हो सकते हैं।
6. अपने को नहीं पहिचानना ही सबसे बड़ी भूल है तथा अपना सही स्वरूप समझना ही अपनी भूल सुधारना है।
7. प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञान और सुखमय है। सुख कहीं बाहर से नहीं आता है।
8. भगवान कोई अलग नहीं होते। यदि सही दिशा में पुरुषार्थ करे तो प्रत्येक जीव भगवान बन सकता है।
9. जो समस्त जगत् को मानकर उससे पूर्ण अलिप्त वीतराग रह सके अथवा पूर्णरूपेण अप्रभावित रहकर जान सके, वही भगवान है।
10. स्वयं को जानो, स्वयं को पहिचानो और स्वयं में समा जावो; भगवान बन जावोगे यही मुक्ति का मार्ग है, यही रत्नत्रय है।

1. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ; पृ. 96

